साहिती

बौद्ध-मिश्रित-संस्कृत-साहित्य-विशेषाङ्कः

बौद्धमिश्रितसंस्कृतसाहित्यस्य वैश्विकः सन्देशः

(Universal Message of Buddhist Hybrid Sanskrit Literature)



साहित्य-विभागः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः

देवप्रयागः, पौडी-गढवालः (उत्तराखण्डः)

बौद्ध-मिश्रित-संस्कृत-साहित्य-विशेषाङ्कः

बौद्धमिश्रितसंस्कृतसाहित्यस्य वैश्विकः सन्देशः

(Universal Message of Buddhist Hybrid Sanskrit Literature)

प्रधान-सम्पादकः

के.बी. सुब्बरायुडुः

सम्पादकः

प्रफुल्लगडपालः

साहित्य-विभागः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः

देवप्रयागः, पौडी-गढवालः (उत्तराखण्डः)

प्रकाशकः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः

देवप्रयागः, पौडी-गढवालः (उत्तराखण्डः)

ISBN: 978-81-936460-0-7

प्रकाशन-संवत्सरः
2018

संस्करणम्
प्रथमम्, 2018

मूल्यम् : 320.00 रुप्यकाणि

मुद्रकः
डी.वी. प्रिन्टर्स
97, यू.बी., जवाहर नगर, दिल्ली110 007
मो.:98182 79798, 99902 79798

समर्पणम्



(9 April 1893 14 April 1963)

आधुनिकयुगेऽस्मिन् बौद्धसंस्कृतसाहित्यस्य संवर्धकं, समुन्नायकं,
नैकदुर्लभपाण्डुलिपिनामन्वेषकं, ससंघर्षं ताः भारतवर्षे आनयितारं,
तासां चोद्धारकम्, अनुसन्धानकर्तारं,
महान्तमनुवादकं, व्याख्याकारं, साहित्यसर्जकं

महापण्डित-राहुल-सांकृत्यायन

इत्येतं महानुभावं तस्य शतकोत्तररजतजयन्तीवर्षे (125 तमे जयन्तीवर्षे)
कृतज्ञाः वयं सादरं स्मरामः
तथा
तस्मै महते वाग्मिने
एतां कृतिं समर्पयामः।

पुरोवाक्

श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः अधुना तृतीये वर्षे शनैः शनैः सर्वेष्वपि सारस्वतोपक्रमेषु गतिमानो दृश्यते। तत्क्रमे परिसरेण गतवर्षे परिसरीयाणां सर्वेषां विभागानां शोधसङ्गोष्ठ्यः समायोजिताः। अस्मिन् क्रमे साहित्यविभागः 04-05 फरवरी, 2018 इत्यस्मिन् अवधौ एकाम् अन्ताराष्ट्रियां सङ्गोष्ठीं (International Seminar) समायोजयत्। 'बौद्धमिश्रितसंस्कृतसाहित्यस्य वैश्विकः सन्देशः' (Universal Message of Buddhist Hybrid Sanskrit Literature) इत्यस्मिन् विषये च सा सङ्गोष्ठी परिसरे आयोजिता अभवत्। अस्यां चान्ताराष्ट्रियायां सङ्गोष्ठ्यां देशस्य नैकेभ्यो विश्वविद्यालयेभ्यो नगरेभ्यश्च बहवः सुरभारतीसमुपासकाः परिसरे समुपस्थाय स्वीयानि अनुसन्धानयुतानि शोधपत्राणि प्रस्तुतवन्तः। अवसरेऽस्मिन् दिल्लीविश्वविद्यालयस्य बौद्धाध्ययनविभागप्रमुखस्य प्रो. के.टी.एस.सराओ-वर्यस्य 'बौद्ध-मिश्रित-संस्कृत-साहित्ये अनुवाद-अनुसन्धानयोः सम्भावनाः' (Scopes of Research and Translation in Buddhist Hybrid Sanskrit Literature) इत्यस्मिन् विषये विशिष्टव्याख्यानमपि अभवत्। अस्यां सङ्गोष्ठ्यां पञ्च सत्रेषु प्रायेण पञ्चाशत् शोधपत्राणि प्रस्तुतानि अभवन्।

अधुना इदं सूचयन्तः महान्तं हर्षप्रकर्षमनुभवामः यत्तान्येव शोधपत्राण्यधुना ग्रन्थाकाररूपेण 'बौद्ध-मिश्रित-संस्कृत-साहित्य-विशेषाङ्क'-त्वेन प्राकाश्यं यान्तीति। अस्य च ग्रन्थस्य शीर्षको वर्तते– 'बौद्धमिश्रितसंस्कृतसाहित्यस्य वैश्विकः सन्देशः' (Universal Message of Buddhist Hybrid Sanskrit Literature) इति। अस्मिन् ग्रन्थे सङ्गोष्ठ्यां प्रस्तुतानि शोधपत्राणि तु प्रकाश्यन्ते एव; किन्तु अग्रलेखत्वेन राहुलसांकृत्यायन-भदन्तआनन्दकोसल्यायनसदृशानां महतां विदुषाम् आलेखाः अपि सबहुमानं प्रकाश्यन्ते। परिशिष्टेऽपि विषयसम्बद्धा महत्त्वपूर्णा सामग्री प्रकाश्यते। अनेन चास्मिन् बौद्धमिश्रितसंस्कृतसाहित्यविषये बौद्धसंस्कृतसाहित्यपरम्पराक्षेत्रे वा कार्यं कुर्वतां शोधार्थिनां विदुषां वा कृते अस्य ग्रन्थस्य शोधसामग्रीजातमुपकारकं भविष्यतीति नास्ति सन्देहलेशोऽपि। अनेन च अस्मिन् बौद्धसंस्कृतसाहित्यविषयेऽपि कार्यं कर्तुं साहित्यिकाः प्रेरिताः भविष्यन्तीति, येन च इदं नूनमस्माकं देशस्य उपकाराय एव भविष्यति।

परिसरस्य प्रमुखेषु शैक्षणिकगतिविधिषु शोधसङ्गोष्ठीप्रकाशनान्यपि उल्लेखमर्हन्ति। साहित्यप्राध्यापकः डा. प्रफुल्लगडपालः प्राक्शास्त्रितो विद्यावारिधि(पीएच.डी.)-उपाध्यर्थं न केवलं पारम्परिकशिक्षणक्षेत्रे अनुसन्धानक्षेत्रे च सक्रियो वर्तते; अपितु आधुनिकशोध-प्रकाशनादिकर्मस्वपि स्वकीयं योगदानं सुनिश्चितीकुर्वन् वर्तते। विशेषरूपेण संस्कृतसाहित्येन सह अस्य बौद्धसंस्कृतसाहित्ये पालिसाहित्ये च विशिष्टा रुचिः गतिश्च वर्तते। अस्मिन् च क्षेत्रे अस्य योगदानं श्लाघनीयं वर्तते। साम्प्रतं 'साहिती'-पत्रिका-प्रकाशनशृंखलायाम् अस्य ग्रन्थस्य प्रकाशनावसरे एतं साधुवादैः सभाजयामि। एवमेवास्य ग्रन्थस्य कृते शोधपत्राणि प्रेषितवद्भ्यः सर्वेभ्यः विद्वद्भ्यः शुभकामनाः प्रयच्छन् विरमामि विस्तरादिति शम्।

के.बी. सुब्बरायुडु

(प्रो. के.बी. सुब्बरायुडुः)

प्राचार्यः

सम्पादकीय

भगवान् बुद्ध सम्पूर्ण विश्व के लिए अत्यन्त महनीय और समादरणीय विभूति है। सम्बोधि-प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण तक अपने जीवन-काल के 45 वर्ष धम्मोपदेश की अमृतमयी वाणी से वे लगातार लोक-कल्याण करते रहे। सम्बोधि के पश्चात् प्रथम उदान वाणी (पठम-बुद्धवचन/पठमा वाचा) से लेकर अन्तिम वचनों (पच्छिम-बुद्धवचन/पच्छिमा वाचा) सहित इस मध्य के जीवनकाल में कही गई वाणी (मज्झिम-बुद्धवचन/मज्झिमा वाचा) को मिलाकर भगवान् तथागत बुद्ध ने पूरे जीवन केवल लोक-मंगल ही लोक-मंगल किया। इसके पूर्व भवों में भी वे बोधिसत्त्व के आदर्श के अनुसार लोक-कल्याण में रत रहकर पारमिताएँ पूर्ण करते रहे। बुद्ध के रूप में महापरिनिर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् भी सुरक्षित धम्म-वाणी से आज भी लोक का मार्गदर्शन कर रहे हैं। उनके द्वारा बताये गये परियत्ति (पर्याप्ति), पटिपत्ति (प्रतिपत्ति) एवं पटिवेधन (प्रतिवेध) के मार्ग से अनगिनत प्राणियों का मंगल सधा और आज भी सध रहा है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध का यह मार्ग आदि, मध्य और अन्त में कल्याणकारी है।

भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश लोक-भाषा मागधी (पालि) में दिये। उन्होंने मध्यदेश में पग-पग चलकर जन-जन में धर्मोपदेश का अमृत मुक्तहस्त से वितरित किया। उनके उपदेशामृत से प्रभावित होकर बड़ी संख्या में तत्कालीन भारत या जम्बूद्वीप के लोग संघ में प्रव्रजित हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकाधिक लोक-कल्याण के निमित्त भाषा के बन्धन से निर्मुक्त रहते हुए उन्होंने जन-भाषा मागधी को महत्त्व दिया। यही नहीं, उन्होंने तात्कालिक मातृ-भाषाओं को भी प्रोत्साहन दिया; ऐसा प्रतीत होता है। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग के 'सकाय निरुत्तिया' के प्रसंग[1] से तो यही बात सिद्ध होती है। तमेळु और तेकुल नामक दो ब्राह्मण बन्धु भिक्खु-संघ में प्रव्रजित हुए। उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगती थी कि 'विभिन्न गोत्रों, कुलों, जातियों या वर्णों से आने वाले कुलपुत्र भगवान् की वाणी को अपनी-अपनी भाषा में बोलकर दूषित (संकर) करें।[2] सो, एक बार वे भगवान् बुद्ध के पास गये और उन्होंने बुद्ध-वाणी को वेदों की पवित्र भाषा 'छान्दस्' में बाँधकर पवित्र और प्रांजल रखने का प्रस्ताव रखा, ताकि भगवान् बुद्ध की सुपावन वाणी दूषित होने से बच जाये तथा इसका स्वाध्याय-पारायण वे ब्राह्मणों की तरह ही करें। ऐसे में भगवान् बुद्ध ने उन ब्राह्मण बन्धुओं को फटकार लगाई और ऐसा न करने की हिदायत दी। उन्होंने धर्म-सूत्रों को जन-भाषा में ही रहने देने का उपदेश दिया। उन्होंने बुद्ध-वाणी को 'सक निरुत्ति' (स्वक-निरुक्ति) में ही सीखने की बात कही। इस प्रकार भगवान् बुद्ध लोक-भाषाओं के पक्षधर रहे; ताकि यह महान् धर्म कुछ लोगों तक ही सीमित न रहे, बल्कि अधिकाधिक लोगों के हित-सुख का माध्यम बन सके। इस प्रकार इसके पीछे लोक-मंगल ही मुख्य कारण रहा।

कालान्तर में जब सम्राट् अशोक के समय संघ-भेद हुआ, तो महासांघिकों ने संस्कृत को अपने धार्मिक कार्य संचालित करने तथा साहित्य-सर्जना करने हेतु भाषा के रूप में अपनाया; किन्तु यहाँ भी पालि के प्रति

---

1. विनय-पिटकं, चुल्लवग्गो 5.6.1
2. पालि साहित्य का इतिहास, भिक्षु धर्मरक्षित, पृ. 9-10

उनका मोह बना ही रहा। फलतः वे पालि की विशिष्ट शैली से युक्त संस्कृत में लेखन-कर्म करने लगे। इस प्रकार महासांघिकों के द्वारा प्रयुक्त इस पालि मिश्रित संस्कृत भाषा में अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के भी अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। बाद में एजर्टन नामक आधुनिक विद्वान् ने गहन अध्ययन एवं अनुसन्धान के आधार पर इस मिश्रित या संकर भाषा को 'बौद्ध-मिश्रित-संस्कृत-भाषा' (Buddhist Hybrid Sanskrit Language) का अभिधान प्रदान किया तथा इसमें रचे गये साहित्य को उन्होंने 'बौद्ध-मिश्रित-संस्कृत-साहित्य' (Buddhist Hybrid Sanskrit Literature) की आख्या प्रदान की। इस भाषा में संस्कृत की तमाम विशेषताएँ तो प्राप्त होती हैं ही; किन्तु इसमें पालि का प्रभाव भी स्पष्टतया दृग्गोचर होता है। ऐसे तो एक ही परिवार की भाषा होने के कारण संस्कृत और पालि भाषा में अनेक समानताएँ है। पालि संस्कृत से 75-80 प्रतिशत तक मिलती-जुलती भाषा है। इसी कारण पालि की संस्कृतच्छाया सम्भव है। कहीं-कहीं पालि अपने लोक-व्यवहार के स्वरूप के कारण सरल और लोकानुरूप भाषा है। यदि विचार किया जाये तो संस्कृत की अपेक्षा पालि का कठिनता का स्तर केवल 10 प्रतिशत ही होगा। पाणिनीय-व्याकरण के प्रभाव से निर्मुक्त होने के कारण पालि में अनेक प्रयोग बड़े सरल और लोकानुरूप हैं। विशेषतः मिश्रित संस्कृत को पालि ने अत्यन्त प्रभावित किया। यथा–'भिक्षु'-शब्द का षष्ठी एकवचन का रूप संस्कृत में 'भिक्षोः' होता है। जबकि पालि में इसी 'भिक्खु' शब्द का छट्ठी एकवचन के रूप 'भिक्खुनो' तथा 'भिक्खुस्स' ऐसे दो रूप प्राप्त होते हैं। अब हम जब बौद्ध-मिश्रित-संस्कृत-साहित्य का अवगाहन करते हैं, तो पाते हैं कि इसमें 'भिक्षोः' के साथ 'भिक्षुस्य' जैसे प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। इसके साथ इसमें पालि-गद्यों का प्रभाव स्पष्टतया दिखाई देता है। इसी प्रकार इसमें संस्कृत और पालि की अनेक विशेषताएँ एक साथ दिखाई पड़ती है।

अस्तु, कालान्तर में बौद्ध आचार्यों और कवियों ने विशुद्ध संस्कृत के माध्यम से भी काव्य-प्रणयन आरम्भ कर दिया। बुद्ध-वाणी के लोक-हितकारी स्वरूप के लाभी सभी हो, इस ध्येय के साथ इसमें सुविशाल साहित्य की रचना हुई। अश्वघोष, शान्तिदेव सदृश बुद्धानुयायी कवियों ने बड़ा ही मार्मिक और हृदय के अन्तस्तल को झंकृत कर देने वाला साहित्य इसी विशुद्ध संस्कृत भाषा में रचा। वहीं दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे महान् दार्शनिक आचार्यों ने लोक-मंगल की उदात्त भावना से शील-सदाचार के मार्ग का निर्देशन किया। दोनों ही स्वरूप मानव-मात्र को विशुद्ध धर्म के मार्ग पर आगे बढ़कर नितान्त मुक्ति के मार्ग तक ले जाने के लिए तत्पर रहे। इस साहित्य में साहित्यिक पक्ष प्रबल तो रहा ही, इसका सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से भी बहुत अधिक मूल्य है। यदि यह साहित्य न होता, तो हम इतिहास के एक बहुत बड़े भाग को कभी भी जान ही नहीं पाते। सम्पूर्ण बौद्ध-काल की प्रामाणिक और सटिक धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक व आर्थिक जानकारियाँ एवं सूचनाएँ हमें इन्हीं स्रोतों से प्राप्त होती हैं। विशेषतः सांस्कृतिक और ऐतिहासिक तत्त्वों का हमारा ज्ञान इस बौद्ध संस्कृत साहित्य पर टीका हुआ है। इस प्रकार प्राचीन भारत के इतिहास की प्रामाणिक सूचनाएँ हमें इसी साहित्य से सुलभ हो सकी हैं। इस साहित्य में हमें उस-उस काल की संस्कृति, कला, शिल्प, विज्ञान और समाजादि तत्त्वों के दर्शन भी स्पष्ट रूप से हो जाते हैं।

पालि-साहित्य हमें नवांगों के रूप में प्राप्त होता है। अतः इसे 'नवांग साहित्य' भी कहा जाता है। पालि के 'नवांग' या 'नौ अंग' इस इस प्रकार हैं–

1. सुत्त (सुक्त या सूत्र), 2. गेय्य (गेय), 3. वेय्याकरण (व्याकरण), 4. गाथा, 5. उदान, 6. इतिवुत्तक (इतिवृत्तक), 7. जातक, 8. अब्भुतधम्म (अद्‌भुत धर्म) तथा 9. वेदल्ल (वैपुल्य)।

विनय-पिटक की पाराजिक-अट्ठकथा में पालि-तिपिटक या पालि-साहित्य के अंग-भूत विभागों का वर्णन प्राप्त होता है। वे विभाग यहाँ उपस्थापित हैं–

'कथं अङ्गवसेन नवविधं? सब्बमेव हिदं सुत्तं, गेय्यं, वेय्याकरणं, गाथा, उदानं, इतिवुत्तकं, जातकं, अब्भुतधम्मं, वेदल्लन्ति नवप्पभेदं होति। तत्थ उभतोविभङ्गनिद्देसखन्धकपरिवारा सुत्तनिपाते मङ्गलसुत्त-रतनसुत्त-

नालकसुत्त-तुवट्टकसुत्तानि अञ्ञम्पि च सुत्तनामकं तथागतवचनं सुत्तन्ति वेदितब्बं। सब्बम्पि सगाथकं सुत्तं गेय्यन्ति वेदितब्बं। विसेसेन संयुत्तके सकलोपि सगाथावग्गो, सकलं अभिधम्मपिटकं, निग्गाथकं सुत्तं, यञ्च अञ्ञम्पि अट्ठहि अङ्गेहि असङ्गहितं बुद्धवचनं तं वेय्याकरणन्ति वेदितब्बं। धम्मपदं, थेरगाथा, थेरीगाथा, सुत्तनिपाते नोसुत्तनामिका सुद्धिकगाथा च गाथाति वेदितब्बा। सोमनस्सञाणमयिकगाथापटिसंयुत्ता द्वासीति सुत्तन्ता उदानन्ति वेदितब्बं। "वुत्तञ्हेतं भगवता"ति आदिनयप्पवत्ता दसुत्तरसतसुत्तन्ता इतिवुत्तकन्ति वेदितब्बं। अपण्णकजातकादीनि पञ्ञासाधिकानि पञ्च जातकसतानि जातकन्ति वेदितब्बं। "चत्तारोमे, भिक्खवे, अच्छरिया अब्भुता धम्मा आनन्दे"ति (दी. नि. 2.209)-आदिनयप्पवत्ता सब्बेपि अच्छरियअब्भुतधम्मपटिसंयुत्ता सुत्तन्ता अब्भुतधम्मन्ति वेदितब्बं। चूळवेदल्ल-महावेदल्ल-सम्मादिट्ठि-सक्कपञ्ह-सङ्खारभाजनिय-महापुण्णमसुत्तादयो सब्बेपि वेदञ्च तुट्ठिञ्च लद्धा लद्धा पुच्छितसुत्तन्ता वेदल्लन्ति वेदितब्बं। एवं अङ्गवसेन नवविधं।'[3]

ज्ञातव्य है कि संस्कृत में जब बुद्धानुयायियों द्वारा साहित्य रचा जाने लगा, तो वह अधिक विस्तार के साथ रचा जाने लगा। बौद्ध-संस्कृत साहित्य में अनेक नई अवधारणाएँ और आयाम विकसित हुए तथा अनेक को विस्तार प्राप्त हुआ। यह बौद्ध-संस्कृत-साहित्य विस्तार पाकर पालि की अपेक्षा संस्कृत में बारह अंगों में प्राप्त होता है। इन्हें ही 'द्वादश अंग' के नाम से जाना जाता है। तद्यथा–

सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्।
इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्।
उपदेशाद्‌भुतौ धर्मौ द्वादशाङ्गमिदं वचः॥

अर्थात् ये द्वादशांग या द्वादशांग वचन इस प्रकार हैं–**1. सूत्र, 2. गेय, 3. व्याकरण, 4. गाथा, 5. उदान, 6. अवदान, 7. इतिवृत्तक, 8. निदान, 9. वैपुल्य, 10. जातक, 11. उपदेश धर्म तथा 12. अद्‌भुत धर्म।**

बौद्ध-काव्य कृतियाँ अतीव व्यापक एवं विशाल हैं। संस्कृत-साहित्य की दृष्टि से विचार किया जाये, तो ये काव्य-कृतियाँ अनेक विधाओं एवं उपविधाओं पर आश्रित हैं। तथापि इनके तीन स्वरूप प्रमुखता से प्राप्त होते हैं–

1. साहित्यिक काव्य-कृतियाँ, 2. धार्मिक-काव्य-कृतियाँ तथा 3. दार्शनिक-काव्य-कृतियाँ।[4]

पुनः बौद्ध-संस्कृत की साहित्यिक काव्य-कृतियाँ प्रमुखतः निम्नोक्त विधाओं में उपलब्ध होती हैं[5]–महाकाव्य, नाटक, गीति-काव्य, स्तोत्र, जातक, अवदान, माहात्म्य, सूत्र, धारणी, थेर-थेरी गाथा–इत्यादि। इसमें भी महाकाव्य, नाटक, गीतिकाव्य, स्तोत्र, सूत्र, जातक और अवदानादि साहित्यिक कृतियों में काव्य-गुण प्राप्त हो सकते हैं; क्योंकि इनकी रचना के अवसर पर इनको भी ध्यान में रखा गया होगा। अन्य काव्य-कृतियों में काव्य-गुणों की अपेक्षा धर्म और दर्शन के तत्त्व ही अधिक प्राप्त होते हैं। यद्यपि इन काव्यों को इस दृष्टि से नहीं रचा गया है, तथापि इसमें भी साहित्यिक-समीक्षा अपेक्षित है। बौद्ध-संस्कृत काव्यों की कोमल-कान्त पदावली, मंजुलता और रस का प्रवाह–इन्हें अन्य काव्यों के समतुल्य बनाते हैं; किन्तु शील-सदाचार के सन्देश तथा निब्बान के मार्ग के आख्यायी होने के कारण यह साहित्य-जगत् की अन्य कृतियों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण बन गयी है।

3. विनय-पिटक की अट्ठकथा पाराजिक-अट्ठकथा पठमो भागो
4. बौद्ध-संस्कृत-काव्य-समीक्षा, पृ. 50
5. वहीं

बौद्ध-काव्य कृतियाँ गद्य, पद्य और चम्पू–इन तीनों स्वरूपों में प्राप्त होती हैं। ये काव्य-कृतियाँ छन्दोमयी निर्मिति न होकर, कुछ विशिष्ट स्वरूपमयी है। जिसमें स्वाभाविकता, नैसर्गिकता, मंजुलता, मुग्धता और आकर्षण के दर्शन होते हैं। इस प्रकार अलंकारों के भार से लदी, विविध छन्दों से आवद्ध तथा काव्य-दोषों से सर्वथा विनिर्मुक्त न होने पर भी बौद्ध-काव्य कृतियाँ सहृदय के हृदय को तरंगित अवश्य करती है। क्वचित् काव्य-दोष होने पर भी गुणों के आधान के कारण ये काव्य-कृतियाँ अपने उद्देश्य में सफल हैं। संसार का नियम है कि 'प्रत्येक वस्तु गुण और दोष से युक्त है।' कोई भी वस्तु पूर्णतः गुणों से ही परिपूर्ण नहीं है, ना ही पूर्णतः दोषों से ही युक्त है; तो फिर यह काव्य कैसे सर्वथा काव्य-दोषों से मुक्त रह सकता है। सर्वथा दोषाभाव तो अस्वाभाविक और अनैसर्गिक माना जायेगा। यद्यपि गुण-सहितता और दोष-रहितता काव्य का निकष माना गया है; किन्तु बुद्ध-काव्य कृतियों के सन्दर्भ में यह बात उतनी महत्त्व की नहीं है। महत्ता तो इसमें है कि काव्य में रसपेशलता, स्पष्टता, हृदय-ग्राहिता, आकर्षकता और प्रभावकारिता होनी चाहिए। फिर बौद्ध-संस्कृत काव्य तो (1) सब्बपापस्स अकरणं, (2) कुसलस्स उपसम्पदा तथा (3) सचित्त-परियोदपनं–वाली त्रिविध शिक्षा प्रदान करता हैं, जो बुद्धों की शिक्षा (एतं बुद्धान सासनं) के अनुकूल है। अर्थात् यह बौद्ध-संस्कृत-काव्य तो मानव-मात्र को पापकर्म न करने, कुशल-कर्म करते हुए पुण्य-सम्पदा का अर्जन करने तथा अपने चित्त को अन्तस्तल तक, गहराई तक परिशुद्ध करने का पावन सन्देश प्रदान करती हैं–बुद्धों की शिक्षा के अनुरूप।

यही इस काव्य की सार्थकता है कि काव्य के अंगभूत परिमाण की अपेक्षा यह उसके सार को महत्त्व देता है। काव्य के विषयभूत दर्शन से ही लोग 'विशुद्ध धर्म' की राह चलेंगे। तमाम प्रकार के साम्प्रदायिक बन्धनों में बन्धकर किसी का कोई लाभ नहीं हो सकता। काव्य के आधार पर जीवन में आचरण के स्तर पर आचार-व्यवहार में लाने पर यही 'निब्बान' (निर्वाण) प्राप्ति का साधन बन सकता है–क्योंकि, निर्वाण ही परम सुख है–

निब्बानं परमं सुखं।

इस प्रकार बौद्ध-संस्कृत काव्य 'प्रवृति' की अपेक्षा 'निर्वृत्ति' की ओर ले जाने वाला प्रकाशमय काव्य है।

भारत के बाहर सुदूरवर्ती देशों में भी बौद्ध संस्कृत साहित्य के द्वादश अंगों के आधार पर भगवान् बुद्ध की धर्मोपदेशमयी वाणी का प्रसार हुआ। भगवान् की वाणी (परियत्ति/पर्याप्ति) के साथ ध्यान साधना (पटिपत्ति/प्रतिपत्ति) का भी खूब प्रचार हुआ। बर्मा आदि देशों में भगवान् की पावनी विद्या विपस्सना को कुछ आचार्यों ने पीढ़ी दर पीढ़ी सम्हालकर रखा। इसी प्रकार भारत की साहित्यिक निधि तिब्बत और चीन इत्यादि देशों के पास गई, तो उन्होंने बड़ी ही जागृति के साथ इसे सुरक्षित रखा। न केवल सुरक्षित रखा, बल्कि उसका अध्ययन-अध्यापन भी करते रहें। अनेक महायानी देशों में इन बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों की बड़ी मान्यता है। नेपाल, तिब्बत, चीन तथा जापान आदि देशों में इस बौद्ध संस्कृत साहित्य का पूज्य स्थान है। नेपाल में सद्धर्मपुण्डीक-सूत्र की बड़ी मान्यता है, वहीं जापानियों में इसके प्रति गौरव-भाव देखने योग्य है। विश्व के तमाम देशों में जापान द्वारा भव्य शान्ति-स्तूपों का निर्माण किया गया है। उनमें इन संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध सूत्र-ग्रन्थों के श्लोक खुदे हुई दिखाई पड़ते हैं। किन्तु, यह दुर्भाग्य और दुःख की ही बात है कि बुद्ध के द्वारा उद्भावित महान् धर्म की तरह, बौद्ध संस्कृत काव्य-कृतियाँ भी इस भारत-भूमि में सम्मान न पा सकीं। इससे इस देश को ही बड़ी हानि उठानी पड़ी। एक लम्बा समय अन्धकार-युग की तरह बीत गया। हम उन बौद्ध आचार्यों और कवियों के वचनामृत से वंचित हो गये।

'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' नामक ग्रन्थ को छोड़कर कोई भी बौद्ध-ग्रन्थ इस देश की सीमा के भीतर प्राप्त नहीं हुआ। जो साहित्य प्राप्त हुआ भी तो, वह अन्य देशों में ही प्राप्त हुआ। जब भारत में नालन्दा

जैसे विद्या-पीठ पूरे विश्व में प्रसिद्ध थे तथा विश्व के कोने-कोने से विद्या-पिपासु यहाँ आकर अपनी पिपासा का शमन किया करते थे; उस समय उन भारतीय-विद्या के उपासकों के मन में बुद्ध तथा उस बृहत्तर भारत के प्रति श्रद्धा का भाव इतना प्रगाढ़ था कि उन्होंने यहाँ की पाण्डुलिपियों की प्रतियाँ तैयार करवाई अथवा पाण्डुलिपियों को पावन मानकर अपने साथ अपने-अपने देश ले गये। भारत-विद्या के हजारों-लाखों ग्रन्थों का चीनी, तिब्वती, मंगोली इत्यादि भाषा में अनुवाद हुए। इनके माध्यम से ही ये ग्रन्थ आज हमें किसी तरह उपलब्ध हो सके हैं। भारत की इस महार्घ दौलत को जब भारतीय आचार्य विदेशी भूमि पर ले गये, तो वहाँ की जनता ने इसका खूब स्वागत किया। इससे वहाँ संस्कृति को प्रोत्साहन मिला। फिर उन्होंने भगवान् बुद्ध के वचनों को अपने जीवन में उतारा तथा वहाँ की आचार्य-परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी इस गुप्त-धन का संरक्षण करती रही। इस मायने उस आचार्य परम्परा ने अद्भुत कार्य किया। धन्य है वह परम्परा... और धन्य है वे देश...। आज हम उनके ऋणी हैं। शायद उस ऋण से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है। आज जो कुछ भी बौद्ध साहित्य हमें उपलब्ध हो पा रहा है, उस सब का सम्पूर्ण श्रेय भारत-विद्या के उपासक विदेशी विद्वानों को ही जाता है। उनके सतत और भरसक प्रयासों से ही अज्ञानता और विस्मृति के गर्भ में खो चुके बौद्ध-ग्रन्थों की रक्षा हो सकी। प्रथमतः उनके ही प्रयासों ये ग्रन्थ रोमन-लिपि में प्रकाशित हुए तथा बाद में नागरी-लिपि में लिप्यन्तरित हुए। उन्होंने ने आरम्भ में इनका अंग्रेजी, जर्मनादि भाषाओं में अनुवाद प्रस्तुत किया, तो बाद में हिन्दी-आदि भाषाओं में अनूदित हो सके। भारत में मिथिला इंस्टीट्यूट के माध्यम से आचार्य पी.एल. वैद्य तथा अन्य विद्वानों के सम्पादकत्व में प्रथमतया इन ग्रन्थों का देवनागरी लिपि में प्रकाशन हो पाया है। इस प्रकार आज भारत में कुछेक ग्रन्थ प्रकाशित हो सके हैं, किन्तु दुर्भाग्य से इन ग्रन्थों के प्रकाशित हो जाने के बावजूद भी, अब तक बौद्ध-साहित्य का रसास्वादन सहृदय समीक्षक प्राप्त नहीं कर पायें। प्रायः देखने में आता है कि ग्रन्थालयों में बौद्ध-संस्कृत-साहित्य के इन ग्रन्थों को कोई संस्कृतज्ञ स्पर्श नहीं करता, वहीं पालि के विद्वान् भी इनसे दूरी बनाये हुए हैं। बौद्ध-अध्ययन के अनुसन्धाता भी इनके स्पर्श से पर्याप्त दूरी बनाये हुए हैं। इस प्रकार से यह सब तरफ से उपेक्षित ही है।

जैसा कि विदित ही है कि विविध कालांशों में इस बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का भोट, चीनी या मंगोली इत्यादि भाषाओं में अनुवाद हुए हैं। विद्वानों के द्वारा उस समय अपनायी गयी अनुवाद-प्रविधि आज बहुत सहायक और प्रभावी सिद्ध हो रही है। इसी कारण आज हम उन भाषाओं में उपलब्ध अनूदित साहित्य को मूल संस्कृत में उपलब्ध कर सकते हैं। इन भाषाओं से अनुवाद या संस्कृतच्छाया करके अपने हाथ से खो चुकी सम्पत् को हम पुनः प्राप्त करने के भागी बन पा रहे हैं। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल की शकुन्तला की अंगुली से खोई हुई अंगूठी के कारण ही वह दुष्यन्त से पुनः मिल पाई, उसी तरह अनुवाद के माध्यम से ही यह अनमोल सम्पत्ति यह देश पुनः प्राप्त कर सका। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दृष्टव्य है–

''महाकवि अश्वघोष रचित 'बुद्धचरितम्' संस्कृत-साहित्य में रचित अत्यन्त रमणीय और हृदयहारी महाकाव्य है। यह मूलतः दो भागों में है तथा यह महाकाव्य 28 सर्गों में प्रणीत है। इस तरह दोनों भागों में 14-14 सर्ग हैं। किसी काल में इस महाकाव्य का भोट तथा चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। कालानन्तर में इस महाकाव्य की संस्कृत पाण्डुलिपि खण्डित अवस्था में प्राप्त हुई। पाण्डुलिपि में प्रथम भाग ही अधूरी अवस्था में प्राप्त हो पाया था। पाश्चात्य विद्वानों ने किसी तरह पाठालोचन के माध्यम से इस भाग को सम्पादित किया; किन्तु 14 सर्गात्मक द्वितीय भाग तो पूर्णतः अप्राप्त और अप्राप्य ही था। कालान्तर में जॉन्स्टन नामक विदेशी विद्वान् ने भोट तथा चीनी भाषा के आधार पर अंग्रेजी अनुवाद करके प्रकाशित कराया। इस प्रकार बुद्धचरित का आधुनिक अंग्रेजी भाषा में प्रथमतया अनुवाद उपलब्ध हो सका। बाद में आचार्य सूर्यनारायण चौधरी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया। हिन्दी में अनुवाद उपलब्ध होने से भारतीय संस्कृत पण्डितों को कुछ आशा की किरण दिखाई दी। फिर तो तीन-चार विद्वानों ने इस हिन्दी अनुवाद के आधार पर संस्कृत-पद्यानुवाद

किया। इस प्रकार आज हम पूर्ण बुद्धचरित महाकाव्य के अधिकारी बन पायें।" इसी प्रकार भोट और चीनी भाषा में न केवल बौद्ध-विद्या से सम्बद्ध संस्कृत ग्रन्थों का ही अनुवाद हुआ; अपितु इसमें अन्य संस्कृत ग्रन्थों का भी अनुवाद हुआ। ऐसे हजारों-लाखों ग्रन्थ भोट एवं चीनी में प्राप्त होते हैं। उनका संस्कृत-भाषा में पुनः छायानुवाद आवश्यक है। तिब्बती विद्या संस्थान, सारनाथ के माध्यम से कुछेक ग्रन्थ संस्कृत में छायानुवाद के रूप में अनूदित हो चुके हैं। शतगाथा इत्यादि ग्रन्थ इस सूची में शामिल हैं।

किन्तु अभी बहुत बड़ी संख्या में ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जिन्हें लिप्यन्तरण, सम्पादन, अनुवाद, अनुसन्धान तथा समालोचनाओं की प्रतीक्षा है। बिना अनुवाद और अनुसन्धान के उपेक्षित इन ग्रन्थों में भारतीय इतिहास और संस्कृति के अनेक अनछुये पहलु मौजूद हैं। इनके प्रकाशन से अनेक पक्ष और अधिक स्पष्ट हो जायेंगे। निश्चित ही इनका अनुवाद और अनुसन्धान किया जाये, तो अनेक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और धार्मिक पहलु स्पष्ट होंगे तथा अनेक नये आयाम भी उद्घाटित होंगे।

आज भारत में इस क्षेत्र में अधिक कार्य दिखाई नहीं दे रहा है। ऐसे समय में विद्वानों तथा अनुसन्धाताओं से इस सम्बन्ध में विचार-उत्थापन की दृष्टि से 'बौद्धमिश्रितसंस्कृतसाहित्यस्य वैश्विकः सन्देशः' (Universal Message of Buddhist Hybrid Sanskrit Literature) इस शीर्षक के माध्यम से भारत-शासन के मानव संसाधन विकास मन्त्रालय के अधीनस्थ राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान के उत्तराखण्ड प्रदेश के अलकनन्दा और भागीरथी के पावन संगम-स्थल देवप्रयाग में स्थित श्रीरघुनाथ कीर्ति परिसर के साहित्य- विभाग द्वारा 04-05 फरवरी, 2018 को एक अन्ताराष्ट्रिय संगोष्ठी (International Seminar) का आयोजन किया गया था। इस संगोष्ठी का उद्घाटन-सत्र 04 फरवरी, 2018 को हुआ। इस अवसर पर दिल्ली-विश्वविद्यालय बौद्ध-अध्ययन विभाग के प्रमुख प्रो. के.टी.एस.सराओ मुख्यातिथि के रूप में उपस्थित थे। इसी प्रकार व्याकरण के विद्वान् प्रो.किशोरचन्द्र पाढ़ी जी इसमें सारस्वतातिथि के रूप में समुपस्थित रहे। परिसर-प्राचार्य प्रो. के.बी.सुब्बरायुडु इसके अध्यक्ष रहे। सङ्गोष्ठीसंयोजक तथा साहित्यविभागाध्यक्ष डॉ. प्रफुल्ल गड़पाल ने इस अवसर पर संगोष्ठी का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस अवसर पर डॉ. प्रफुल्ल गड़पाल सम्पादित 'अंगुत्तर-निकाय' के चार खण्डों का लोकार्पण भी हुआ। इसी सत्र में परिसर में 'बौद्ध-संस्कृत-साहित्य-संसाधन-केन्द्र' (Resource center for Buddhist Sanskrit Literature) का उद्घाटन भी किया गया। उद्घाटन-सत्र के पश्चात् 'बौद्ध-मिश्रित-संस्कृत-साहित्ये अनुवाद-अनुसन्धानयोः सम्भावनाः' (Scopes of Research and Translation in Buddhist Hybrid Sanskrit Literature) इस विषय पर प्रो. के.टी.एस. सराओ का विशिष्ट-व्याख्यान हुआ।

इस अन्ताराष्ट्रिय-संगोष्ठी के अन्तर्गत पाँच सत्रों में लगभग 50 से अधिक शोधार्थियों एवं प्राध्यापकों ने शोधपत्र प्रस्तुत किये। उक्त संगोष्ठी में प्रस्तुत शोधपत्रों को संकलित कर प्रकाशन करने का यह एक विनम्र प्रयास है। शोधपत्रों के संकलन तथा सम्पादन के पश्चात् इस ग्रन्थ हेतु एक सुदीर्घ भूमिका के लेखन का विचार था, ताकि बौद्ध संस्कृत साहित्य का चित्र कुछ स्पष्ट हो सके; किन्तु सम्पादन के दौरान विचार आया कि इस दिशा में कार्य का चुके महान् आचार्यों तथा विद्वानों के आलेख यदि 'अग्रलेख' के रूप में दे दिये जायें, तो निश्चित रूप से यह अध्येताओं एवं विद्वानों के लिए अधिक उपयोगी होंगे एवं सन्दर्भ-प्राप्ति के लिए बहुत उपयोगी होंगे।

इसी तारतम्य में आचार्य उमाशंकर व्यास जी से हमने निवेदन किया था कि वे भी बौद्ध संस्कृत भाषा एवं साहित्य से सम्बद्ध आलेख प्रेषित करें। उन्होंने कृपापूर्वक आलेख प्रेषित भी किया। इस हेतु हम उनके विशेष आभारी हैं तथा उन्हें विशेष धन्यवाद देते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए शोध-आलेख प्रेषित कर उपकृत करने वाले सभी विद्वानों को हम हार्दिक साधुवाद देते है। विशेषतः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग के प्रमुख एवं आचार्य प्रो. बिमलेन्द्र कुमार जी को धन्यवाद; जिन्होंने

अपना विद्वत्तापूर्ण आलेख प्रेषित कर हम पर अनुग्रह किया। प्रो. वनमाली विश्वाल जी, श्री विनोद पण्डित जी, डॉ. शैलेन्द्र नारायण कोटियाल जी, डॉ. अजय कुमार सिंह जी, डॉ. शैलेन्द्र प्रसाद उनियाल जी, डॉ. वीरेन्द्र सिंह बर्त्वाल जी, भिक्षु शान्ता कुमार नेगी जी, डॉ. सुशील प्रसाद जी, डॉ. जयवन्त खण्डारे जी, डॉ. अरविन्द गौर जी, डॉ. विकास सिंह जी तथा सभी शोधालेख प्रेषित करने वाले विद्वज्जनों को इस अवसर पर कृतज्ञता-कुसुमांजलि सहित स्मरण कर रहे हैं; धन्यवाद-भाव सहित तथा मंगल-मैत्रीपूर्वक उन्हें धन्यवाद देते हैं।

ग्रन्थस्थ शोधपत्रों में पूर्वापर्य सम्बन्ध स्थापित करने का यथा-सम्भव प्रयास किया गया है। इसी कारण हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं के आधार पर भाषिक-विभाजन न कर, इन्हें विषय-वार क्रम में संयोजित कर दिया गया है। ग्रन्थ को अधिक उपयोगी बनाने की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण आलेख परिशिष्ट में भी दे दिये गये हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार की सम्बद्ध सामग्री एकत्र हो जाने से यह ग्रन्थ अधिक उपयोगी हो चुका है, ऐसा हमारा दृढ़-विश्वास है।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने हेतु उत्प्रेरित तथा प्रोत्साहित करने वाले परिसर प्राचार्य प्रो. के.बी. सुब्बरायुडु जी को हम विशेषतः साधुवाद देते हैं। इस ग्रन्थ के सम्पादन के समय प्रो. वनमाली विश्वाल जी के अमूल्य परामर्शों से हम लाभान्वित हुए; अतः इस अवसर पर हम उन्हें भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। सहधर्मिणी आयुष्मती याचना गड़पाल के सहकार के बिना इस प्रकार के सारस्वत-कर्म की कल्पना भी करना सम्भव नहीं। इसी तरह कपिल खोब्रागड़े तथा अंकित वासनिक ने टंकण-अक्षरशोधनादि कार्यों में तन-मन से सहकार दिया। श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग के कर्मचारियों एवं अधिकारियों का प्रत्यक्ष-परोक्ष सहकार भी प्राप्त हुआ। अतः सभी को साधुवाद एवं मंगलकामनाएँ।

अन्त में, यह ग्रन्थ अध्येताओं के लिए संस्कृत-विद्या तथा भारत-विद्या के अनुशीलन व अनुसन्धान में सहकारी हो, इस हेतु कामना करते हैं।

सभी के जीवन में मंगल और खुशियाँ आयें तथा सभी दुःख दूर हों–ऐसी कोटिशः शुभकामनाएँ।

॥ भवतु सब्बमङ्गलं ॥

- डॉ. प्रफुल्ल गड़पाल

विषयानुक्रमणिका

परिशिष्टम्

अग्रलेख-खण्डः

1

बौद्धधर्म की देन

- महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

विचारों की देन

संसार के अधिक भागों में सफलतापूर्वक प्रसार और अब भी मानव-जाति के एक बड़े भाग को अपने द्वारा प्रभावित करते देखने से मालूम होता है कि बुद्ध अपने समय के स्वतन्त्र विचारकों में सबसे अधिक शक्तिशाली थे। आज देश और विदेश के पत्रों और लोगों के मुखों में जो 'पंचशील' का शब्द सुनाई देता है, वह वस्तुतः बुद्ध का ही है, यद्यपि बुद्ध ने राष्ट्रों के नहीं, बल्कि व्यक्तियों के सदाचार के अर्थ में ही अधिक प्रयुक्त किया था। बौद्ध-धर्म का जो प्रचार और प्रभाव पूर्वी देशों में रहा है, उसके कारण 'पंचशील' को समझना उनके लिए, उससे कहीं आसान था, जितना कि हम भारतियों को। सिंहल, बर्मा, चीन आदि देशों में आज भी बौद्ध गृहस्थ पंचशील लिया करते हैं। हमारे यहाँ केवल वही लोग इस शब्द से परिचित हैं, जिन्होंने बौद्ध-धर्म का कुछ अध्ययन किया है। बाकी लोगों की यह अज्ञानता ही है, जो कि कभी-कभी पंचशील को शुद्ध करते 'पंचशिला' (पाँच पत्थर) का प्रयोग भाषण और लेखन में करते हैं।

बुद्ध का जोर शील (सदाचार), समाधि और प्रज्ञा (तत्त्वज्ञान)–तीन बातों पर सबसे अधिक था। शील में अवैर को वह प्रधानता देते थे। 'अवैर के लिए वैर (दुश्मनी) के सभी कारणों को छोड़ना पड़ेगा'–इस बात का प्रचार बुद्ध और बौद्धों ने केवल मौखिक नहीं किया, बल्कि इसे अपनी कार्य-प्रणाली का एक अंग बना लिया। बुद्ध और बौद्ध अपने विचारों को श्रेष्ठ मानते थे, पर उसे जबर्दस्ती दूसरे पर लादने का प्रयत्न नहीं करते थे। ज्ञान समझाने से दूसरे के दिमाग में प्रविष्ट होता है, बलात्कार से नहीं। इसी बात के कारण प्राचीन सभ्य जगत् के अधिकांश में छा जाने के लिए बौद्ध-धर्म ने बलात्कार करने की कोशिश नहीं की। धर्मों के इतिहास में यह अभूतपूर्व दृष्टान्त है। विश्व के दो और महान् धर्मों के इतिहास को हम जानते हैं, जिन्होंने बलात् अपने विचारों को लादने में आग और तलवार के इस्तेमाल करने में जरा भी आना-कानी नहीं की। दूसरी तरह की कार्य-प्रणाली में चरम सहिष्णुता की आवश्यकता होती है। प्रभुता के हाथ में आ जाने पर उसका उपयोग करके बरस दिन के रास्ते को छः महीने में तै करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। बौद्ध-धर्म ने अपने विचारों के प्रसार के लिए जिस रास्ते का अनुसरण किया, वह था समझाकर विचारों में परिवर्तन लाना। उन्होंने अपने ग्रन्थों को सुलभ और सुगम बनाने की कोशिश की। मुद्राओं को उलटे अक्षरों में लिखकर छापने का रिवाज बहुत प्राचीन काल से सभी देशों में चला आया था, पर पुस्तक के छापने के लिए उसका इस्तेमाल चीन में पहले-पहल उस समय हुआ, जबकि वहाँ के बौद्धों को अपने नित्य पाठ के ग्रन्थों को हजारों नहीं लाखों की संख्या में प्रस्तुत करने की आवश्यकता पड़ी। अपने ग्रन्थों को सुगम और सुलभ वह तभी बना सकते थे, जब कि वह उन लोगों की भाषा में कर दिए जायें, जिनके विचारों में परिवर्तन

लाना था। चीनी भाषा, बौद्ध-धर्म के प्रवेश के समय भी बहुत उन्नत थी, इसलिए बौद्धों को वहाँ साहित्य-निर्माण का प्रारम्भ नहीं करना था, बल्कि पुराने साहित्य की भाषा का सहारा लेकर अपने विचारों और ग्रन्थों को देना था। पर तिब्बत जैसे कितने ही ऐसे देश भी थे, जहाँ के लोगों की न कोई लिपि थी, न कोई साहित्य। बौद्धों ने तिब्बत में एक क्षण के लिए भी इस बात पर विचारने की कोई जरूरत नहीं समझी कि हम अपने विचारों को किस भाषा के माध्यम से प्रचारित करें। तिब्बती भाषा की कोई लिपि नहीं है, इस सवाल को तिब्बती सामन्त-वर्ग ने हल कर दिया, जब अपने उच्चारणों के अनुरूप भारतीय लिपि में जरा सा परिवर्तन करके उन्होंने उसे अपना लिया। बौद्ध अच्छी तरह जानते थे कि कोई भी जाति मूक नहीं होती। उसकी अपनी भाषा होती है, जिसमें विचारों को प्रकट करने की काफी क्षमता होती है। आखिर संस्कृत में भी जिन धातुओं से शब्द बनते हैं, उनकी संख्या दो हजार से अधिक नहीं है, जिनमें भी एक-तिहाई ही काम में आते हैं, बाकी केवल तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के लिए ही उपयुक्त हैं। उन्होंने तिब्बती धातुओं का संग्रह किया, उसके उपसर्गों और प्रत्ययों को जमा किया; फिर उनके लिए भाषा की कोई कठिनाई नहीं रह गई और कल की साहित्य-हीन भाषा आज इतनी उन्नत हो गई, कि उसमें धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित के सूक्ष्म और गम्भीर विचारों को भी रखने में कोई दिक्कत नहीं थी। उन्होंने किसी देश में भी यह आग्रह नहीं किया, कि भारतीय भाषा में बौद्ध ग्रन्थ के पाठ का अधिक पुण्य होता है। भाषा ही नहीं, कला के बारे में भी उन्होंने स्वदेशी पन का मान किया। आज की भाषा में हम कह सकते हैं कि विचार बौद्ध, किन्तु रूप राष्ट्रीय रखना उनकी कार्य-प्रणाली का मुख्य रूप था।

धार्मिक-क्षेत्र में बुद्ध और उनके अनुचरों का अधिक जोर मन के संयम और मानसिक शक्तियों के विकास पर था, जिसके लिए भावना और योग का उन्होंने सहारा लिया था। वह देववाद, देव-पूजा या बुद्ध-पूजा को साधारण लोगों के लिए ही आवश्यक समझते थे। देवताओं के बारे में भी वह उसी तरह उदार थे, जैसे भाषा और कला के सम्बन्ध में। हरेक देश के सम्मानित देवता बौद्धों की प्रमाणित देवमाला में सम्मिलित हो सकते थे। इसलिए 'हमारे देवता-तुम्हारे देवता' का झगड़ा पैदा नहीं हुआ। बौद्ध देशों में जहाँ, भारत के इन्द्र, ब्रह्म आदि देवता सम्मानीय हैं, वहाँ स्थानीय देवताओं को भी उचित स्थान मिला है। संघर्ष का एक जबर्दस्त कारण जो हो सकता था, उसका इस प्रकार हल हो गया।

सामाजिक क्षेत्र में बुद्ध ने विषमता को हटाकर समता स्थापित किया। यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे सोना मूल तत्त्व है, जो ही भिन्न-भिन्न रूप लेकर, कंकण, कुण्डल बनता है। कार्य-स्थापित करने की कोशिश की थी, और वर्ण-व्यवस्था का जबर्दस्त विरोध केवल सिद्धान्त के रूप में नहीं, बल्कि अपने शिष्यों (भिक्षुओं) और शिष्याओं (भिक्षुणियों) की मण्डली में ब्राह्मण से चाण्डाल तक सभी जातियों के लोगों को सम्मिलित करके समान स्थान प्रदान किया। पुरानी व्यवस्था में जाति या जन्म के ख्याल से छोटा-बड़ा माना जाता था। बुद्ध ने उसकी जगह भिक्षु होने के काल को मुख्य रखा। बुद्ध के अपने शाक्य वंश के लोग जाति का बड़ा अभिमान करते थे। उनके खानदान वाले अनुरुद्ध आदि बुद्ध के पास भिक्षु बनने के लिये जा रहे थे। साथ में नौकर उपालि नाई था। उपालि को ख्याल हुआ, जब ये लोग अपने धन-वैभव को छोड़कर भिक्षु बन रहे हैं, तो मैं भी क्यों न उनका अनुसरण करूं। इस विचार को सुनकर अनुरुद्ध आदि ने कहा 'तब तुम्हें पहले भिक्षु बनना पड़ेगा। हम लोगों के खून में जाति-अभिमान है। यदि हम पहले भिक्षु बने और तुम बाद में, तो भगवान् के उपदेश के अनुसार छोटा होने के कारण तुम्हें हमारी वन्दना करनी पड़ेगी, जिससे हमारा अभिमान अक्षुण्ण रहेगा। तुम अगर पहले भिक्षु बन जाओगे, तो हमारे ज्येष्ठ हो जाओगे, हम तुम्हारी वन्दना करेंगे। इस प्रकार हमारे अभिमान को बल नहीं मिलेगा।' उन्होंने ऐसा ही किया। उपालि ज्येष्ठ भिक्षु बने और अपनी योग्यता के कारण बुद्ध-निर्वाण के बाद बुद्ध के उपदेशों के संग्रह के लिये जो पहली परिषद् (संगीति) बैठी थी, उसमें वह एक विभाग के प्रधान थे, क्योंकि विनय

(भिक्षु-नियमों) की अभिज्ञता में वह अद्वितीय समझे जाते थे। चीनी यात्रियों ने लिखा है (और आज भी कितने ही बौद्ध देशों में उसे देखा जाता है), जब कोई अपरिचित नवागन्तुक भिक्षु किसी विहार में आता था, तो उससे स्थानीय भिक्षुओं का पहला प्रश्न होता था–'आयुष्मान् आप कितने वर्षों के हैं', अर्थात् भिक्षु हुए आपकी कितनी वर्षाएँ बीती हैं? बतलाने पर जब वह अधिक वर्षों का मालूम होता, तो स्थानीय भिक्षु अपना वर्ष बतलाकर अभिवादन करता। उनके यहाँ इसका कोई सवाल नहीं था कि नवागत भिक्षु किस देश और किस जाति का है। विषमता को हटाने का लक्ष्य केवल भिक्षुओं के लिए ही नहीं रखा गया था, बल्कि बुद्ध ने साधारण लोगों में भी इसका प्रचार किया। यद्यपि बुद्ध अपने सत्रह शताब्दियों के जीवन में बौद्ध-धर्म ने भारत से जातिवाद और (वर्णव्यवस्था) को हटाने में सफलता नहीं पाई, पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, यह नहीं कहा जा सकता। वर्ण-व्यवस्था के नष्ट न होने पर भी वह बहुत शिथिल हो गई थी। खुद इसके जबर्दस्त पक्षपाती ब्राह्मणों पर भी प्रभाव पड़ा था। तभी 10वीं-11वीं शताब्दियों में बंगाल से लेकर पंजाब की सीमा तक ब्राह्मणों में फिर से कुलीनता स्थापित करने का प्रयत्न हुआ। कुछ ब्राह्मणों को इतना दूर समझा गया कि उन्हें सम्मानित ब्राह्मण-सूची से खारिज कर दिया गया, जैसे मगध के बामन। जात-पात और वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध जो भावना बुद्ध और उनके समकालीन तीर्थंकरों ने फैलाई थी, उसका प्रभाव भारत के सभी सन्तों और उनके अनुयायियों पर पड़ा, जिसे आज भी देखा जाता है।

राजनीतिक क्षेत्र में भी बुद्ध और बौद्ध-धर्म की देन नगण्य नहीं है, यद्यपि उसमें उसको पूर्णतया असफल होना पड़ा। इसका दोष उनके ऊपर नहीं बल्कि परिस्थितियों, (आर्थिक विकास की स्थिति) पर है। बुद्ध ने भिक्षुओं-भिक्षुणियों के संघ में पूर्ण साम्यवाद (Communism) स्थापित करने का प्रयत्न किया। हां, उत्पादन में नहीं केवल उपभोग में ही। सम्पत्ति में केवल अपने शरीर पर के तीनों वस्त्रों (चीवरों) अस्तुरा, सुई, जलछक्का, भिक्षापात्र जैसी आठ चीजों को वैयक्तिक सम्पत्ति ठहराया, बाकी सारी सम्पत्ति जो विहार में होती उसका स्वामी संघ को माना। पुराने समय में उक्त आठों चीजों के अलावा जो भी छोटे-बड़े दान दिये जाते थे, उसे 'आगत अनागत चातुर्दिश संघ' के लिये दिया जाता था। संघ को बुद्ध व्यक्ति से बड़ा मानते थे। बुद्ध के जन्म के सप्ताह के बाद ही उनकी माँ मर गई थी, और उनका लालन-पालन उनकी मौसी तथा सौतेली माँ प्रजापती गौतमी ने किया था। प्रजापती ने अपने हाथ से कात-बुनकर कपड़ा तैयार किया 'इसे मैं बुद्ध को चीवर के लिये दूंगी।' भेंट करने के लिये ले जाने पर बुद्ध ने प्रजापती से कहा–'अच्छा है, तुम इसे संघ को दो। बुद्ध होने पर भी मैं व्यक्ति (पुद्गल) हूँ, व्यक्ति के लिये दिये दान की अपेक्षा संघ के लिये दिये दान का अधिक पुण्य होता है।' उन्होंने उसे संघ के लिये दान दिलवाया। बुद्ध का साम्यवाद और संघवाद बहुत दिनों तक कैसे चल सकता था, जबकि उस समय का सारा समाज उसके विरुद्ध था। पर इससे प्रभावित होकर कितनों ही ने साम्यवाद की प्रेरणा ली थी। जिस तरह यूरोपियन साम्यवादियों (समाजवादियों) के प्रयत्न को हम तुच्छ नहीं कहते, बल्कि उनकी निःस्वार्थ सेवाओं का सम्मान करते हैं; उसी तरह बुद्ध द्वारा प्रचारित साम्यवाद का भी अपना स्थान है। तिब्बत के सम्राट् मुनि-चन्-पो पर इसका इतना प्रभाव पड़ा था कि नवीं शताब्दी में उसने अपने यहाँ तीन बार धन का समवितकरण कराया था। वह समझता था, कि लोगों के आर्थिक दुःखों का कारण आर्थिक विषमता है, जिसके हटाने से दुःख दूर हो जाएगा। उत्पादन के साधन उसके लिये कितने आवश्यक हैं, इसे न उसने समझा था और न वह अभी सुलभ थे। सम-वितरण द्वारा साम्यवाद की स्थापना नहीं हो सकी, बल्कि दूसरों के कोप-भाजन बन अपनी माँ के हाथ से जहर खाकर मुनि-चन्-पो को मरना पड़ा।

राजनीतिक क्षेत्र में जनतान्त्रिक गणराज्य बुद्ध को बहुत प्रिय था। वह स्वयं भी शाक्यों के गणराज्य में पैदा हुए थे। उस समय वैशाली समकालीन ग्रीस से एथेंस की तरह एक शक्तिशाली गणराज्य की

राजधानी थी। वैशाली और लिच्छवियों के लिए बुद्ध के हृदय में बहुत प्रेम और सम्मान था। उन्होंने मगध के शक्तिशाली तथा बढ़ते हुए साम्राज्य के सामने वैशाली को अजेय रहने का संकेत किया था। उसी गण की व्यवस्था के अनुसार उन्होंने अपने भिक्षु-भिक्षुणियों के संघ में जनतंत्रता स्थापित की। संघ का नियंत्रण और शासन किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं, बल्कि सारे संघ के अधिकार में था। ऐसे कार्य के लिए बैठक में सदस्यों की कम से कम संख्या (कोरम) निश्चित करना आवश्यक था। बुद्ध ने मध्य-मण्डल (उत्तर भारत और बिहार) में उसकी संख्या दस रखी थी और बाहर पांच। किसी प्रश्न पर संघ में मतभेद नहीं हो सकता था। ऐसे समय बहुत (यद्भूयसिक) के निर्णय को मान्य ठहराया था। बहुमत-अल्पमत जानने के लिए मतगणना की अपेक्षा थी। इसके लिए आज जिस तरह बैलेट-पर्ची का प्रयोग होता है, उसकी जगह संघ में मतदान के लिए पेंसिल की तरह की लकड़ियों (छन्दशालाओं) को इस्तेमाल किया जाता था। 'हाँ' और 'नहीं' के परिचायक दो रंगी (द्विवर्णी) शलाकाएँ होती थी, जिन्हें संघ के लोग अपने मत के अनुसार ले लेते थे और अध्यक्ष (संघ-स्थविर) गिनकर बहुमत की घोषणा कर देता था।

बुद्ध सही अर्थों में शान्ति-दूत थे, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। उनका धर्म 'शान्ति का वाहक' बनकर देश और विदेश में फैला। तत्कालीन राजनीतिक ढांचा अपने आर्थिक स्वार्थों के कारण उस शान्ति-सन्देश के अनुकूल नहीं था, पर प्रतिकूल परिस्थिति में भी उसने अपने ध्येय को नहीं छोड़ा। आज भी हम देखते हैं, बौद्ध विचारों से प्रभावित लोग शान्ति के सन्देश को बिना आनाकानी के मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। पंचशील जिस तरह उनके लिए परम मान्य है, वैयक्तिक और सार्वत्रिक दोनों रूपों में, उसी तरह शान्ति भी।

बुद्ध और बौद्ध-धर्म की एक सबसे बड़ी देन यह है, जिसके कारण एशिया के सबसे अधिक भाग में मैत्री और आत्मीयता स्थापित हुई है। चीन में जाकर हमारा सांस्कृतिक मण्डल क्यों आज इतनी आत्मीयता अनुभव करता है? चीनी सांस्कृतिक मण्डल भारत में आकर क्यों अपने को स्वजनों में आया समझता है? इसे कहने की आवश्यकता नहीं, इसका कारण बौद्ध-धर्म और उसका प्रयत्न है। यूरोप के अभिमानी लोगों ने भारत के प्रति सम्मान का भाव पहले पहल बौद्ध कृतियों से सीखा था। बुद्ध के जीवन और शिक्षा ने अरनॉल्ड को "एशिया का प्रकाश" (Light of Asia) जैसी अमर कविता को लिखने की प्रेरणा दी। उससे भी बहुत पहले 17वीं-18वीं सदी में जब पूर्व में बढ़ते रूसियों का सम्पर्क बौद्ध मंगोलों से हुआ, तो उन्होंने बुद्ध की शिक्षाओं और बौद्ध-धर्म की जिस उन्नत विचारधारा को देखा, उसने उन्हें प्रभावित किया। रूस, सदा से यूरोप के दूसरे देशों की अपेक्षा उल्टी भावना भारत के प्रति रखता रहा है अर्थात् भारत जंगलियों का नहीं बल्कि सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली जाति का देश है, इसमें भी बौद्ध-धर्म कारण हुआ था। दार्शनिक क्षेत्र में बौद्ध-धर्म का अनीश्वरवाद ही नहीं, बल्कि उसका क्षणिकवाद (Dynamism), अनात्मवाद (Non-Soulism), प्रतीत्यसमुत्पाद (Discontinuous continuity) जैसे विचार मार्क्सवादी दर्शन के इतने नजदीक मालूम हुए थे कि एक बार सोवियत में उसके प्रति जरूरत से अधिक पक्षपात दिखाया जाने लगा था। दार्शनिक क्षेत्र में बौद्ध-धर्म की देन उतनी बड़ी है, जितनी कला के क्षेत्र में। उसकी उड़ान उतनी ही ऊंची है, जितनी अजन्ता की कला में हम उसे देखते हैं। साहित्यिक और दूसरे क्षेत्रों में भी उसकी सफलता के बारे में उसकी देन बड़ी है।

भारत की विशाल साहित्यिक निधि का एक काफी महत्त्वपूर्ण भाग मूल भाषा से लुप्त होकर अब चीनी और तिब्बती भाषा के अनुवादों में ही सुरक्षित है। हमारे सांस्कृतिक इतिहास तथा विचारधारा को समझने के लिए यह जोड़ने वाली कड़ियाँ हैं। एक समय सैकड़ों वर्ष लगाकर भारतियों और उनके चीनी या तिब्बती सहायकों ने लगकर इस विशाल साहित्य को अनुवाद के रूप में तैयार किया। समय जल्दी ही आयेगा जब कि हमें अपनी इस साहित्य-निधि को फिर से अनुवाद करके अपनी भारतीय भाषा में

लाना होगा। चीनी भाषा में भारतीय साहित्य का अनुवाद-कार्य ईसा की प्रथम शताब्दी में क्या-ये मो-थङ् (काश्यप मातंग) के द्वारा आरम्भ हुआ और काश्यप 67 ई. में भारत से चीन पहुँचे थे। उस समय से जो अनुवादों का कार्य आरम्भ हुआ, वह 13वीं शताब्दी के अन्त (मंगोल सम्राट कुबिले-खान के समय) तक चलता रहा। 67-1300 ई. तक जिन ग्रन्थों का अनुवाद हुआ था, उनमें से बहुत से अब प्राप्य नहीं हैं, लेकिन अब भी साढ़े चौदह सौ ग्रन्थ मौजूद हैं, जिनको बत्तीस अक्षर के श्लोकों में गिनने पर उनकी संख्या साढ़े तैंतीस लाख श्लोक या तीस-बत्तीस महाभारत के बराबर हैं। इन ग्रन्थों को सूत्र, विनय और अभिधर्म पिटक के तीन भागों में विभक्त किया गया है, यद्यपि पिटक के भीतर 'बुद्धचरित' जैसे काव्यों को शामिल कर लिया गया है। तीनों पिटकों के ग्रन्थ महायान और हीनयान के भेद अनुसार निम्नलिखित संख्या और परिणाम में हैं–

पिटक	महायान		हीनयान	
	ग्रन्थसंख्या	भाणवार	ग्रन्थसंख्या	भाणवार
सूत्र	897	2980	291	710
विनय	24	56	69	504
अभिधर्म	118	628	38	707
योग	**957**	**2864**	**398**	**1922**

सभी ग्रन्थों की संख्या 1440 है जो कि 5586 भाणवारों (फैसकुली) में समाप्त हुए हैं। यह भाणवार कहीं एक हजार श्लोकों की भी मिलती है और कहीं पाँच सौ की भी। औसतन छः सौ ले लेने पर ग्रन्थ संख्या साढ़े तैंतीस लाख श्लोकों के बराबर होती है।

महापरिनिर्वाण सूत्र दीर्घागम का एक सूत्र है। पालि सुत्तपिटक के दीघनिकाय में सूत्रों की संख्या 34 (चौतीस) है। लेकिन चीनी भाषा में अनुवादित दीर्घागम के सूत्रों की संख्या तीस ही है। दोनों में सूत्रों का क्रम भी एक सा नहीं है और न पाठ ही एक सा है, तो भी यह मालूम होता है कि पालि दीघनिकाय और संस्कृत दीर्घागम एक ही स्रोत से निकले हैं। शायद पालि-स्रोत अपेक्षाकृत अधिक पुराना या महायान से पहले अठारह बौद्ध सम्प्रदाय (निकाय) भारत में प्रचलित थे, जिसमें एक निकाय की एक-शाखा धर्मगुप्तिक भी थी। सम्भवतः बुद्धयश ने उसी के दीर्घागम का यहाँ अनुवाद किया।

बुद्धयश काबुल (कुभा) के भिक्षु विद्वान् थे, उस समय काबुल सांस्कृतिक और धार्मिक तौर से भारत का अभिन्न अंग था। बुद्धयश का जन्म 338 ई. में हुआ था। 400 ई. के आसपास वह चीन में जा 400-413 ई. के बीच राजधानी छाङ्-आन् में रहकर उन्होंने निम्न चार ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी में अनुवाद किया–

1. आकाशगर्भ बोधिसत्त्व सूत्र	सनव ननजियो सूचीपत्र संख्या 68
2. दीर्घागम सूत्र	545
3. धर्मगुप्त-विनय सूत्र	1117
4. धर्मगुप्त-प्रातिमोक्ष सूत्र	,,

बुद्धयश द्वारा अनुवादित दीर्घागम प्रायः तेरह हजार श्लोकों के बराबर है। उसी का दूसरा सूत्र यह 'महापरिनिर्वाण सूत्र' है। इस सूत्र के एक से अधिक अनुवाद हुए थे। यह महापरिनिर्वाण सूत्र जहाँ हीनयान त्रिपिटक के दीर्घागम या दीघनिकाय का एक सूत्र है, वहाँ महायान का अपना अलग और बहुत विशाल महापरिनिर्वाण सूत्र भी मौजूद है। जिस सम्प्रदाय (निकाय) का एक समय भारत में बहुत प्रचार था। उसका नाम और पिटक दोनों ही आज विस्तृत हो चुके हैं। लेकिन सौभाग्य से चीनी अनुवाद में विस्मृत हीनयान 'मध्यमागम' (542), 'एकोत्तरागम' (547), संयुक्तागम' (544) और 'दीर्घागम' (545) चीनी अनुवाद में मौजूद हैं। इनके अतिरिक्त विनय पिटक और त्रिपिटक के बृहद्भाष्य (विभाषायें) भी मौजूद हैं, इन ग्रन्थों से हमारे सांस्कृतिक इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

बुद्धयश ने उस समय चीन में जाकर हमारे इस महान् सांस्कृतिक काम को किया, जब कि भारत में गुप्तवंश के सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था और जिस समय कालिदास और दिङ्नाग जैसी प्रतिभायें भारत में अपना चमत्कार दिखला रही थीं। इन्हीं के समय फाह्यान भारत की यात्रा के लिये आया।

दीर्घागम के दो-तीन सूत्रों का अनुवाद आज से बीस वर्ष पहले मैंने किया था। उस समय चीनी-भाषा और साहित्य की ओर बढ़ने का मेरा ख्याल था। मेरा ज्ञान उस समय पांच सौ अक्षरों (शब्द-संकेतों) से अधिक नहीं था, लेकिन उसी समय लंका में चीनी विद्वान् बाङ्-मो-लम् मेरे साथ रहते थे। हम दोनों आपस में विद्या-विनिमय करते थे। उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती यदि हमारे संयुक्त परिश्रम का फल इस 'महापरिनिर्वाण सूत्र' को उन्होंने प्रकाशित देखा होता। थोड़े ही दिनों बाद क्षयरोग से घुलकर मरने की जगह उन्होंने लंका के समुद्र में डूबकर अपने प्राण दे दिए।

(महामानव बुद्ध, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली से संकलित)

2

बौद्ध विचारकों की देन

- महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

ईसा की दूसरी शताब्दी के महान् आचार्य नागार्जुन मंगलाचरण के लिये कुछ भी न कह अपने ग्रन्थ विग्रहव्यावर्त्तनी के अन्त में कहते हैं–

यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमनेकार्थाम्।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसम्बुद्धम् ॥72॥

(जिसने शून्यता प्रतीत्यसमुत्पाद, एकार्य मध्यमा प्रतिपद् को कहा, उस अप्रतिम बुद्ध को मैं प्रणाम करता हूँ।)

नागार्जुन शून्यवाद और माध्यमिक बौद्ध-दर्शन के मूल-आचार्य माने जाते हैं। वह जानते थे कि शून्यता, प्रतीत्य-समुत्पाद, मध्यमा प्रतिपद्–ये मौलिक विचार बुद्ध की देन हैं। बुद्ध के निर्वाण हुये ढाई हजार वर्ष बीते। इस बीच की पहली सत्रह शताब्दियों में भारत में बौद्ध विचारधारा प्रबल रही। इसी समय सारिपुत्र, (ई. पू. 500) साणवासी (ई. पू. 400), मोग्गलिपुत्त तिस्स (ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी), नागसेन (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी), अश्वघोष (ईसवी पहली शताब्दी), मातृचेट् (ईसवी पहली शताब्दी), नागार्जुन (ईसवी दूसरी शताब्दी), असंग (ईसवी चौथी शताब्दी), वसुबन्धु (ई. चौथी शताब्दी), दिङ्नाग (ईसवी पाँचवीं शताब्दी), धर्मकीर्ति (600 ई.), प्रज्ञाकरगुप्त (सातवीं शताब्दी), शान्तरक्षित (आठवीं शताब्दी), कमल-शील (नवीं शताब्दी), जितारि (दसवीं शताब्दी), रत्नाकर शान्ति (ग्यारहवीं शताब्दी), शाक्य श्रीभद्र (बारहवीं शताब्दी)–जैसे महान् दार्शनिक पैदा हुये। भारत से बाहर चीन, जापान, सुवर्णद्वीप, तिब्बत, मंगोलिया ने भी बहुत से उच्चकोटि के बौद्ध विचारक पैदा किये। यह खेद की बात है कि भारतीय और बृहत् भारतीय विचारकों के विचारों का क्रमबद्ध इतिहास अभी किसी भाषा में नहीं लिखा गया।

शून्यता का ही नाम अनात्मवाद भी है। बुद्ध ने जब आत्मा ही से इन्कार कर दिया तो परमात्मा या ईश्वर की बात ही क्या? बुद्ध महान् थे। हमारे देश ने वैसे महान् दूसरे व्यक्ति को नहीं पैदा किया। उनके विचारों से पूर्णतया सहमत न होते हुए भी हम उनके प्रति श्रद्धा रख सकते हैं, लेकिन जिन विचारों को उन्होंने प्रकट किया, उनसे उल्टी बात उनके मत्थे मढ़नी बुरी बात है। यदि ऐसा न जानकर किया जाये तो यह अज्ञता है और उसे क्या कहना चाहिये। 2 मई (1956) की राज्यसभा में डॉ. अम्बेडकर कुछ बोल रहे थे। पार्लियामेंट के किसी सदस्य ने कह दिया–"आपकी आत्मा को भगवान् बचाये।" इस पर अम्बेडकर ने कहा–"मेरे पास आत्मा नहीं है। मैं बौद्ध हूँ। मेरी आत्मा की शान्ति के लिये प्रार्थना करने की किसी को कष्ट करने की जरूरत नहीं। मैं ईश्वर को नहीं मानता, आत्मा को नहीं मानता।" अम्बेडकर अध्ययनशील और विचारशील पुरुष हैं। उनके सभी राजनीतिक विचारों से सहमत होने की जरूरत नहीं

है, पर उनकी योग्यता और देश के सबसे अधिक उत्पीड़ित जनता के लिये उनकी सेवाओं से इनकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपने को अनीश्वरवादी और अनात्मवादी बौद्ध घोषित किया तो यह बौद्ध विचार-धारा का अच्छी तरह अवगाहन करके ही। पर, उसके तीन दिन बाद (5 मई के) 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' में उसके योग्य सम्पादक ने अपनी संक्षिप्त टिप्पणियों में अम्बेडकर के विचारों को शुद्ध करते हुए कहा–"लेकिन, वह एक बहुत ही विवादास्पद विषय में दाखिल हो रहे हैं, यदि दावा करते हैं कि बौद्ध-दर्शन पूरी तौर से अनात्मवाद के विचार को मानता है।" इसे हम क्या कहें? अज्ञता या ईमानदारी से नाता तोड़ना? बौद्ध-दर्शन अनीश्वरवादी, अनात्मवादी है, इसका निर्णय वह दार्शनिक करेंगे, जिनके नाम अभी हमने ऊपर दिये है, या ऐरे-गैरे नत्थू खैरे? बौद्ध विचारकों में इसके बारे में कभी सन्देह नहीं हुआ। बुद्ध का दर्शन अनात्मवाद का दर्शन है। बुद्ध ने स्वयं कहा है–

"सब्बं अनिच्चं, सब्बं दुक्खं, सब्बं अनत्ता"

(दुनिया के सभी पदार्थ अनित्य, दुःख, अनात्म हैं।)

अपने अपवाद दुनिया की सभी वस्तुओं को अनित्य मानने ही के कारण बुद्ध की विचारधारा में आत्मा, ईश्वर जैसे किसी नित्य पदार्थ की गुंजाइश नहीं रह जाती।

लोग श्रद्धेय व्यक्ति को तोड़-मरोड़ कर अपने जैसा बनाना चाहते हैं। आखिर अपने इष्टदेव को भी अपने रूप-गुण के साथ ही देखने की कोशिश करते हैं। प्राचीन एथेंस के लोग अपने देवताओं को लाल बालों और अति गौर मुँह वाले मानते थे। वैदिक आर्य सुनहरी मूंछ-दाढ़ी और सुनहले केशों वाला मानते थे। इसी तरह हमारे आजकल के विचारक भी बुद्ध के प्रति श्रद्धा रखते हुए उनके विचारों को अपना रूप देना चाहते हैं। लेकिन आज के युग में इस तरह की तोड़-मरोड़ नहीं चल सकती। बुद्ध के अनात्मवादी-अनीश्वरवादी रहते भी हम उनके प्रति श्रद्धा रख सकते हैं; क्योंकि वह हमारी संस्कृति के एक महान् उन्नायक थे। भारतीयों को एकता के सूत्र में आस्तिकवाद ने नहीं पिरो रखा है, न उसकी जरूरत है। ब्राह्मणों के भी मान्य छः दर्शनों में तीन–सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा–अनीश्वरवादी हैं, लेकिन उसके कारण उनके कर्त्ताओं को लोग भगवान् कपिल, भगवान् कणाद और भगवान् जैमिनी कहने से बाज नहीं आते। अपने उग्रवादी विचारों को रखने वाले महापुरुषों को उनके विचारों से रहित करते आस्तिक बनाना, 'लौटो गुहा-मानव की ओर' की मनोवृत्ति है।

यह निश्चय है, अनात्मवाद आदि के बारे मे बौद्धों में कभी मतभेद नहीं हुआ। उनमें विचार-भेद हुए है, उन्हीं के कारण 18 सम्प्रदाय (निकाय) हुए। फिर हीनयान, महायान, वज्रयान–जैसे पन्थ स्थापित हुए। पर कुछ विचार मौलिक हैं, जो पालि और दूसरे पिटकों में एक से मिलते हैं। बुद्ध ने जिस समय अनात्मवाद पर जोर दिया, उस समय उपनिषद् के आत्मवाद का जोर था। उपनिषदों में आत्मा को नित्य, शुद्ध, परम तत्त्व माना जाता था। उसी के श्रवण-मनन-निदिध्यासन में लगना सबसे बड़ा कर्तव्य माना जाता था। बुद्ध के समय की दुनिया आत्मा के पीछे पागल थी जैसा कि फिर बीसवीं सदी के पुनर्जागरण में करने की कोशिश की जा रही है–इस आत्मवाद अर्थात् परिवर्तनशील संसार और उसकी वस्तुओं के पीछे एक नित्य चेतनसत्ता है। इस विचार से ही मुक्ति दिलाते बुद्ध ने अनात्मवाद का प्रचार किया। उपनिषद् सत्-चित्-आनन्द की घोषणा करता है। बुद्ध उससे बिलकुल उलटे–अनित्य, अनात्म, दुःख की घोषणा करते हैं। दोनों में समन्वय करने की कोशिश करना व्यर्थ है। जिसको जो पसन्द हो, उसे स्वीकार करे, किन्तु दूसरे के मुँह में अपनी बात डालना अनुचित है। आजकल के वैज्ञानिक और प्रगतिशील विचारधाराओं से मुकाबला किया जाये, तो बुद्ध और बौद्ध विचारक उसके बहुत नजदीक मालूम होते हैं।

इन्हीं विचारकों के प्रयत्न से हमारे देश ने उदारता का पाठ पढ़ा। सामाजिक तौर पर हम बड़े संकीर्ण रहे। म्लेच्छ का छुआ पानी पी लेने से आदमी सदा के लिए धर्मभ्रष्ट हो जाता था। खाने-पीने

में अपने जात के चौके से बाहर निकलने की कोई हिम्मत नहीं करता था। मेरे पड़ोस में एक अहीर चौधरी रहते हैं। पचास वर्ष से अधिक हो गये, अपनी जन्मभूमि बाराबंकी जिले को छोड़कर वह मंसूरी में चले आये। पाँच-सात वर्ष बाद कभी मेहमान की तरह कार्य-प्रयोजन में दो-चार दिन के लिए घर गए होंगे, इसलिए उन्हें अभी पुरानी बातें याद आती हैं। इस साल (1956 ई.) यहाँ सैनिक नान-कमिशनड आफिसरों का प्रशिक्षण चल रहा था। उसमें चाय-रोटी बनाने वाले मुसलमान बावर्ची भी थे। चौधरी जी को आश्चर्य हो रहा था। कह रहे थे–"हमारे यहाँ होता तो हुक्का पानी बन्द कर दिया जाता।" मैंने कहा चौधरी जी, "हुक्का-पानी बन्द करने वाले चौधरी चल बसे। तुम्हारे यादव मन्त्री, उपमन्त्री या बड़े-बड़े लोग अब इसी तरह सबके हाथ का रोटी-पानी ग्रहण करते हैं, उनको कोई जात से निकाल नहीं सकता।" लेकिन यह भी ठीक है कि एक शताब्दी पहले क्या एक ही पीढ़ी पहले जरा सा भी खान-पान में मनमानी करने पर जाति और धर्म से धकेल कर बाहर कर दिया जाता था। इतनी संकीर्णता होने पर भी जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है, हम बहुत उदार थे। ईश्वर माने तो भी महात्मा, ईश्वर न माने तो भी महात्मा माना जाता था–**'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः।'** इसीलिये किसी के वाद को जबर्दस्ती दबाने की कोशिश नहीं की जाती थी। अहिन्दू धर्मों में खान-पान जैसी बातों में अपेक्षाकृत अधिक उदारता थी, लेकिन विचार-स्वातन्त्र्य को वह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। इसीलिये पांचवी शताब्दीं के आर्यभट्ट ने जब पृथ्वी को सूर्य के किनारे घूमते बतलाया, तो किसी ने उनको आग में जलाने का ख्याल भी नहीं किया। यद्यपि यूरोप में ईसाई पुरोहितों ने वैज्ञानिक आविष्कारकों में से कितनों को आग में जलाया या दूसरी तरह से मारा।

विचारों की जो सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का अंग बन गई है, वह एक दिन का काम नहीं था। शताब्दियों में हम इस योग्य बन सके। जिन लोगों ने इस दिशा में प्रयत्न किया, उनमें बौद्ध सबसे अधिक और आगे रहे।

यह तो निश्चय ही है कि बौद्ध-धर्म के लुप्त हो जाने पर भी बौद्ध विचारकों के विचार हमारे वातावरण से लुप्त नहीं हुये; वे हमें दायभाग में मिले। सभी बौद्ध विचारकों को यहाँ देना सम्भव नहीं है, तो भी हम कुछ को देते हैं–

नागसेन–

ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में पंजाब में हुए थे। यवन (ग्रीक) राजा मिनान्दर के साथ इनका जो समालाप हुआ था। वह 'मिलिन्द-प्रश्न' (मिलिन्दपञ्हो) के रूप में हमारे सामने आज भी मौजूद है। अनात्मवाद के बारे में शंका उठाते हुए मिनान्दर (मिनाण्डर) पूछता है–

'भन्ते, यदि जीव कोई चीज ही नहीं है तो हम लोगों में वह क्या है, जो आंख से रूपों को देखता है, कान से शब्दों को सुनता है, नाक से गन्धों को सूँघता है, जीभ से स्वादों को चखता है, शरीर से स्पर्श करता है और मन से धर्मों को जानता है।

नागसेन जवाब देते हैं–

'महाराज, यदि शरीर से भिन्न कोई जीव है, जो हम लोगों के भीतर आंख से रूप को देखता है तो आंख निकाल लेने पर बड़े छेद से उसे भी अच्छी तरह देखना चाहिए। कान काट देने पर बड़े छेद से उसे और भी अच्छी तरह सुनना चाहिये। नाक काट देने पर उसे और भी अच्छी तरह सूंघना चाहिए। जीभ काट देने पर उसे और भी अच्छी तरह स्वाद लेना चाहिए और शरीर को काट देने पर उसे और भी अच्छी तरह स्पर्श करना चाहिये।'

'मिनान्दर–'नहीं भन्ते, ऐसी बात नहीं है।

नागसेन–'महाराज, तो हम लोगों के भीतर कोई जीव भी नहीं।'

मातृचेट्–

मातृचेट् कनिष्क के समय ईसवी प्रथम शताब्दी में थे। कनिष्क ने बौद्ध महापरिषद् में आने के लिये उन्हें निमन्त्रित किया था, लेकिन बुढ़ापे के कारण उन्होंने आने में अपनी असमर्थता प्रगट की थी और कनिष्क के नाम एक पत्र लिखा था, जिसका तिब्बती और चीनी अनुवाद अब भी मिलता है। उन्होंने 'अध्यर्द्धशतक' के नाम से 150 श्लोकों में बुद्ध की स्तुति रची थी। इसे नालन्दा में आरम्भिक कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता था, इसी से इसकी सर्वप्रियता का पता लगेगा। मातृचेट् बुद्ध की गम्भीर और सुन्दर सूक्तियों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

सुपदानि महार्थानि तथ्यानि मधुराणि च।
गूढोत्तानोभयार्थानि समासव्यासवन्ति च॥ 1॥

कस्य न स्यादुपश्रुत्य वाक्यान्येवंविधानि ते।
त्वयि प्रतिहतस्यापि सर्वज्ञ इति निश्चयः॥ 2॥

(सुपद, महार्थ, तथ्य, मधुर, गूढ़-स्पष्ट, दोनों अर्थवाले, संक्षिप्त विस्तृत तुम्हारे वाक्यों को सुनकर किस को तुम्हारे बारे में सब जानने वाला निश्चित यह न होगा।)

इन्हीं दार्शनिक रूढ़ि-विरोधी विचार-धाराओं को देख-सुन कर लोग बुद्ध की ओर आकृष्ट होते रहे।

असंग (400 ई.)–

यह पेशावर में पठान ब्राह्मण कुल में पैदा हुये। इस महान् दार्शनिक का महत्त्व इसी से मालूम होगा कि वह योगाचार-दर्शन या (विज्ञानवाद) के प्रवर्तक थे। इसी विज्ञानवाद को गौड़पाद ने 'माण्डूक्यकारिका' (आगमशास्त्र) में स्वीकार किया। गौड़पाद ने अपने विचारों को अपने अनुगामी आचार्य शंकर की तरह छिपाना नहीं चाहा। उन्होंने अपनी कारिकाओं में 'द्विपदवर' बुद्ध को प्रणाम किया है। **'बुद्धैः अजातिः परिदीपिता'** में बुद्ध के वचन को प्रणाम के तौर पर माना है। उसने बुद्ध और अग्रयान (महायान) का उल्लेख किया है। बौद्ध-दर्शन की जिस विचारधारा को गौड़पाद ने स्वीकार किया, वह असंग का ही दर्शन है। असंग विश्व के मूल उपादान तत्त्व को विज्ञान मानते हैं, लेकिन यह विज्ञान भी बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार क्षण-क्षण परिवर्तनशील, अनित्य है। गौड़पाद ने उसे अलातचक्र (बनेठी के चक्कर) की तरह मानते गतिशील माना, पर शंकर ने उसको कूटस्थ नित्य मानकर उसे बौद्ध-दर्शन की जगह उपनिषद् के दर्शन से जोड़ने का प्रयत्न किया।

असंग का महान् ग्रन्थ 'योगाचारभूमि' है, जिसके तिब्बती और चीनी अनुवाद थे, लेकिन संस्कृत मूल से लोग निराश हो चुके थे। इन पंक्तियों के लेखक को यह मूल ग्रन्थ तिब्बत में मिला, जिसे महामहोपाध्याय पं. विधुशेखर भट्टाचार्य आजकल सम्पादित करके प्रकाशित करा रहे हैं। असंग अनित्यता के बारे में कहते हैं–'इसे कोई दूसरा नहीं जनमाता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है। प्रत्येक के होने पर भाव (वस्तुयें) पुराने नहीं बिल्कुल नये-नये जनमते हैं।... प्रत्यय के होने पर भाव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हो स्वरस (स्वतः) ही क्षणभंगुर हैं।'

क्षणभंगुर या क्षणिकता को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य अतीत हो जाने के (नष्ट हो जाने के) बाद उत्पाद या उत्पत्ति प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसको साफ करते हुए असंग कहते हैं–

'प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है? निःसत्व (अनु-आत्मा) के अर्थ में निःसत्व होने से अनित्य है, इस अर्थ में। अनित्य होने पर गतिशील के अर्थ में। गतिशील होने पर परतंत्रता के अर्थ में। परतंत्र होने पर निरीह के अर्थ में। निरीह होने पर कार्य-कारण (हेतु-फल) व्यवस्था के खण्डित हो जाने के अर्थ में। कार्य-कारण व्यवस्था के खण्डित होने पर अनुकूल कार्य-कारण की प्रवृत्ति के अर्थ में, अनुरूप कार्य-कारण की प्रवृत्ति होने पर कर्म के स्वभाव के अर्थ में।

अनित्य, दुःख, शून्य और नैरात्म (नित्य आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करना) के अर्थ में होने से भगवान् (बुद्ध) ने प्रतीत्यसमुत्पाद के बारे में कहा–"प्रतीत्यसमुत्पाद गम्भीर है।" वस्तुयें प्रतिक्षण नये-नये रूप में जीवन-यात्रा (प्रवृत्ति) करती हैं। प्रतीत्य-समुत्पादत्व क्षणभंगुर हैं।

आत्मा सत्व जीव, पोस या पुद्गल नामधारी एक स्थिर सत्य तत्त्व को मानना आत्मवाद है। उपनिषद् का यही प्रधान मत है। असंग इसका खण्डन करते हैं–

'जो देखता है वह आत्मा है, यह भी युक्ति-युक्त नहीं। आत्मा की धारणा न प्रत्यक्ष पदार्थ में होती है न अनुमान-गम्य पदार्थ में ही। यदि चेष्टा (शरीर-क्रिया) को बुद्धिहेतुक मानें, तो आत्मा चेष्टा करता है, यह कहना ठीक नहीं। नित्य आत्मा चेष्टा कर नहीं सकता। नित्य आत्मा सुख-दुःख से भी लिप्त नहीं हो सकता।

बौद्ध विचारकों के स्पर्श मात्र से कूटस्थ नित्य अन्तर-बहिर्जगत् की दीवार के कण-कण हिल गये, और किसी तरह की रूढ़ि या दार्शनिक कल्पना उसे फिर पहले की तरह स्थिर करने में समर्थ नहीं हुई। हिमीभूत विचार सागर पिघल कर लहरें मारने लगा। हरेक क्षेत्र में भारतीय दिमाग "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" (पुराना है, इसलिये ठीक है), इस ख्याल को छोड़कर नई-नई कल्पनायें और प्रयोग करने लगा। हमारे वैयाकरणों ने 'यथोत्तर'-पहले से पहले नहीं, बल्कि आधुनिकतम विचारों को मान्य ठहराया है। वही बात दूसरे क्षेत्रों में भी मानी जाने लगी है। पुराने आचार्य हमारे श्रद्धा और सम्मान के भाजन हैं, किन्तु प्रमाणता आधुनिकतम आचार्य की होनी चाहिए, क्योंकि वह पहले के आचार्यों की ज्ञान-निधि के धनी होते नवीन ज्ञानों के भी मालिक हैं।

बौद्ध विचारकों ने दर्शन में पुरानी रूढ़ियों पर जबर्दस्त प्रहार किया। उनके तर्कों का जवाब नहीं हो सका, यद्यपि आत्मवादी-ईश्वरवादी दार्शनिकों ने इसके लिये पोथे पर पोथे लिखे। प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण बौद्ध-धर्म भारत से लुप्त हो गया–यह कहा जा सकता है। 19वीं शताब्दी के अन्त तक बुद्ध को भारतीय एक तरह बिल्कुल भूल गये, पर आज क्या देख रहे हैं? बुद्ध डंका बजाते हुए फिर भारत में आ रहे हैं। 25वीं शताब्दी के जगह-जगह होते यह महोत्सव इसी बात को बतला रहे हैं। धर्म-निरपेक्ष सरकार करोड़ों रुपया इस महोत्सव के लिए खर्च कर रही है, यह अनीश्वरवादी-अनात्मवादी बुद्ध की महाविजय है।

सामाजिक क्षेत्र में बौद्धों ने जात-पाँत के खिलाफ जबर्दस्त आवाज उठाई और उसका प्रभाव भी काफी पड़ा। एक समय जात-पात में बहुत शिथिलता आ गई थी, जिसके लिए दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में राजाओं की सहायता से ब्राह्मणों ने कुलीन प्रथा को स्थापित किया–बंगाल में भी, मिथिला में भी, सरजूपारियों में भी, कान्यकुब्जों में भी। उन्होंने समझा, हमने जातिवाद की नींव को वज्र कर दिया। लेकिन आज वह भी खिसक रही है। बीसवीं शताब्दी के मध्य में अभी छिट-पुट जात-पात-तोड़क शादियाँ हो रही हैं। इस शताब्दी के अन्त तक इसकी भी हालत वही होने वाली है, जो कि खान-पान की छुआछूत के बारे में आज देखी जा रही है।

राजनीतिक विचार-क्षेत्र में बुद्ध और बौद्धों ने अपने संघ द्वारा गणराजीय जनतांत्रिकता को स्वीकार किया। 'विनय-पिटक' हमारे सामने है, जिसमें बतलाया गया है कि एक सर्वाधिकार सम्पन्न व्यक्ति के बिना भी जन-समूह (संघ) अपना काम चला सकता है। निर्णय में बहुमत (यद्भूयसिक) को अन्तिम मानना

होगा। संघ ने वैलेट द्वारा वोट लेने की प्रथा स्वीकार की थी। संघ में वैलेट में कागज की जगह लकड़ी की शलाकायें इस्तेमाल की जाती थीं, जिन्हें 'छन्द-शलाका' कहते थे। अभी भारत में कागज नहीं आया था। लिखा-पढ़ी में लकड़ी की पट्टियां, तालपत्र और भोजपत्र का उपयोग किया जाता था।

साहित्य के क्षेत्र में बौद्ध लोकभाषा के हमेशा पक्षपाती रहे। बुद्ध ने स्वयं अपने सूक्तों को छन्द (वैदिक) जैसी स्थिर भाषा में अनुवाद करने को मना करके अपनी-अपनी भाषा में बुद्धवाणी को पढ़ने का आदेश दिया था। बौद्धों ने इसका बराबर अनुसरण किया। इसीलिए उनकी कृतियाँ उनके मनीषी साहित्यकार और कवि लोकभाषाओं में लिखते थे। पालि हमारे सामने मौजूद है। प्राकृत के सैकड़ों ग्रन्थों का अनुवाद चीनी में है, लेकिन प्राकृत के बाद अपभ्रंश के तो आदि कवि ही बौद्ध सिद्ध हैं। सरह-पाद इस भाषा के प्रथम कवि हैं। सबसे पहले दोहा और चौपाई छन्द सरह की कृतियों में मिलते हैं। सरह को 'द्वितीय बुद्ध' कहा जाता है और अपने विचारों में वह अत्यन्त विलक्षण, अनुपम थे। वह ब्राह्मण फिर शास्त्रों को पढ़कर महान् पण्डित, फिर नालन्दा में आचार्य की गद्दी पर बैठ कर अध्यापक, राजामात्यों द्वारा सम्मानित थे। अपने आस-पास का जीवन कृत्रिम मालूम हुआ। इस जाल को तोड़ने में उन्होंने जरा भी दया-माया नहीं दिखलाई। काषाय वस्त्र को दूर फेंका—इतना भी पर्याप्त नहीं था। दुनिया से मिलने वाले सारे सम्मान पर लात मारने के लिए यह काफी नहीं, "हमें ऐसा रास्ता लेना है, जो इससे बिल्कुल उलटा हो" वह ऐसा समय था, जब कि धनुष-बाण को परमास्त्र माना जाता था। बाण बनाने वाली एक अलग जाति थी, जिसे सरहा कहते थे। एक सरहा की लकड़ी उन्होंने ली और सरहों की तरह बाण बनाते इधर से उधर घूमने लगे। अब भला उनका सम्मान कौन कर सकता था? लोग उनको पामर समझते, इससे उन्हें प्रसन्नता थी। उन्होंने कृत्रिम जीवन, जंजाल को तोड़ लिया, पर यह पर्याप्त नहीं था। वह दूसरों को भी जंजाल तोड़कों में शामिल करना चाहते थे। इसलिए अपने सहजयान की घोषणा दोहों और चौपाइयों में करनी शुरू की। वह हरेक क्षेत्र में मनुष्य के जीवन को सहज बनाने के पक्षपाती थे। सरह की विचारधारा का जबर्दस्त असर पिछले हजार वर्षों से हमारे सन्तों पर पड़ा। गोरख-वाणी, कबीर की साखी या सन्तों की दूसरी वाणियों को ले लीजिए, सभी पर आपको सरह की छाप मिलेगी।

(महामानव बुद्ध, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली से संकलित)

3

संस्कृते विलुप्तं बौद्धवाङ्मयम्

- महापण्डितो राहुलः सांस्कृत्यायनः

संस्कृतसाहित्यस्यान्येष्वङ्गेष्वपि सहस्रशो ग्रन्था विनष्टाः। तेषु बहूनां नामापि न ज्ञायते। क्वास्ते वेदान्तस्य बोधयनवृत्तिः, वाचस्पतेर्गुरोस्त्रिलोचनस्य न्यायनिबन्धो वा? वंशपरम्परया सुरक्षिता वेदशाखा अपि स्मृतिशेषतां गताः, अन्येषां विषये किमु वाच्यम्? पाशुपतं मतं क्रैस्तवप्रथमसहस्राब्दे भारते बृहत्तरभारते च बलीयो बहूनां श्रद्धास्पदमासीद्। तदिदानीं सुदूरदक्षिणाचलेऽल्पावशेषं मुमूर्षुर्विवोच्छ्वसिति। पाशुपतैर्बहूपकृतमस्मत्संस्कृतेः। तदुपज्ञं न्यायवैशेषिकम्। मूर्तिवास्तुकलादिषु सर्वत्र तेषां कर इदानीमपि दरीदृश्यते, न केवलं पूर्व-दक्षिण-पश्चिमोत्तरासु दिक्षु, यव-कम्बोजादिष्वपि तैर्निर्मिता भव्या अवशेषा मूर्तिमन्तः सहृदयान् आह्लादयन्ति। दशशतीं यावन्निरन्तरं प्रवर्द्धमानं तेषां वाङ्मयं विशालमभूदिति निश्चप्रचम्। क्व तदधुना? सौगता नामावशेषा गतेषु सप्तसु शतकेषु भारते। सतीषु तेषां साञ्ची-अजन्ता-एलौरादिषु महनीयासु कृतिषु कः स्यात् पराङ्मुखस्मृतिः? निरवच्छिन्नस्य संस्कृतिसम्प्रदायस्य नोऽभिन्नमङ्गं हि तेषां यत्नस्तत्र तत्र। तदभावे न स्यात् परिपूर्णो बोधो नानाक्षेत्रेषु। प्राचीनन्यायः कथं दुरूहः संवृत्तः? प्राचीनेषु दर्शनग्रन्थेषु कथं वरेण्यानां बुधानां शेमुषी मुह्यति?

बौद्धशास्त्रनिधेर्विलोपादिति वक्तव्यम्। दर्शनावगाहनं दर्शनप्रवाहावगाहनं ननु? एकाङ्गस्य हानौ प्रवाहस्यावरोधः। वात्स्यायन-उद्योतकर-त्रिलोचन-उदयनाचार्य-गङ्गेशमिश्रा इत्येकः पक्षः। अपरस्तु नागार्जुन-असङ्ग-वसुबन्धु-दिङ्नाग-धर्मकीर्ति-प्रज्ञाकरगुप्त-ज्ञानश्री-शाक्यश्रीभद्रा इति। उभयोर्विचारसृतिर्मिथः सम्पृक्ता, भाषा, शब्दबोधो वा सुतराम्। इत्थं शास्त्रचिन्तासु बौद्धागमः परमः सहायः। "दुराबाध इव धर्मकीर्तेः पन्थाः, तदत्रावहितेन भाव्यम्" इति महाकविर्महादार्शनिकः श्रीहर्षो जगाद स्वीये खण्डनखाद्ये। कोऽसौ धर्मकीर्तिर्यं मूर्धन्यो वेदान्त्येवं सस्मार। "जगदभिभवधीरं (वचनं) धीमतो धर्मकीर्तेः" इत्युवाच जयन्तो न्यायमञ्जर्यां नालीकम्।

धर्मकीर्तेः कृतयः कथं उपेक्ष्याः सुधीभिः? पदे पदे हि शास्त्रचिन्तकाः स्मार्यन्ते तदाम्नायान्।

परं मोदास्पदं यन्न सर्वो ग्रन्थनिधिर्बौद्धानाम् अत्यन्ताभावमभिप्रपन्नः। अनेके ग्रन्था मूलभाषायां (संस्कृते), ततोऽपि भूयांसो भाषान्तररूपेण चीनभोटभाषयोर्विद्यमानाः चीनभाषानूदितानां निबन्धानां ग्रन्थपरिमाणं षोडश-लक्षाधिकश्लोकमितं, भोटभाषास्थानां च त्रयोविंशति-लक्षश्लोकाधिकम्।

तथा हि—

चीनभाषायाम्–

विभागः	नन्जियो संख्या	ग्रन्थाः	श्लोकमात्रा
1. सूत्रपिटकम्	1-1081	1081	
(1) महायानसूत्रम्	-541	-541	7,15,000
(2) हीनयानसूत्रम्	542-1081	540	3,25,000
2. विनयपिटकम्	1082-1166	85	
(1) महायानविनयः	1082-1106	25	14,000
(2) हीनयानविनयः	1107-1166	60	92,000
3. अभिधर्मपिटकम्	1167-1320	154	
(1) महायानाभिधर्मः	1167-1320	94	1,66,000
(2) हीनयानाभिधर्मः	1261-1297	37	2,47,000
(3) मिश्राभिधर्मः	1298-1320	23	20,000
4. प्रकीर्णम्	1321-1467	147	56,000
			16,35,000

एवं षोडशलक्षश्लोकमिताः 1467 ग्रन्थाः चीनभाषायां सुस्थिताः।

भोटभाषायाम्–

भोटभाषान्तरितानां ग्रन्थानां संख्या 44646, श्लोकपरिमाणं तु त्रयोविंशतिलक्षतोऽप्यधिकम्–

संस्कृते विलुप्तं बौद्धवाङ्मयम्–

क. बृकऽ-ऽग्युर् (बुद्धवचनभाषान्तर)-संग्रहे हि–

विभागः	तोइकृसूचिसंख्या	ग्रन्थाः	वेष्टनानि	श्लोकमात्रा
1. विनयपिटकम्	1-7	7	13	1,00,000
2. प्रज्ञापारमिता	8-43	36	21	1,82,000
3. वैपुल्यसूत्रम्	44	1	4	36,000
4. रत्नकूटसूत्रम्	45-93	49	6	30,000
5. (प्रकीर्ण)-सूत्रम्	49-399	266	32	1,92,000
6. तन्त्रम्	360-827	20	469	1,43,000
7. तन्त्रम् (अनिर्णीतम्)	828-844	17	3	22,000
8. कालचक्रम्	845	1	1	1,000
9. धरणीसंग्रहः	846-1108	263	2	13,000
योगः		**1,108**	**102**	**8,29,000**

ख. स्तन्-ऽग्युर् (शास्त्रभाषान्तर)-संग्रहे–

1. स्तोत्रसंग्रहः	1109-1171	71	1	6,000
2. तन्त्रटीकाः	1180-3785	1,616	78	5,80,000
3. प्रज्ञापारमिताटीकाः	3786-3823	38	16	1,14,000
4. माध्यमिकशास्त्रटीकाः	3824-3980	157	17	1,36,000
5. सूत्रटीका	3181-4019	39	10	70,000
6. विज्ञानवाद.टीकाः	4020-4085	66	16	1,06,000
7. अभिधर्मटीका	4086-4103	18	11	79,000
8. विनयटीका	4104-4149	46	18	1,28,000
9. जातकलेखादि	4150-4202	43	6	44,000
10. प्रमाणशास्त्रटीकाः	4203-4268	66	20	1,58,000
11. व्याकरणकोशादि	4269-4305	37	4	32,0000
12. आयुर्वेदादि	4306-4327	22	6	47,000
13. नीतिशास्त्रादि	4328-4345	18	0	7,000
14. प्रकीर्णानि	4346-4446	19	9	83,000
योगः		**3356**	**212**	**15,20,000**
महायोगः		**4446**	**314**	**23,49,000**

चीनदेशे भाषान्तरकार्यारम्भः क्रैस्तव 67 वत्सरे काश्यपमातङ्गतः। समापनं तु कुबिले-खानस्य शासने 1300 क्रैस्तववत्सरे। भोटदेशे क्रैस्तवसप्तशतमध्यतः त्रयोदशशतकं यावन्निरन्तरं, ततः सप्तदशशतकमध्येऽपि केचन ग्रन्था अनूदिताः।

चीन-भोट-भाषान्तररूपेण रक्षितेषु ग्रन्थेषु संस्कृतमूलं न द्विशताधिकानाम्। तेष्वपि भूयांसो भोटदेशेऽधिगताः, तत्रत्येषु प्राचीनमहाविहारेषु भवितुमर्हन्त्यन्येऽपि संस्कृततालपत्रग्रन्थाः।

विनयग्रन्थेषु क्रिस्तुप्राक्कालीनस्य भारतीयेतिवृत्तस्यानेकेऽन्यत्र दुर्लभा अंशाः अभिधर्मवाङ्मयेऽस्माकं दर्शनस्य मूलस्रोतसः सङ्केतो लभ्येत। माध्यमिकतन्त्रं विज्ञानवादश्च शाङ्करवेदान्तस्य मूलाधारः। तयोर्भोटभाषायां सार्धलक्षद्वयश्लोकमिता ग्रन्थाः। सार्धशतसहस्रतोऽधिकाः प्रमाणन्यायशास्त्रस्य निबन्धरत्नराशिरिव नः। अत्रैव धर्मकीर्तेः सप्त निबन्धाः, दिङ्नागस्य मध्यकालीनन्यायजनकस्य 'प्रमाणसमुच्चयः', प्रज्ञाकरस्य 'प्रमाणवार्तिक-भाष्यं', देवेन्द्रमति-शाक्यमति-यमारि-शङ्करानन्दादीनां प्रमाणवार्तिके टीकानुटीका बृहत्यः। अत्राल्पीयांस एव प्रबन्धाः मूले समुपलभ्यन्ते। प्राचीनदर्शनोद्दिधीर्षुभिर्मनीषिभिः काले पुनरावर्तनं विलुप्तानां तेषां ग्रन्थानां नूनमनुष्ठेयम्। सहस्राधिकवत्सरैः सहस्राधिका नः पूर्वजा सुमहता प्रयासेनायासेन च जुगुपुर्महार्घं शेवधिम्।

ऋणं हि तेषां तत्, कथं स्यात्ततो मुक्तिरित्यवधेयम् इदानीन्तनैरनुयायिभिश्च विपश्चिद्भिः।

(संस्कृत-प्रतिभा, साहित्य-अकादेमी, नवदेहली, 1 अप्रैल, 1959 (पृ. 49-52) तः सङ्कलितोऽयमालेखः)

4

बौद्ध संस्कृत की उत्पत्ति के कारण

- डॉ. उमाशंकर व्यास

बौद्ध-धर्म के साहित्य के लिए बौद्ध संस्कृत का प्रवेश किन कारणों से हुआ? विद्वानों ने इस प्रश्न का उत्तर तलाशते हुए अनेक अनुमान किए हैं। एक विद्वान् ने इसका कारण बौद्ध भिक्षु संघ में ब्राह्मण जाति में उत्पन्न व्यक्तियों का प्रवेश माना है। उनका कहना है कि पालि विनय पिटक के चुल्लवग्ग तथ अन्य शाखाओं के विनय पिटक के उपलब्ध चीनी अनुवाद सभी एक मत से इस बात की पुष्टि करते हैं कि बुद्ध-वचनों को छान्दस् में संग्रह करने की बात ब्राह्मण जाति में उत्पन्न दो भिक्षुओं ने ही उठायी थी। यद्यपि भगवान् बुद्ध ने उन दोनों को डाँटकर चुप करा दिया था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्षु-संघ में ब्राह्मण जाति में उत्पन्न भिक्षुओं का एक मजबूत वर्ग अवश्य था। इस वर्ग के बीच छान्दस के प्रयोग की उठती हुई माँग को बुद्ध पूरी तरह समाप्त नहीं कर पाये, तो और बौद्धभिक्षु संघ में ब्राह्मणों के प्रवेश से भाषागत समस्याएँ अवश्य उठी होंगी। सम्भव है कि बुद्ध के जीवन-काल में ये समस्याएँ उग्ररूप में नहीं उभरी हों, परन्तु उनके महापरिनिर्वाण के उपरान्त भाषा सम्बन्धी मतभेद अवश्य खड़े हुए होंगे। इन विद्वानों का अनुमान है कि भिक्षु संघ के अन्दर एक ऐसी जमात बन गयी होगी, जो दिनोंदिन अधिक से अधिक छान्दस्-निष्ठ बोली के प्रयोग पर बल देती रही हो। इसी के फलस्वरूप बौद्ध भिक्षु संघ में भाषागत बदलाव आया होगा। समय बीतने के साथ साथ इस बदलाव को एक सुनिश्चित स्वरूप मिल गया होगा। कालान्तर में यही सुनिश्चित स्वरूप वाला भाषा परिवर्तन 'बौद्ध संस्कृत' अथवा 'बौद्ध संकर संस्कृत' के रूप में प्रकट हुआ होगा। इन विद्वानों के अनुसार, यह क्रम कई सदियों तक चला। भाषा वैज्ञानिक इतिहासकारों ने इस क्रम को तीसरी सदी ई.पू. से चौथी, पाँचवी सदी ई. तक अर्थात् आठ सदियों तक विस्तारित हुआ माना है।[1]

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि भगवान् बुद्ध ने 'छान्दस्' में बुद्धवचनों को सीखने से मना किया था। यहाँ 'छान्दस्' का स्पष्ट आशय 'मन्त्रात्मक वैदिक-भाषा' से है, जनसामान्य में प्रचलित उस संस्कृत से नहीं है, जिसे पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में भाषा कहा है। भगवान् बुद्ध के कथन से इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि उन्होंने उस समय के जम्बुद्वीप के विविध क्षेत्रों में प्रचलित जनभाषा में बुद्धवचनों के संग्रह की अनुमति दी थी। ब्राह्मण-कुलों में उत्पन्न बुद्ध के कुछ शिष्यों ने उनकी शिक्षा का ही अनुपालन करते हुए संस्कृत के उस स्वरूप को भी बुद्धवचनों के संग्रह का माध्यम बनाया जो उनके काल में भारत

1. डॉ. सत्यदेव कौशिक, सुवर्णप्रभाससूत्र का डॉ. संघसेन सिंह द्वारा लिखित पुरोवाक्, पेज 2.

के औदीच्य क्षेत्रों में सामान्य जनों द्वारा प्रयुक्त एक जनभाषा थी। प्रो. टी. बरो आदि अनके विद्वानों ने इस भाषा को सामान्य जनों के बीच बोलचाल में प्रयुक्त संस्कृत माना है।[2]

इन विद्वानों का यह तर्क था कि बौद्धों की इस संस्कृत भाषा में शिष्ट संस्कृत के स्थान पर सामान्य जनों की बोलचाल की भाषा का प्रभाव अधिक था। इनका यह भी कहना है कि यह भाषा उस समय के पश्चिमोत्तर भारत के समाज में प्रचलित वह संस्कृत थी, जिसका उन्मुक्त प्रयोग न केवल बौद्धों ने किया, अपितु जैनों एवं हिन्दू पुराणों के रचनाकारों ने भी सामान्य रूप से किया। कीलहॉर्न एवं प्रो.कीथ जैसे पश्चिमी विद्वानों ने भी यह कहा है कि मूल रूप से पुराण पालि-भाषा अथवा किसी दूसरी प्राकृत भाषा में रचे गये थे। बाद में इन्हें शुद्ध संस्कृत में रूपान्तरित किया गया; परन्तु उस रूपान्तरण में भी मूल भाषा के कुछ चिह्न रह गये। यह ध्यान में रखते हुए कि पुराण का प्रचार ब्राह्मणों की अपेक्षा सूतों ने अधिक किया, यह कहना उपयुक्त है कि हिन्दू पुराणों एवं बौद्धों के कुछ आगमों की संस्कृत जनसामान्य द्वारा सरलता से ग्राह्य वह संस्कृत थी, जो उस समय की मध्य भारतीय आर्य बोलियों में औदीच्य विभाषा की प्रतिनिधि हो सकती है। यदि वह शुद्ध संस्कृत और पालि के बीच वाली गढ़ी हुई कृत्रिम भाषा रहती, जैसा कि वर्नाउफ नामक विद्वान् की मान्यता है, तो इसी वर्ण संरचना एवं शब्दरूप संरचना पालि भाषा के अधिक समीप होनी चाहिए थी। परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। इसलिए बौद्ध संस्कृत को उस समय के सामान्य जनों द्वारा बोली जा रही सामान्य संस्कृत अथवा औदीच्य विभाषा मानना ही अधिक तर्क संगत है, जैसा कि प्रोफेसर विन्टरनिस आदि विद्वानों ने भी माना है।

बौद्ध वाङ्मय में संकर संस्कृत अथवा संस्कृत के प्रवेश की पृष्ठभूमि को समझने के लिए कुछ विद्वानों ने प्राचीन भारतीय आर्य भाषा अर्थात् संस्कृत तथा मध्य भारतीय आर्य भाषाओं अर्थात् उस समय की विभिन्न प्राकृतों के बीच चल रहे आपसी संघर्ष एवं उनके बीच मौजूद सामंजस्य को आवश्यक कारण माना है। यह सत्य है कि लगभग छठी सदी ई.पू. से ही ब्राह्मण साहित्य की एकमात्र भाषा संस्कृत थी। चौथी सदी ई.पू. में लिखी गई पाणिनि की अष्टाध्यायी से संस्कृत के सुदृढ़ अस्तित्व की पुष्टि हो जाती है। महाभारत के प्राचीनतम अंश भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। भारतीय आर्य मूल की भाषाओं के लम्बे इतिहास का सूक्ष्म परीक्षण करने पर यह बात सामने आती है कि अपने विकास के इतिहास के सभी चरणों में संस्कृत को बोलचाल तथा साहित्यिक दोनों ही स्तरों की मध्य भारतीय आर्य भाषाओं से कड़ी टक्कर लेनी पड़ी। यह प्रतिस्पर्धा उत्तरकाल की अपेक्षा प्रारम्भिक काल में अधिक प्रबल दिखती है। अधिकतर आधुनिक विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि बौद्धों एवं जैनों की श्रमण परम्परा के विकास क्रम के प्रारम्भिक चरणों में संस्कृत किसी भी रूप में श्रमण साहित्य कि लोकप्रिय माध्यम के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकी थी। इन धर्मों के संस्थापकों ने ब्राह्मण परम्परा के विपरीत होने के कारण ही मागधी या अर्धमागधी जैसी जनभाषाओं को अपने धर्मोपदेश के लिए सशक्त माध्यम के रूप में चुना था। पालि भाषा थेरवाद साहित्य का सशक्त माध्यम ऐसे समय में बनी, जब न केवल संस्कृत महाकाव्यीय रचनाओं के रूप में अस्तित्व में आ चुकी थी, अपितु यह साहित्यिक संस्कृत के रूप में तेजी से बदल रही थी।

तीसरी सदी ई.पू. में सम्राट् अशोक ने भी अपने अभिलेखों में भी विभिन्न क्षेत्रों की बोलियों को उत्कीर्ण कराया तथा संस्कृत की पूर्णतः उपेक्षा की। यह अनुमान किया जा सकता है कि मौर्य काल तक बुद्ध और महावीर की वेदविरोधी धार्मिक परम्पराओं का वर्चस्व स्थापित हो चुका था। सम्भवतः इसी कारण ब्राह्मण परम्परा के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई संस्कृत भाषा को उचित महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका, यद्यपि इस समूची कालावधि में साहित्यिक संस्कृत भाषा में अनेक रचनाएँ लिखी जा रही थी।

2. T. Burrow "The Sanskrit Language", pp. 51-53.

188 ई.पू. में पुष्यमित्र शुंग के राज्यारोहण के साथ साथ ब्राह्मणों की वैदिक परम्परा फिर से जीवित हो गयी। इस राजनैतिक परिवर्तन का प्रभाव उस समय के भाषाई वातावरण पर भी पड़ा। वैदिक परम्परा के विरोधियों के साहित्यिक लेखनों के साथ जो प्राकृत भाषायें जुड़ी हुई थीं, उनका महत्त्व धीरे-धीरे गौण हो गया तथा इनका स्थान ब्राह्मण परम्परा के साथ जुड़ी हुई संस्कृत भाषा ने ले लिया। ई.पू. की प्रथम सहस्राब्दी की समाप्ति के लगभग प्राकृतों की तुलना में संस्कृत अधिक लोकप्रिय हो गयी और इसका प्रभाव सभी क्षेत्रों पर धीरे-धीरे बढ़ने लगा। अभिलेखों के साक्ष्यों से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। एक विद्वान् ने इस सम्बन्ध में यह कहा है कि–मूलरूप से सम्पूर्ण भारत में अभिलेखों की भाषा मुख्य रूप से प्राकृत थी तथा संस्कृत सर्वप्रथम पहली सदी ई.पू. के उत्तरार्द्ध के लगभग उत्तरभारतीय अभिलेखों में दिखलाई देती है। संस्कृत ने धीरे-धीरे देश के सभी भागों से भारतीय अभिलेखों के क्षेत्र से प्राकृत को बाहर निकाल दिया।[3]

यहाँ पर यह स्मरणीय है कि प्रारम्भ में भी संस्कृत का प्रयोग प्राकृतों के समानान्तर रूप में दिखलाई पड़ता है; जैसा कि मथुरा के कुषाण शासकों तथा नागार्जुनकोण्डा के सातवाहन शासकों के अभिलेखों से प्रमाणित हो जाता है। आगे चलकर संस्कृत ने प्राकृतों को पूरी तरह से बे-दखल कर दिया तथा यह भाषा जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो गयी। उदाहरण के लिए 150 ई. का रुद्रदामन् का शिलालेख पश्चिमी क्षेत्र में प्राकृतों पर संस्कृत की विजय का संकेतक कहा जा सकता है। यह सत्य है कि चौथी एवं पाँचवी सदी तक दक्षिणी क्षेत्रों में संस्कृत के साथ साथ प्राकृतों का प्रयोग भी निरन्तर जारी रहा; परन्तु उत्तर गुप्त काल में एवं उसके उपरान्त शुद्ध एवं सामान्य संस्कृत ने प्राकृतों को पूरी तरह से बे-दखल करके अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। अभिलेखों में प्रतिबिम्बित यह भाषागत क्रान्ति धार्मिक एवं साहित्यिक सभी क्षेत्रों में अवतरित हुई। बौद्ध साहित्य भी परिवर्तन की इस आँधी से अप्रभावित नहीं रह सका।

प्राचीन भारतीय बौद्ध साहित्य पर सरसरी निगाह डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धों के प्रारम्भिक आगम अथवा बुद्धवचनों के संग्रह पूरी तरह से मागधी जैसी मध्य भारतीय आर्य भाषा में संग्रह किये गए; परन्तु ई. शतक के प्रारम्भ होने के लगभग मध्य चरण की भारतीय आर्य भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ने लगा। एक विद्वान् के अनुसार बौद्ध संकर संस्कृत के रूप में पालि रूपान्तरण जान-बूझकर किये गये प्रयासों से हुआ था। "अत्यन्त प्रारम्भिक चरण में पालि की स्वरूप संरचना के दौरान वास्तविक मध्य भारतीय आर्य भाषा के शब्दों के साथ-साथ तथा उनके स्थानापन्नों के रूप में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के अनके शब्दों के उन्मुक्त प्रयोग बौद्धों की मध्य भारतीय आर्य भाषाओं पर संस्कृत के लगातार बढ़ रहे प्रभाव के कारण किए गए। इसके फलस्वरूप पालि एक कृत्रिम भाषा के रूप में बदलने लगी... जब कभी भी हमें ऐसे शब्द मिल जाते हैं, जो कि मध्य भारतीय आर्य भाषाओं की ध्वनि-संरचना के अनुरूप नहीं है; तो ऐसे पालि शब्दों को कृत्रिम पालि शब्दों की श्रेणी में रखना चाहिए। जिन लोगों ने इस प्रक्रिया को प्रारम्भ किया था, वे लोग साफ-तौर पर अपनी पवित्र भाषा को संस्कृत के अधिक से अधिक नजदीक पहुँचा देने की बात को मन में रखते थे। बौद्धों के बीच यह भाषा सम्बन्धी ऐतिहासिक परिवर्तन विशेष रूप से उत्तर भारत के बौद्धों के बीच हुआ।

ईसवी शतक के प्रारम्भ होने के आस-पास उत्तर भारत की सर्वास्तिवाद जैसी शाखाओं ने अपनी धार्मिक एवं दार्शनिक रचनाओं के सशक्त माध्यम के रूप में प्राकृत की जगह संस्कृत को अपना लिया। सम्भवतः इसी शाखा से जुड़े हुए प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष ने बुद्धधर्म के कवित्व-मय प्रकाशन के सशक्त माध्यम के रूप में संस्कृत का आश्रय लिया। अश्वघोष की रचनाओं से भी यह सूचित होता है

3. दिनेश चन्द्र सरकार : Indian Epigraphy, पृ. 37

कि उनके समय तक संस्कृत बौद्धों के बीच भी व्यापक रूप से स्वीकरणीय हो चुकी थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बौद्धों द्वारा मिश्रित अथवा शुद्ध संस्कृत को अपनाये जाने के पीछे भाषा से सम्बन्धित यही ऐतिहासिक पृष्ठभूमि काम कर रही होगी। यह भी सम्भव है कि बौद्ध संस्कृत के उदय के पीछे कुछ व्यावहारिक आवश्यकताएँ भी कार्यरत रही हों।

प्राचीन अभिलेखों तथा प्राचीन बौद्ध आगमों में मध्य चरण की जिन भाषाओं या बोलियों का प्रयोग किया गया है; वे विशेष क्षेत्र में बोली और समझी जाने वाली अलग अलग बोलियाँ थीं। इनमें आपस में पर्याप्त विभेद भी थे, तथा इनमें से कोई भी एक बोली समूचे भारत में बोधगम्य नहीं थी। विद्वानों ने सम्राट् अशोक के अभिलेखों में जो विभिन्न बोलियाँ चिह्नित की हैं, उनसे भी इसी तथ्य की ओर संकेत मिलता है कि इन बोलियों में से कोई भी एक बोली अशोक के पूरे साम्राज्य में आम आदमी द्वारा समझी नहीं जा सकती थी। इनसे विपरीत संस्कृत ही एकमात्र ऐसी भाषा थी, जो समूचे भारतवर्ष के शिक्षित वर्गों द्वारा समझी जाने वाली उस समय की एकमात्र सम्पर्क भाषा थी। समूचे भारत को सांस्कृतिक एकता में बाँधकर रखने वाले अनके कारणों में संस्कृत भी अन्यतम थी। इसलिए जब बौद्धों ने समूचे भारत में व्यापक रूप से बुद्धधर्म के सन्देश को फैलाना चाहा होगा, तब उन्हें व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु संस्कृत को अपनाना पड़ा होगा।

प्रो. बी.एन. मुखर्जी ने भी यह कहा है कि दूरवर्ती क्षेत्रों तक राज्य करने वाले कुषाणों ने भी यह अनुभव किया कि अपने भारतीय उपनिवेश के अन्दर एक सम्पर्क भाषा की आवश्यकता है। अपनी-अपनी उत्पत्ति के क्षेत्रों के अनुसार प्राकृत भाषायें विविध रूप की थीं, जबकि महाकाव्यीय एवं काव्यीय संस्कृत भाषा को एकरूपता तथा सार्वभौमिकता की सुविधा प्राप्त थीं। इस कारण प्रशासन की भाषा के रूप में संस्कृत को स्वीकार कर लिया गया।[4]

यह भी सम्भव है कि ब्राह्मण परम्परा द्वारा जब बौद्ध परम्परा को कड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा, तब बौद्धों ने श्रद्धालुओं को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ब्राह्मण परम्परा की अन्य लोकप्रिय बातों को अपनाने के साथ साथ विवश होकर संस्कृत-भाषा के प्रयोग को अपना लिया। पुष्यमित्र शुंग के राज्यारोहण के साथ साथ प्राकृतों की लोकप्रियता धीरे-धीरे संस्कृत ने छीन ली थी। पवित्र धर्मवचनों एवं गम्भीर शास्त्रीय चिन्तन की अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में संस्कृत को उस समय के भारतीय समाज में महती प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। अतः जनता के बीच गम्भीर चिन्तन के माध्यम के रूप में समादृत होने के कारण भी बौद्धों ने संस्कृत को अपनाया होगा। यह भी स्वाभाविक है कि जब बौद्धों ने मूल रूप से मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में संग्रह किए गए अपने धर्मग्रन्थों को संस्कृत में रूपान्तरित किया, तो इस रूपान्तरण में भी मौलिक स्वरूप के कुछ न कुछ प्रभाव चिह्न अवश्य शेष रह गये होंगें। अतः इस बात की सम्भावना अत्यधिक प्रबल प्रतीत होती है कि प्राकृत मिश्रित बौद्ध साहित्य की संस्कृत मूल बौद्ध रचनाओं के अत्यन्त कृत्रिम संस्कृतीकरण के प्रयास का प्रतिफल है।

कुछ विद्वानों ने बौद्ध चिन्तन में बुद्ध के स्वरूप के विषय में उत्तरकाल में होने वाले परिवर्तनों को बौद्धों के भाषा विषयक परिवर्तित विचारों का मुख्य कारण माना है। महासांघिकों की लोकोत्तरवादी शाखा ने जब बुद्ध को लोकोत्तर मानव मानना शुरु किया; तभी से लोकोत्तरवादी शाखा ब्राह्मण परम्परा के और भी अधिक समीप आ गयी। बुद्ध के दैवीकरण के विचार के साथ-साथ उनके धर्मोपदेश की भाषा से सम्बन्धित उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आ गया।

4. प्रो. बी.एन. मुखर्जी, "Rise and fall of the Kusana Empire" page 37

एक विद्वान् का यह विचार है कि बौद्ध संकर संस्कृत उस भाषा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसका प्रयोग समूचे भारत के बौद्धों द्वारा सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में किया जाता था। बौद्ध-ग्रन्थों के संस्कृतीकरण का एक कारण यह है कि मध्य भारतीय आर्य भाषा परिवार की बोलियों परस्पर में बोधगम्य नहीं रह गयी थी। इनका यह भी कहना है कि मिश्रित संस्कृत केवल बौद्धों तक ही सीमित नहीं थी, जैसा कि अभिलेखीय प्रमाणों से भी स्पष्ट है।

"बौद्धों के ये ग्रन्थ ऐसी संस्कृत में लिखे गये थे, जिसने बहुत बड़ी संख्या में अनेक बोलियों से शब्दों को उधार में ले लिया था। संस्कृतीकरण इन शब्दों का हुआ, ग्रन्थों का नहीं।" बौद्ध साहित्य के संस्कृतीकरण की यह प्रक्रिया पहली सदी ई. में विशेष रूप में उत्तर एवं पश्चिमोत्तर में हुए संस्कृत के साहित्यिक विकास के द्वारा प्रभावित हुई थी। बुद्ध के स्वरूप से सम्बन्धित बौद्धों के दृष्टिकोण में होने वाले परिवर्तन के साथ-साथ अथवा बुद्ध के दैवीकरण के साथ साथ उनके धर्म-सन्देश का सम्प्रेषण ऐसी भाषा में किया गया, जो उस समय की अधिक प्रभावशाली देव-भाषा संस्कृत के समीपतम थी। फिर भी यह मानक संस्कृत नहीं थी, अपितु पाणिनीय व्याकरण सम्मत संस्कृत के साथ बोलियों के शब्दों के सम्मिश्रण के रूप में थी। इसमें पालि के छन्द-विधान एवं मुहावरों के कुछ चिह्न भी मौजूद थे। चूँकि इस तरह की भाषा में कुछ अभिलेख भी प्राप्त हुए है, इसलिए यह केवल बौद्धों की विशिष्ट भाषा नहीं है, अपितु संक्रमण काल की ऐसी भाषा है; जिसका प्रयोग बौद्धों एवं ब्राह्मणों दोनों ने ही किया था।[5]

बौद्ध संस्कृत के उदय के प्रश्न से सम्बन्धित इन सभी सम्भावनाओं का सूक्ष्म परीक्षण करने पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि बौद्धों ने जिस मिश्रित संस्कृत का प्रयोग किया है वह भारतीय आर्य भाषा परिवार के मध्य चरण के दसूरे काल अर्थात् द्वितीय प्राकृत के चरण का प्रतिनिधित्व करती है, अर्थात् यह दसूरे चरण की साहित्यिक प्राकृतों की समकालीन है। मागधी आदि बोलियों में पहले जिन बुद्धवचनों का संग्रह हुआ था, उन्हीं का बोलचाल में प्रयुक्त सामान्य संस्कृत में जो कृत्रिम रूपान्तरण हुआ उसी का प्रतिफल यह बौद्ध संस्कृत है।

5. Damsteegt: Epigraphical Hybrid Sanskrit, p.241

शोधपत्र-खण्डः

5

बौद्ध संस्कृत-वाङ्मय का सर्वेक्षणात्मक विवेचन

- डॉ. प्रफुल्ल गड़पाल
(सहायकाचार्य)
राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्,
श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग (उत्तराखण्ड)
ई-मेल–prafullgadpal@gmail.com
मो.–98914 00819

महाकारुणिक तथागत भगवान् गौतम बुद्ध ने जन-जन के कल्याण तथा लोक-मंगल के निमित्त से सम्बोधि-प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण तक अपने जीवन के 45 वर्षों तक ग्राम-नगर में धम्म-देशनाएँ प्रदान कीं। सम्बोधि-प्राप्ति के पश्चात् उनके मुख से निकले प्रथम उदान (पठमा वाचा) से लेकर महापरिनिर्वाण के पूर्व कथित अन्तिम उपदेश तक (पच्छिमा वाचा) इन 45 वर्षों में उनके वचनामृत से असंख्य लोगों को दुःख के समूल निवारण की औषधि प्राप्त हुई। उनकी देशनाओं से तत्कालिक समाज के एक बहुत बड़े जन-समूह को जीवन-मरण के भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का अनमोल उपाय प्राप्त हुआ। भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। तथागत के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके ये अमृत-वचन सुदीर्घ-काल के लिए सुरक्षित हो तथा लोक-मंगल की यह शृंखला जारी रहे–इसलिए उनके अग्रश्रावकों ने राजगृह (राजगिर) में प्रथम संगीति का आयोजन किया तथा भगवान् बुद्ध की वाणी का प्रथमतया संगायन किया। संगायन के क्रम में संगायित तथा संकलित वाणी ही कालान्तर में तिपिटक कहलायी।

इस प्रकार बौद्ध धम्म का तिपिटक रूपी प्राचीन साहित्य पालिभाषा में प्राप्त होता है; जो थेरवादी परम्परा के अन्तर्गत पावन तिपिटक (विनय, सुत्त और अभिधम्म पिटक) के रूप में प्राप्त होता है। इसी तिपिटक साहित्य के स्पष्टीकरण के लिए बाद में इस पर भारत के अतिरिक्त श्रीलंका आदि देशों में अट्ठकथा, टीका, भाष्य तथा अन्य साहित्य रचा गया। फिर अनुपिटक साहित्य के रूप में इसका विस्तार हुआ। कालान्तर में यह साहित्य क्रमशः विस्तारित होता गया। आज तो पालि-साहित्य के अन्तर्गत व्याकरण, छन्द, अलंकार इत्यादि साहित्य भी प्राप्त होता है।

सम्राट् अशोक के समय संघभेद के पश्चात् बौद्ध साहित्य संस्कृत-भाषा में भी लिखा जाने लगा। आरम्भ काल में तो यह पालि-संस्कृत मिश्रित रूप में लिखा गया, किन्तु कालान्तर में विशुद्ध संस्कृत में आचार्यों ने अतीव रमणीय और हृदय-स्पर्शी साहित्य रचा।[1]

प्रस्तुत पत्र में इसी बौद्ध-संस्कृत साहित्य पर चर्चा की जायेगी।

---

1. बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा, डा. रामायण प्रसाद द्विवेदी, पृ. 134

बौद्ध संस्कृत साहित्य द्वादशांगों में प्राप्त होता है। तद्यथा–

सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्।
इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्।
उपदेशाद्भुतौ धर्मौ द्वादशाङ्गमिदं वचः॥

इस प्रकार यह बौद्ध संस्कृत साहित्य अत्यन्त विस्तृत साहित्य है। बौद्ध संस्कृत साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग आज प्राप्त नहीं हो पाया है, किन्तु इसके चीनी, तिब्बती तथा मंगोल आदि भाषाओं में प्राप्त अनुवादों के आधार पर अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि यह साहित्य अत्यन्त परिपूर्ण तथा समृद्ध था। आज बड़ी संख्या में बौद्ध संस्कृत साहित्य के अनूदित ग्रन्थ चीनी तथा तिब्बती भाषा में प्राप्त होते हैं।

बौद्ध संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत प्रमुखः दो प्रकार का साहित्य अन्तर्भावित होता है–

1. पालि-संस्कृत मिश्रित बौद्ध संस्कृत साहित्य तथा

2. विशुद्ध बौद्ध संस्कृत साहित्य।

उक्त दोनों प्रकार के साहित्य के अन्तर्गत अन्य उप-विभाग भी प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. पालि-संस्कृत मिश्रित बौद्ध-संस्कृत-साहित्य

यह एक अत्यन्त समृद्ध साहित्य है। इसके अन्तर्गत महायान-सूत्र, अवदान साहित्य, चरितात्मक-साहित्य, त्रिपिटक-साहित्य, दर्शन-साहित्य, धारणी, तन्त्र ग्रन्थ तथा अन्य महत्त्वपूर्ण साहित्य प्राप्त होता है। इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

1.1 महायान-सूत्र–

महायान-सूत्रों के तहत नौ ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इन्हें **'वैपुल्य-सूत्र'** भी कहा जाता है। महायानी बौद्ध देशों में इनका अत्यन्त सम्मान हैं। बौद्ध-विहारों तथा मठों में इनकी पूजा-अर्चना की जाती है। ये महायान-सूत्र इस प्रकार है–

1. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, 2. सद्धर्म-पुण्डरीक सूत्र, 3. ललित-विस्तर, 4. लंकावतार-सूत्र, 5. सुवर्णप्रभास सूत्र, 6. गण्डव्यूह सूत्र, 7. तथागत-गुह्यक सूत्र, 8. समाधिराज सूत्र और 9. दशभूमीश्वर सूत्र।

1.2 अवदान-साहित्य–

अवदान बौद्ध संस्कृत साहित्य का अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

1. बोधिसत्त्वावदानमाला (जातकमाला), 2. अवदानशतक, 3. अवदानकल्पलता, 4. दिव्यावदान, 5. द्वात्रिंशत्यवदानमाला, 6. कल्पद्रुमावदान, 7. रत्नावदानमाला, 8. विचित्र-कर्णिकावदानमाला, 9. चित्रितकर्णिकावदान, 10. भद्रकल्पावदान तथा 11. अन्य महत्त्वपूर्ण अवदान-साहित्य।

1.3 बुद्धचरितात्मक साहित्य–

इसके अन्तर्गत **महावस्तु अवदान** आता है, जिसमें भगवान् बुद्ध की जीवनी आती है। यह ग्रन्थ बौद्ध-मिश्रित संस्कृत साहित्य का अनमोल रत्न है। इसके अन्तर्गत ललितविस्तरादि ग्रन्थ भी आते हैं।

1.4 तन्त्र साहित्य–

महायान बौद्ध सम्प्रदाय कालान्तर में वज्रयान या तन्त्रयान के रूप में विकसित हो गया था। अतः इस सम्प्रदाय के संस्कृत ग्रन्थ भी लिखे गये। यह साहित्य **तान्त्रिक साहित्य** कहा जाता है। इसे तन्त्र-साहित्य भी कहते हैं। यह साहित्य भी विशाल संख्या में बौद्ध संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत प्राप्त होता है। इसके अन्तर्गत **सर्वतथागतसंग्रह, क्रियातन्त्र, योगिनीतन्त्र, सहजयान, तन्त्रदर्शन, योगतन्त्र, योगोत्तरतन्त्र** इत्यादि तन्त्र ग्रन्थ प्रमुखता से गिने जाते हैं।

1.5 अन्य महत्त्वपूर्ण साहित्य–

उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध मिश्रित संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत धारणी तथा अन्यान्य सुविशाल साहित्य प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध मिश्रित संस्कृत के तिब्बती तथा चीनी आदि भाषाओं के तहत सुविशाल और विस्तृत अनूदित साहित्य भी प्राप्त होता है। तिब्बत में **4,566** से अधिक भारतीय बौद्धधर्म के अनूदित ग्रन्थों का संकलन हैं।

वे दो वर्गों में विभाजित हैं–

1. ब्कह्-ग्युर–जो अधिकतर कंजुर कहलाता है, इसमें **1,108** ग्रन्थ हैं।

2. बस्तन-ग्युर–जो तंजुर कहलाता है, उसमें **3,458** ग्रन्थ हैं।

कंजुर के और भी सात विभाग किए गए हैं–

1. विनय, 2. प्रज्ञापारमिता, 3. बुद्धवतंसक, 4. रत्नकूट, 5. सूत्र, 6. निर्वाण और 7. तन्त्र।

तंजुर के और दो ही विभाग हैं–

1. तन्त्र और 2. सूत्र।

कई भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद चीनी भाषा मे उपलब्ध होते हैं। अपनी ग्रन्थ-सूची में बुनयिउ नानजियो ने **1,662** तक ग्रन्थ गिनाएँ हैं, जो चार विभागों में वर्गीकृत हैं–

1. सूत्र-पिटक, 2. विनय-पिटक, 3. अभिधर्म-पिटक और 4. विविध।[2]

2. विशुद्ध-संस्कृत-साहित्य

बौद्ध संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत द्वितीय भाग है–विशुद्ध संस्कृत साहित्य। इस साहित्य के अन्तर्गत पाणिनीय व्याकरण पर आधृत साहित्य प्राप्त होता है। यह साहित्य पूर्णतः व्याकरण के नियमों के आधार पर आवद्ध होता है तथा साहित्यशास्त्रीय नियमों के तहत अनुशासित होता है।

यह साहित्य अत्यन्त विस्तृत साहित्य है। इसके अन्तर्गत क्लासिकल बौद्ध-संस्कृत-साहित्य आता है। जिसके अन्तर्गत काव्य, रूपकादि साहित्य; छन्द व अलंकार साहित्य; कोश साहित्य; स्तव व स्तोत्र साहित्य; सुभाषित व नीति साहित्य; पत्र व लेख साहित्य; दार्शनिक साहित्य; टीका व व्याख्या इत्यादि साहित्य

---

2. बौद्ध-साहित्य, बौद्ध-धर्म के 2500 वर्ष, पी.वी. बापट, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, दिसम्बर, 1956, पृ. 81

प्रचुरतया प्राप्त होता है। अश्वघोष, बुद्धघोष, शिवस्वामी, कुमारलात, आर्यशूर, हर्षवर्धन, नागार्जुन, मातृचेट इत्यादि बौद्ध आचार्यों का साहित्य इसके अन्तर्गत उल्लिखित किया जाता है। आधुनिक बौद्ध संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत भी काव्य, रूपक, उपन्यास तथा विविध प्रकार का स्फुट साहित्य प्राप्त प्राचुर्येण प्राप्त होता है।

सत्यव्रत शास्त्री, शान्तिभिक्षु शास्त्री, पं. ओगेटि परीक्षित् शर्मा, ओसकेरे नागप्पशास्त्री, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य, चन्द्रभानु त्रिपाठी, मिथिलेश कुमारी मिश्रा, डॉ. नारायण शास्त्री तथा डॉ. प्रफुल्ल गड़पाल की रचनाएँ इसके अन्तर्गत उल्लेखनीय हैं।

यह दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि भगवान् बुद्ध जैसे ऐतिहासिक महापुरुष को पौराणिकता का रंग भी किसी काल में चढ़ाया गया था। इस सन्दर्भ में तथागत भगवान् गौतम बुद्ध को पौराणिक धारा के तहत विष्णु के दशावतार के रूप में अनेक पुराणों में वर्णित किया गया। इसी तरह बौद्ध राजाओं, विभूतियों तथा घटनाओं का भी अनेक पुराणों में वर्णन प्राप्त होता है।

व्याकरण परम्परा में तो बौद्ध विद्वानों का योगदान अप्रतिम रहा। अनेक बौद्ध वैयाकरणों ने बौद्ध परम्परा के आधार पर व्याकरण के ग्रन्थ रचे। इनमें इन्द्रगोमी, चन्द्रगोमी, अनुभूतिस्वरूपाचार्य, चन्द्रकीर्ति इत्यादि प्रसिद्ध वैयाकरण रहें।

इस साहित्य को निम्नोक्त प्रकार से उपविभागों में विभाजित किया जा सकता है–

2.1 संस्कृत-साहित्य–

इस बौद्ध संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत साहित्यिक विधाओं के अन्तर्गत छन्द विशेष में ग्रथित अलंकृत काव्यों को परिगणित किया जाता है। छन्दोज्झित (छन्दोमुक्त) गद्य साहित्य भी इसके अन्तर्गत आता है तथा गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू-साहित्य भी इसके अन्तर्गत गिना जाता है। इस प्रकार पारम्परिक साहित्य विधाओं के अन्तर्गत गद्य-पद्य-चम्पू रूपी काव्य तथा विविध-विध रूपक साहित्य इसके अन्तर्गत आते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

2.1.1 पद्य-काव्य–

बौद्ध-संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत अत्यन्त मंजुल, भावभरित और अलंकारों से अलंकृत साहित्य की रचना की गई है। महाकवि अश्वघोष की कृतियाँ **बुद्धचरित** और **सौन्दरनन्द महाकाव्य** तो समस्त संस्कृत साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ मानी जाती हैं। आचार्य बुद्धघोष का **पद्यचूडामणि (सिद्धार्थचरित)** काव्य संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। कश्मीरी कवि शिवस्वामी का **कप्फिणाभ्युदय काव्य** राजा कप्फिण के चरित पर लिखा गया संस्कृत की उत्तम रचना है। क्षेमेन्द्र द्वारा रचित **बोधिसत्त्वावदान-माला** समस्त साहित्य जगत् में मूर्धन्य स्थान पर विराजित होती है।

हुएनसांग के मतानुसार, "अश्वघोष, आर्यदेव, नागार्जुन और कुमारलात–ये चारों साहित्याकाश के 'देदीप्यमान सूर्य' हैं, जिन्होंने विश्व को प्रकाशित किया।"

2.1.2 गद्यसाहित्य–

बौद्ध संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत अतीव रम्य गद्य साहित्य प्राप्त होता है। अवदान साहित्य का गद्य तो बड़ा ही रोचक और हृदयस्पर्शी है।

2.1.3 चम्पूसाहित्य–

यद्यपि बौद्ध संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत चम्पू-काव्यों को आधार मानकर साहित्य प्रणयन नहीं किया गया है, जैसा कि संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत इसे एक पृथक् विधा मानकर लेखन किया गया; तथापि यदि इस साहित्य की समीक्षा की जाये, तो इसमें चम्पू-काव्यों के समस्त गुण तथा विशेषताएँ अवश्य ही प्राप्त हो जायेगी।

इस श्रेणी में कुमारलात प्रणीत **कल्पना-मण्डतिका**, आर्यशूर विरचित **जातकमाला** और **दिव्यावदान** इत्यादि ग्रन्थ आते हैं।

2.1.4 रूपक और उपरूपक–

संस्कृत साहित्य में दृश्य-श्रव्यत्वात् रूपक-उपरूपक साहित्य श्रेष्ठ माना जाता है। इस संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत दस प्रकार के रूपक तथा अठारह प्रकार के उपरूपक प्राप्त होते हैं। इसमें भी संस्कृत में रचित बौद्ध-साहित्य विशेष उल्लेख प्राप्त करता है। महाकवि अश्वघोष ने दो नाटकों की रचना की थी; जिनका नाम **उर्वशी-वियोग और सारिपुत्रप्रकरण** हैं। उक्त दोनों ग्रन्थ विलुप्त है। सारिपुत्रप्रकरण नाटक खण्डित अवस्था में प्राप्त हुआ था। इस बौद्ध संस्कृत साहित्य की शृंखला में हर्षवर्धन विरचित **नागानन्द नाटक** संस्कृत नाटकों में अपने भाव और कला-पक्ष को लेकर विशेष प्रशंसनीय है। स्वयं राजा हर्षवर्धन ने इस नाटक का मंचन करवाया था, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। बौद्ध संस्कृत नाटकों में **नालन्दा-दहन** नामक रूपक का भी विशेष स्थान है।

2.1.5 छन्द और अलङ्कार–

संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से छन्दों और अलंकारों के द्वारा ही किसी काव्य में प्राणों का संचार किया जा सकता है। छन्द और अलंकार की दृष्टि से बौद्ध-परम्परा का संस्कृत-काव्य तथा काव्यशास्त्र को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है।

आधुनिक विद्वान तथा शोधकर्ता संस्कृत काव्यशास्त्र के महान् काव्यालंकार के प्रणेता आचार्य भामह और काव्यादर्श के रचयिता दण्डी को बौद्ध मानते हैं। काव्यशास्त्र पर रामशर्मा, मेधावी तथा धर्मकीर्ति का विशिष्ट योगदान रहा हैं। ये तीनों विद्वान् भी बौद्ध थे–ऐसा विद्वानों का मत है।

बौद्ध-संस्कृत-काव्य एवं काव्यशास्त्र परम्परा में कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सर्जन हुआ है। इसके अन्तर्गत कलिकाल-सर्वज्ञ-रत्नाकर शान्तिपाद-प्रणीत **'छन्दोरत्नाकर'** का विशेष योगदान है। यह ग्रन्थ संस्कृतच्छायानुवाद किया गया था। इसी प्रकार पालि भाषा में विरचित संघरक्षित कृत **सुबोधालंकार** आज संस्कृतच्छायानुवाद के पश्चात् संस्कृत साहित्य में सुशोभित हो रहा है। शिलामेघसेन कृत **स्वभाषालंकार** या सियबसलकुर भी संस्कृतच्छायानुवाद हो चुका है। इसी प्रकार संघरक्षित महास्वामी स्थविर की पालि-रचना वुत्तोदय भी संस्कृतच्छायानुवाद के पश्चात् **'वृत्तोदयम्'** के रूप में छन्दःशास्त्र की परम्परा में अपना संस्कृत साहित्य के संवर्धक-साहित्य के रूप यशोवर्धन कर रही है। वृत्तोदय का संस्कृतच्छायानुवाद डॉ. प्रफुल्ल गड़पाल द्वारा किया गया, जो शीघ्र ही प्रकाशित हो जायेगा।

शान्त-रस को सभी रसों में प्रधान बताया गया है। इसे मूलतः बौद्ध-धर्म के काव्यों ने ही अनुप्राणित किया तथा संवर्धित किया है। इस प्रकार बौद्ध-संस्कृत साहित्य परम्परा का संस्कृत काव्य तथा काव्यशास्त्र को विशेष योगदान है।

2.1.6 कोश-साहित्य–

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत कोश-साहित्य की एक समृद्ध और सुदीर्घ परम्परा है। इस परम्परा में बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का योगदान भी अनल्प है।

यह बौद्ध-संस्कृत कोश साहित्य दो प्रकार से प्राप्त होता है–1. शब्द-कोश के रूप में तथा 2. शास्त्रकोश के रूप में।

2.1.6.1 शब्द-कोश

अमरसिंह विरचित **अमरकोश** समस्त संस्कृत कोश-साहित्य में मूर्धन्य स्थान पर विराजित होता है। इस परम्परा में **शब्दभेद-प्रकाश** विशेष उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में बौद्ध मिश्रित संस्कृत के अनुसार स्वीकार्य शब्दों के दिये गये हैं। **विश्व-प्रकाश** नामक ग्रन्थ भी उल्लेख्य है।

2.1.6.2 शास्त्र-कोश

बौद्ध-संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत शास्त्र-कोशों की सुसमृद्ध परम्परा है। इस परम्परा में वसुबन्धु विरचित **अभिधर्मकोश** समस्त बौद्ध साहित्य का मुकुटमणि है। नागार्जुन रचित **धर्मसंग्रह** की इस परम्परा में विशेष ख्याति है। **धर्मसमुच्चय, अर्थविनिश्चयनिबन्धन** तथा **महाव्युत्पत्ति** नामक ग्रन्थ इस परम्परा में विशेष आदरार्ह हैं; जिसके अन्तर्गत बौद्ध धर्म तथा दर्शन से सम्बद्ध शब्दावली प्राप्त होती है।

2.1.7 स्तोत्र/स्तव, सुभाषित/नीति और पत्र/लेख इत्यादि साहित्य–

बौद्ध संस्कृत साहित्य में स्तोत्र अथवा स्तव साहित्य समृद्धता से प्राप्त होता है। सुभाषित तथा नीति साहित्य तो इसमें विशेष रूप से प्राप्त होता है। माना जाता है कि 'विश्व में जो कुछ भी सुभाषित है, वह सब बुद्ध-भाषित ही है'–**लोके यत्सुभाषितं वै, सर्वं तद् बुद्धभाषितं**। इसी प्रकार पत्र और लेखों की इसमें बड़ी ही सुन्दर परम्परा है। इस परम्परा के अन्तर्गत बौद्ध-विद्वानों ने अपने समकालिक राजाओं, अपने मित्रों अथवा प्रख्यात विभूतियों को पत्रों या लेखों के माध्यम भगवान् बुद्ध के विचारों तथा सिद्धान्तों से अवगत कराया तथा इनके आधार पर जीवन जीकर लोक सुखी हो सकता है; यह सन्देश दिया।

उपर्युक्त शीर्षकानुसार स्तोत्र, सुभाषित और पत्रादि साहित्य का विवरण अधोलिखित है–

2.1.7.1 स्तोत्र और स्तव

बौद्ध-संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत रचे गये स्तोत्र और स्तव बुद्ध-भक्ति से परिपूर्ण हैं। ये स्तोत्र और स्तव बड़े ही हृदयहारी और आकर्षक हैं। बौद्ध-स्तोत्रकारों में मातृचेट्, नागार्जुन, धर्मकीर्ति, सर्वज्ञमित्र आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, आर्यशूर, चन्द्रकीर्ति इत्यादि आचार्य प्रसिद्ध हैं। इसके अन्तर्गत **मातृचेट् का हेतुस्तव व अन्य स्तोत्र; नागार्जुन का चतुःस्तव; धर्मकीर्ति का बुद्धनिर्वाण-स्तोत्र; सर्वज्ञमित्र का स्रग्धरा-स्तोत्र; आर्यदेव का गण्डी-स्तव; चन्द्रकीर्ति का मध्यमकशास्त्र-स्तुति; हर्षवर्धन का सुप्रभात-स्तोत्र; भिक्षुणी चन्द्रकान्ता का अवलोकितेश्वर-स्तव; बन्धुदत्ताचार्य का करुणास्तव; चन्द्रदास का तारास्तुति** तथा अन्य स्तुति, स्तोत्र एवं स्तव साहित्य अतीव प्रसिद्ध है।

इस सम्बद्ध में **बोधिस्वरा** नामक वेबसाईट (http://www.bodhisvara.com/) पर ये सुने तथा डाउनलोड भी किये जा सकते हैं।

2.1.7.2 सुभाषित और नीति ग्रन्थ–

समस्त बौद्ध-संस्कृत-साहित्य एक सूत्रता में सुभाषित और नैतिकतापरक साहित्य ही है। इसमें प्रति पग पर भगवान् तथागत गौतम बुद्ध के सुभाषित और नीति वचन लोक का मार्गदर्शन करते से दिखाई पड़ते हैं। तथापि इसके अन्तर्गत पृथक्तया विशेषतः सुभाषित और नीति परक साहित्य भी लिखा गया है। इसके अन्तर्गत **वररुचि प्रणीत शतगाथा, चन्द्रगोमी कृत शिष्य-लेखाधर्म-भाष्य, शान्तिदेव रचित बोधिचर्यावतार, सुभाषितरत्न-कारण्डक और मसूराक्ष का नीतिशास्त्र** प्रसिद्ध है।

2.1.7.3 पत्र/लेखादि-साहित्यम्

बौद्ध संस्कृत साहित्य के अध्ययन-अवगाहन से ज्ञात होता है कि उस काल में अपने मित्रों अथवा समीपस्थ सुजनों को बौद्ध आचार्यों ने अनेक पत्र समय समय पर लिखा तथा उनका मार्गदर्शन किया था। इस शृंखला में **नागार्जुन का उदायिभद्र को लिखा गया सुहृल्लेख, मातृचेट का महाराज कनिष्क को लिखा गया महाराज-कनिष्क-लेख, चन्द्रगोमी का वीररत्न कीर्ति को लिखा गया शिष्यलेख, सज्जन का सूक्ष्मज्ञान को लिखा गया पुत्रलेख, दीपंकर का नयपाल को लिखित विमलरत्न लेख, जगन्मित्रानन्द का राजा जयचन्द के लिए लिखा गया चन्द्रराज लेख तथा चन्द्रगोमी का शिष्यलेख** अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं। इसी शृंखला में जितारी लिखित चित्तरत्न-विशोधनक्रम तथा बोधिभद्र का गुरुलेख विशेष उल्लेखनीय हैं।

2.1.8 दार्शनिककाव्यानि

बौद्ध आचार्यों ने संस्कृत में अनेक दार्शनिक काव्यों का प्रणयन किया। यद्यपि उनका मुख्य लक्ष्य कोई काव्य लिखना न था, तथापि दार्शनिक सिद्धान्त निरूपण के क्रम ये सुन्दर काव्य लिखे गये। भाषा, भाव और कला की दृष्टि से ये उत्कृष्ट काव्य हैं। इनमें **बुद्धपालित कृत माध्यमिक-कारिका की 'आकुतोभया' टीका, भावविवेक की माध्यमिक-कारि का व्याख्या, शान्तरक्षित का तत्त्वसंग्रह, मैत्रेयनाथ का महायान-सूत्रालङ्कार तथा अभिसमयालङ्कार-कारिका, वसुबन्धु कृत अभिधर्मकोश और दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय** प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

ये तो मात्र निदर्शन है। इनके अतिरिक्त बौद्ध-संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत हजारों ग्रन्थ लिखे गये।

2.1.9 टीका-व्याख्यादि साहित्य

बौद्ध-संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत टीका, व्याख्या तथा भाष्यादि लेखन की सुदीर्घ परम्परा है। इस परम्परा में दण्डी के काव्यादर्श के पर रत्नश्रीज्ञान द्वारा रचित टीका विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार **सद्धर्मपुण्डरीक टीका, सूत्रालंकार-वृत्ति भाष्य, प्रमाण-समुच्चय वृत्ति** इत्यादि शतशः प्रसिद्ध रचनाएँ लिखी गयीं। इस शृंखला में बौद्ध संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों पर वैयाकरणों एवं आचार्यों द्वारा लिखी गई टीकाएँ एवं व्याख्याएँ उल्लेख्य हैं।

2.2 आधुनिक-बौद्ध-संस्कृत-साहित्य

आधुनिक संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ तथा लेखन-धरातल बहुत विस्तृत है। इसके अन्तर्गत अनेक विषयों पर विविध नवीन-प्राचीन विधाओं एवं उपविधाओं साहित्य प्रणयन किया गया। आधुनिक संस्कृत साहित्य को न केवल प्राचीन संस्कृत साहित्य ने ही प्रभावित किया; अपितु आंग्लादि वैदेशिक साहित्य से भी यह प्रभावित हुआ। हिन्दी, मराठी, ओड़िया तथा बंगाली साहित्य का तो इस पर विशेष

प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस प्रकार अनेक लेखन प्रवृत्तियों को आत्मसात् करते हुए आधुनिक संस्कृत साहित्य का लेखनक्रम अतीव उदारता और सहिष्णुता के साथ चल रहा है।

इस साहित्य के अन्तर्गत बौद्ध-साहित्य भी बड़े प्रमाण में लिखा गया। आधुनिक बौद्ध संस्कृत साहित्य का निदर्शन अधोलिखित है–

2.2.5.1 आधुनिक बौद्ध संस्कृत काव्य

आधुनिक बौद्ध संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत अत्यन्त रमणीय, हृदयहारी और आकर्षक महाकाव्य खण्डकाव्य और गीतिकाव्य लिखे गये हैं। इसके अन्तर्गत **आचार्य सत्यव्रत शास्त्री प्रणीत श्रीबोधिसत्त्वचरितमहाकाव्य** जातक पर आधारित काव्य है। **आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री विरचित** साहित्य-अकादमी से पुरस्कृत तथा विश्व-विश्रुत महाकाव्य **बुद्धविजय महाकाव्य** प्रसिद्ध है। इन्हीं के द्वारा रचित गीति-काव्य **बुद्धोदय-काव्य** तथा महाकाव्य **अशोकाभ्युदय काव्य** भी उल्लेखनीय हैं। **पं. ओगेटि परीक्षित् शर्मा विरचित यशोधरा-महाकाव्य** एक अतीव विशिष्ट काव्य है; क्योंकि माता यशोधरा के चरित पर विरचित यह काव्य एकमात्र काव्य माना जाता है। पुराणों की तर्ज पर **ओसकेरे-नागप्पशास्त्री रचित श्रीमद्बुद्धभागवत** एक बहुत ही सुन्दर काव्य है। इसी प्रकार **डॉ. प्रफुल्ल गड़पाल प्रणीत महाबोधिद्रुमविजय खण्डकाव्य** और **भदन्त-सदानन्दचरितामृत शतक-काव्य** भी उत्तम काव्य हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक बौद्ध काव्यों का प्रणयन संस्कृत में किया गया है।

2.2.5.2 आधुनिक-बौद्ध-संस्कृत में रूपक और उपरूपक

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत रूपक साहित्य सदा से ही लोकप्रिय रहा है। **'काव्येषु नाटकं रम्यम्'** के अनुरूप आधुनिक संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत भी रूपक और उपरूपकों की विविध विधाएँ कवियों एवं आचार्यों की प्रिय विधाएँ हैं।

आधुनिक बौद्ध संस्कृत साहित्य में रूपकों एवं उपरूपकों के अन्तर्गत **डा. वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य का सिद्धार्थचरित, डा. चन्द्रभानु त्रिपाठी रचित सुजाता, डा. मिथिलेश कुमारी मिश्र प्रणीत आम्रपाली, देवर्षि कलानाथ शास्त्री रचित महाभिनिष्क्रमण, रामजी उपाध्याय प्रणीत नन्दगौतमीय तथा अशोकविजय, रामकुमार वर्मा द्वारा हिन्दी में रचित तथा प्रो. राजेन्द्र मिश्र द्वारा संस्कृत में अनूदित विजयपर्व, डा. नारायण शास्त्री रचित अशोकस्य पराजयः और कुणालस्य कुलीनता तथा धर्मानन्द कोसम्बी द्वारा मराठी में रचित डा. प्रफुल्ल गडपाल द्वारा संस्कृत में अनूदित बोधिसत्त्वः** इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक ज्ञात-अज्ञात रूपक बौद्ध-कथानकों के आधार पर लिखे गये हैं।

2.2.5.3 आधुनिक-बौद्ध-संस्कृत गद्य-साहित्य (उपन्यासादि)

माटम्बु कुञ्जुकुट्टन् द्वारा कैरली (मलयालम) भाषा में विरचित महाप्रस्थान 1980 में केरल साहित्य अकादमी द्वारा विशिष्ट पुरस्कार से पुरस्कृत हुआ है। अशोकन् पुरनाट्टुकरा द्वारा संस्कृत में इस उपन्यास महाप्रस्थानम् का अनुवाद किया है। नोबेल पुरस्कार से पुरस्कृत हेरमन हेस्से के उपन्यास 'सिद्धार्थ' का संस्कृत में अनुवाद डा. एलु. सुलोचना देवी द्वारा किया गया।

2.2.5.4 आधुनिक-बौद्ध-संस्कृत गद्य-साहित्य

भरतसिंह उपाध्याय जी द्वारा महाबुद्धवत्थु नामक ग्रन्थ की रचना पालि-भाषा में छः खण्डों में की गई है। यह ग्रन्थ दिल्ली संस्कृत अकादमी द्वारा प्रकाशित हुआ है। प्रो. संघसेन सिंह तथा मधुसूदन- शर्मा द्वारा इस ग्रन्थ की संस्कृत में विस्तृत भूमिका लिखी गई है। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के चरित पर गद्य विधा में मधुसूदन पेन्ना द्वारा 'करुणा-समुद्रः गौतमबुद्धः' ग्रन्थ लिखा गया।

2.2.5.5 आधुनिक-बौद्ध-संस्कृत स्फुट-काव्य

आधुनिक संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत सुविशाल मात्रा में स्फुट या फुटकर काव्य रचे गये हैं। डॉ. हर्षदेव माधव की रचनाओं में भगवान् बुद्ध के विषय में अनेक उद्धरण अथवा छोटे-छोटे काव्य प्राप्त होते हैं। चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख ने भी बुद्धस्मरण नामक एक लघुकाव्य लिखा। शिवप्रसाद भारद्वाज द्वारा भी भारतसन्देश काव्य में भगवान् बुद्ध के चरित के विषय में उल्लेख किया गया। चिरञ्जीविनः नामक संस्कृत गद्य ग्रन्थ में भी भगवान् बुद्ध के चरित पर संस्कृत में लेखन किया गया।

आधुनिक संस्कृत साहित्य में यह निदर्शन मात्र है, वैसे इसमें अनेक विद्वानों ने स्फुट काव्यों का प्रणयन किया है।

2.3 बौद्ध-धर्म से सम्बद्ध पौराणिक साहित्य

पुराणों में बुद्धधर्म से सम्बद्ध अनेक सन्दर्भ विभिन्न पुराणों में आये हैं। अनेक पुराणों में विविध वर्णनों के प्रसंगों में तथागत भगवान् गौतम बुद्ध के चरित का वर्णन किया गया है। इन पुराणों में भगवान् बुद्ध को विष्णु का दशम अवतार मानकर भी वर्णन किया गया है। पुराणों में वर्णन आया है कि वैदिककर्मकाण्डों में यज्ञादिकर्मों में हिंसा को देखकर भगवान् बुद्ध ने अहिंसा का प्रचार किया तथा अहिंसा का ही सन्देश दिया। पौराणिक साहित्य में भगवान् बुद्ध को सत्संस्कारक कहा गया है तथा विष्णु के अवतार के रूप में बताया गया ह। अनेक पुराणों में विष्णु के नवमावतार के रूप में पूजित बुद्ध वर्णन प्राप्त होता है। तद्यथा–**भागवतपुराणं (1.3.24); गरुडपुराणं (1.1.32, 1.145.40-41); मत्स्यपुराणं (47.247); अग्निपुराणं (16.1-4); भविष्यपुराणं (4.12.26-29); विष्णुपुराणं (3.17-18; 3.18.15-19)**।

कल्कीपुराण (2.3.26); वायुपुराण (12.43-44, 14.39); वराहपुराण (4.3, 113.27); नृसिंहपुराण (36.21) इत्यादि पुराण भी भगवान् बुद्ध के वर्णन युक्त हैं। सुतसंहिता, सुतगीता तथा शंकराचार्य के दशावतार-स्तोत्र में भी भगवान् बुद्ध का वर्णन किया गया है।

पुराणों में अशोकादि बौद्ध राजाओं का वर्णन भी प्राप्त होता है। इनके विषय में **वायुपुराण (99/332, 55/126, 99/331-32); गार्गी संहिता (युगपुराण, 17); ब्रह्माण्ड-पुराण (74/144-45, 74/144-149); वायुपुराण (99/331-336); मत्स्य पुराण (272/22-26) तथा विष्णुपुराण (अध्याय–24)** में वर्णन प्राप्त होता है। **महाभारत** तथा **रामायण** में भी बौद्धधम्म सम्बद्ध घटनाओं का वर्णन आया है। इसी प्रकार **क्षेमेन्द्र के दशावतारचरित** में बुद्ध के चरित की झाँकी आयी है तथा **जयदेव की अष्टपदी** में बुद्ध-स्तुति की गयी है।

2.4 बौद्ध-संस्कृत-व्याकरण ग्रन्थ–

बौद्ध संस्कृत वाङ्मय में बौद्ध संस्कृत वैयाकरणों ने बौद्ध-परम्परानुरूपी व्याकरणों का लेखन किया है तथा बौद्ध विद्वानों ने व्याकरण-ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखकर बौद्ध संस्कृत परम्परा में उल्लेखनीय योगदान किया है। कुछ बौद्ध संस्कृत व्याकरणों का विवरण अधोलिखित है–

2.4.1 बौद्ध-संस्कृत-व्याकरण ग्रन्थ

बौद्ध संस्कृत व्याकरणों के अन्तर्गत **इन्द्रगोमी कृत ऐन्द्र-व्याकरण, चन्द्रगोमी कृत चान्द्र-व्याकरण, अनुभूतिस्वरूपाचार्य कृत सारस्वत-व्याकरण, अष्टधातु-व्याकरण, चन्द्रकीर्ति कृत सामन्तभद्र-व्याकरण, वामन कृत विश्रान्ति-विधाधर-व्याकरण, मञ्जुश्री-शब्दलक्षण-व्याकरण, कमदीश्वर कृत संक्षिप्तसार** तथा अन्य बौद्ध संस्कृत व्याकरण ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

इस परम्परा में **अमरसिंह कृत अमरकोश** तथा **भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय** विशेष उल्लेख्य हैं।

2.4.2 संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थों पर व्याख्याएँ–

बौद्ध वैयाकरणों ने व्याकरण-ग्रन्था पर व्याख्याएँ तथा टीकाएँ लिखी हैं। इनमें **आचार्य कुमारलात कृत कातन्त्र-व्याकरणटीका, आचार्य धर्मदास कृत चान्द्रवृत्ति, आचार्य दुर्गसिंह कृत दुर्घटवृत्ति, जयादित्य तथा वामन काशिका, आचार्य हर्षवर्धन कृत लिङ्गानुशासन, आचार्य विमलमति कृत भागवृत्ति, आचार्य धर्मपाल कृत वाक्यपदीय-प्रकीर्ण-व्याख्या, आचार्य वामन कृत लिङ्गानुशासन, आचार्यः रभसनन्दी कृत कारक-सम्बन्धोद्योत, आचार्य पूर्णचन्द्र कृत चान्द्रपञ्जिका, आचार्य मैत्रेयरक्षित कृत तन्त्रप्रदीप, आचार्य धर्मकीर्ति कृत रूपावतार, पुरुषोत्तमदेव (देव) कृत भाषावृत्ति, आचार्य सर्वरक्षित दुर्घटवृत्ति का प्रतिसंस्कार, आचार्य शरणदेव की दुर्घटवृत्ति, आचार्य गुणाकर का पात्रीकरण, आचार्य बुद्धनाग का लीनार्थदीप, आचार्य आनन्ददत्त का चान्द्रपद्धति, भिक्षु रत्नमति का चान्द्रपञ्जिका, आचार्य धर्मघोष का बोधिन्यास, आचार्य विश्वसार की भाषावृत्ति-विवरणपञ्जिका, आचार्य सुभूतिचन्द्र का सुबन्तरत्नाकर, सुबोधिनी-गणटिप्पणिका-व्याख्या, आख्यात-विचार-व्याख्या, उपयोगक्रम-व्याख्या तथा अन्य संस्कृत-व्याकरण व्याख्याएँ** उल्लेखनीय हैं।

2.4.3 बौद्ध-विद्वानों द्वारा व्याकरणों एवं उनकी वृत्तियों का भोट आदि भाषाओं में अनुवाद–

तिव्यतदेशी विद्वान् वैयाकरण अनुवादकों के द्वारा भारतीय विद्वानों की सहायता से व्याकरणों तथा उनकी वृत्तियों, टीकाओं या व्याख्याओं का बड़ी संख्या में अनुवाद कार्य किया गया। इस सन्दर्भ में निम्नोक्त तिव्यतदेशीय अनुवादकों ने व्याकरणों या तत्सम्बद्ध साहित्य के अनुवाद किये हैं–

(क) तिब्बतदेशीय व्याकरण-ग्रन्थों के अनुवादक–

तिव्यतदेशीय विद्वानों में **शान्तिप्रभ, लोचावा भरद्वाज, स्थिरमति, कीर्तिध्वज, वु-तोन रत्नसिद्ध, बोधिशेखर, करुणश्रीभद्र, रत्नधर्मपालभद्र, लामा तारानाथ, वागीश्वर लक्ष्मी निराभोग, धर्मभद्र, गगनभद्र (व्योमभद्र), सूर्यध्वजश्चेत्यादय, धर्मकीर्ति श्रीभद्र, मतिध्वज, वागीश्वररत्नमङ्गल** तथा अन्य तिब्बतदेशीय **बौद्ध-संस्कृत-व्याकरण अनुवादक** विद्वानों का योगदान उल्लेखनीय है।

(ख) भोट-भाषा के अनुवादों में सहायक भारतीय विद्वान्–

उपर्युक्त तिव्यतदेशीय विद्वान अनुवादकों के अनुवादों के क्रम अनेक भारतीय पण्डितों ने उल्लेखनीय योगदान किया है। उनमें ये प्रसिद्ध हैं–

श्रीमणिक (द्वादश शताब्दीय), कीर्तिचन्द्र (द्वादश-त्रयोदश-शताब्दीय), मञ्जुघोष खड्ग, कृष्णभट्ट, गोकुलनाथमिश्र, बलभद्र, जैतकर्ण, कृष्णोदय तथा भोट-भाषा के अनुवाद-कार्यों में सहायक अन्य भारतीय विद्वान्।

2.5 बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों की तिब्बती और चीनी भाषाओं में अनुवाद परम्परा–

बौद्ध संस्कृत साहित्य के अनुवाद की परम्परा अत्यन्त महती तथा सुदीर्घ है। इस परम्परा के कारण ही आज हमारे पास हमारे हाथ से गई हुई अनमोल ग्रन्थ सम्पत्ति वापस आ पाई है। इस परम्परा में अनेक बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया गया; किन्तु इसके साथ ही इसमें प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ भी अनूदित हुए हैं। रामायण, अभिज्ञानशाकुन्तल जैसे ग्रन्थ भी अनूदित स्वरूप में भोट भाषा में प्राप्त होते हैं।

चीनी विद्वान् लोकक्षेम-कुशान, एन हुआन, झी याओ, कांग मेंग हिआंग, झि किआन, झि युहए, कांग सेंहुई, टान टी, पो येन, धर्मरक्ष, अन फाचीन, पो श्रीमित्र, फो तु तेंग तथा बोधिधर्म ने बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवाद तैयार किये। इसी प्रकार ज्ञानगुप्त, शिक्षानन्द, प्रज्ञ, संघपाल, धर्मरक्ष, गौतम संघदेव, बुद्धभद्र, धर्मनन्दी, बुद्धयश, धर्मक्षेम, गुणभद्र, बुद्धजीव, परमार्थ, बोधिरुचि तथा प्रज्ञारुचि प्रसिद्ध अनुवादक है, जिन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया।

2.6 अभिलेखीय-बौद्ध-संस्कृत-साहित्य–

भारत में अनेकत्र ऐसे शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो बौद्ध-संस्कृत में उत्कीर्ण कराये गये हैं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन विरचित 'पुरातत्त्व-निवन्धावली' में ऐसे शिलालेखों का उल्लेख आया है। आज बौद्ध संस्कृत अभिलेखों के अनुसन्धान की विशेष आवश्यकता है।

इस प्रकार बौद्ध संस्कृत वाङ्मय अत्यन्त विशाल तथा सुविस्तृत है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. बौद्ध संस्कृत काव्य-समीक्षा, डॉ. रामायण प्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1976
2. संस्कृत बौद्ध साहित्य में इतिहास और संस्कृति, प्रो. अंगनेलाल, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2006
3. बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पी.वी. बापट, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, 1956
4. भारतीय संस्कृति को बौद्धधर्म की देन, सम्पा. एस.एस. गौतम, गौतम बुक सेण्टर, दिल्ली, 2009
5. बौद्ध संस्कृति के विविध आयाम, प्रो. अंगनेलाल, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2008
6. बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण, 1999
7. चीनी यात्रियों के यात्रा विवरण में प्रतिबिम्वित **बौद्ध धर्म एक अध्ययन**, डॉ. अवधेश सिंह, रामानन्द विद्या भवन, दिल्ली, 1987
8. बुद्धकालीन समाज और धर्म, डॉ. मदनमोहन सिंह, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, नवम संस्करण, 2002
9. बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज, डॉ. परमानन्द सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, पुनर्मुद्रण, 2016
10. संस्कृत के बौद्ध वैयाकरण, डॉ. जानकीप्रसाद द्विवेदी, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 1987

6

बौद्ध-संस्कृत-कवियों एवं मनीषियों का संस्कृत-वाङ्मय एवं भारतीय-संस्कृति को अवदान

- रमनदीप
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत विभाग)
चौधरी देवीलाल विश्वविद्यालय, सिरसा
ई-मेल–vramanmehla@gmail.com
दूरवाणी–9996193845

भग्नं मारबलं येन निर्जितं भवपञ्जरम्।
निर्वाणपदमारूढं तं बुद्धं प्रणमाम्यहम् ॥[1]

प्राचीन भारत में सामाजिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विकास की दिशा में शिक्षा व्यवस्था ने महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक भूमिका निभायी है। इसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास करके उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि करके सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था के इतिहास का गहनता से अध्ययन करने से यह प्रतिध्वनित होता है कि उस समय समाज में दो प्रकार की शिक्षण प्रणाली प्रचलित थी–

1. ब्राह्मणीय शिक्षण प्रणाली तथा 2. बौद्ध शिक्षण प्रणाली।

दोनों व्यवस्थाओं में मूलभूत अन्तर का मुख्य आधार दोनों के दृष्टिकोण में परिलक्षित होता है। ब्राह्मणीय व्यवस्था में शिक्षा मूलतः वैदिक शिक्षा प्रणाली थी, जबकि बौद्ध-शिक्षा व्यवस्था विहार में निवास करने वाले भिक्षु एवं भिक्षुणी संघ की जीवनचर्या पर आधारित थी। जहाँ इन दोनों में कुछ समानताएँ हैं, वहीं इनमें पर्याप्त असमानताएँ भी हैं।

भारतीय-संस्कृति के उत्थान में बौद्ध-संस्कृत-मनीषियों का योगदान–

भारतीय संस्कृति के विविध क्षेत्रों में बौद्धधर्म की महत्त्वपूर्ण स्थिति का आभास होता है। इस परिप्रेक्ष्य में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि भारतीय संस्कृति की अभिवृद्धि में बौद्धधर्म का योगदान अविस्मरणीय रहा है। इसी सन्दर्भ में यह मत व्यक्त करना उचित प्रतीत होता है कि बौद्धशिक्षा ने तत्कालीन जीवन के समग्र क्षेत्रों को प्रभावित किया है। इस तथ्य की पुष्टि हेतु भाषा, साहित्य, कला एवं वास्तुकला, दर्शन, तर्कशास्त्र, बुद्धिशास्त्र, आचारशास्त्र, विहारमठ तथा मानवीय जीवनचर्या आदि पर प्रकाश डालना

1. कारकोद्योतः, आचार्यरमसनन्दि-प्रणीत

अप्रासंगिक नहीं होगा। बौद्धशिक्षा के अभूतपूर्व योगदान के माध्यम से विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ। भारतीय संस्कृति के विविध क्षेत्रों में हमें बौद्धधर्म की उपस्थिति का भान सर्वदा होता है। इसका स्पष्ट आभास हमें इसलिए नहीं होता, क्योंकि इसके रस एवं प्राण से भारतीय चिन्तन व जीवनधारा इतनी सिक्त हो चुकी है कि नीरक्षीर-विवेक भी सम्भवतः उन्हें आसानी से एक-दूसरे को अलग-अलग उपस्थित नहीं कर सकता। भारतीय संस्कृति को बौद्ध भाषा, साहित्य, कला एवं दर्शन ने विचारणीय सीमा तक प्रभावित किया है।[2] बौद्धधर्म के इन कतिपय योगदानों की विवेचना हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं–

(क) भाषा–

गौतम बुद्ध द्वारा लोकभाषा का प्रयोग किये जाने से क्षेत्रीय भाषाओं के विकास, प्रसार एवं संरक्षण का पथ प्रशस्त हुआ। बौद्धधर्म के परवर्ती परिवर्तन काल में वज्रयान सम्प्रदाय के सिद्धाचार्यों ने बुद्ध की प्रवचन शैली को अपनाया। उन्होंने अपने उपदेशों व सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए उस समय की लोकभाषा का प्रयोग किया। भारतीय भाषाओं के इतिहास का अध्ययन करने पर एक बात सामने आती है कि संस्कृत और पालि समकालिक भाषाएँ हैं। आरम्भ में बौद्ध-विद्वानों ने पालि में ही साहित्य प्रणयन किया, किन्तु कालान्तर में उन्होंने पालि-संस्कृत मिश्रित भाषा को लेखन का आधार बनाया। बाद के काल में तो उन्होंने विशुद्ध संस्कृत भाषा में ही रचनाओं को आकार प्रदान किया। बौद्ध वाङ्मय की मुख्य सामग्री पालि, संस्कृत (शुद्ध और मिश्रित संस्कृत), तिब्बती और चीनी भाषाओं में है। तात्पर्य यह है कि गौतम बुद्ध ने जिस लोकभाषा का प्रयोग किया; वह परम्परा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से होती हुई एवं मध्यकाल से कबीर, दादू, रैदास, जायसी, सूर, तुलसी आदि तक चलती रही।

(ख) कला एवं वास्तुकला–

ईसा की षष्ठ शताब्दी तक की भारत की श्रेष्ठतम कला में बौद्धकला का स्थान सर्वोपरि है। भारत के बाहर बर्मा, चीन, जापान, जावा आदि देशों में भी बौद्धकला का महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानीय स्थान प्राप्त है। यह सत्य है कि बौद्धकला वैदिक या पूर्वयुगीन कला से बहुत कुछ ग्रहण किया है; पर यह सत्य है कि परवर्ती भारतीय कला इसमें महत् रूप से प्रभावित हुई। मथुरा की केन्द्रीयता व अमरावती की संवेदनशीलता को प्रभावित करते हुए गुप्तकालीन बौद्धकला ने रूप एवं दर्शन में भाव-लावण्य का आदर्श मानक प्रस्तुत किया। इस युग का सारनाथ का बौद्ध मन्दिर, अजन्ता का पद्मपाणि एवं अवलोकेश्वर का बोधिसत्त्व चित्रण भारतीय कला की महानतम उपलब्धियाँ हैं।

(ग) दर्शन–

क्षणभंगवाद, अनात्मवाद से प्रारम्भ दर्शन सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद व शून्यवाद के माध्यम से भारतीय-चिन्तन की दोनों धाराओं को प्रभावित करता रहा है। असंग, वसुमित्र, नागार्जुन, धर्मकीर्ति–जैसे दिग्गज युक्तिवादी दार्शनिकों ने बौद्धदर्शन को तो सम्पन्न किया ही साथ-साथ जैन, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त और न्याय, वैशेषिक दार्शनिकों को भी उनके अपने-अपने क्षेत्र में प्रभावित और समृद्ध किया।

(घ) साहित्य–

कालक्रम की दृष्टि से देखा जाए तो भगवान् बुद्ध के उपदेश मौखिक थे। उनके महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनका संकलन किया गया। बौद्ध वाङ्मय की मुख्य सामग्री पालि-संस्कृत (शुद्ध तथा मिश्रित संस्कृत), तिब्बती और चीनी भाषाओं में है। मूल ग्रन्थों का अनुवाद मंगोल, निगूर सोग्डियन्, कुचनी और

2. बौद्ध दर्शन मीमांसा, डॉ. बलदेव उपाध्याय

नार्डर भाषाओं में पाए जाते हैं।[3] पालि साहित्य को मुख्यतः दो भागों में पिटक तथा पिटकेतर साहि में बाँटा जाता है। संस्कृत के समानान्तर ही पालि (लोकभाषा) में लिखा गया साहित्य है; जो कि, जन-क तक पहुँच रहा था; उनके जीवन को भी प्रभावित कर रहा था। इससे एक बड़े पैमाने पर शिक्षण-प्रशिक्ष की व्यवस्था भी जारी थी। इसके अतिरिक्त जातकमाला आदि ग्रन्थों की कथाओं का उपयोग उपदेश समझाने के लिए किया गया है। बुद्धोपदेशों को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए लोक में प्रचलि उपमाओं और कथाओं का भरपूर प्रयोग किया; क्योंकि वक्ता अपनी बात को श्रोता की बुद्धि और सम के अनुसार उसके अनुभव जगत से सामंजस्य बैठाकर उदाहरण देता है, तो उसका प्रभाव सीधे चित्त प पड़ता है। पालि साहित्य में लिखी अनेक रचनाओं का मुख्य उद्देश्य लोगों का चारित्रिक सुधार ए आध्यात्मिक उन्नति को बढ़ावा देना था।[4]

इसी प्रकार भारतीय संस्कृति को बौद्धग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, बुद्धिशास्त्र एवं बौद्धों के विहार-मठ तथा उनकी मानवीय जीवनचर्या ने भी प्रभावित किया है।

संस्कृत-वाङ्मय के उत्थान में बौद्ध-संस्कृत-कवियों का योगदान-

बौद्ध संस्कृत वाङ्मय अति विशाल है। पालि भाषा में रचित अपदान, बौद्ध संस्कृत में निबद्ध अवदान तथा दोनों भाषाओं में संकलित जातक–ये तीनों ही उस साहित्यिक विधा का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो बुद्ध के सद्धर्म को सरल एवं सरस शैली में सामान्य-जनों तक पहुँचाने का सशक्त माध्यम बने। सकल बौद्ध वाङ्मय को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा गया है। यथा–बौद्ध संकर संस्कृत साहित्य, विशुद्ध बौद्ध संस्कृत साहित्य तथा आधुनिक संस्कृत में विरचित बौद्ध ग्रन्थ।[5]

(अ) बौद्ध संकर-संस्कृत में विरचित ग्रन्थ–

(1) सर्वास्तिवाद त्रिपिटक के उपलब्ध अंश और विनय-पिटक की खण्डित-सामग्री,
(2) महासांघिक त्रिपिटक के उपलब्ध-ग्रन्थ,
(3) अन्य थेरवादी-ग्रन्थ,
(4) महायान के वैपुल्य-सूत्र तथा
(5) बौद्धाचार्यों द्वारा विरचित शुद्ध संस्कृत ग्रन्थ।

(ब) विशुद्ध बौद्ध-संस्कृत में विरचित ग्रन्थ–

बुद्धजीवन-परक काव्य ग्रन्थ–

(1) अश्वघोष रचित बुद्धचरित,
(2) बुद्धघोष रचित पद्मचूडामणि काव्य

श्रावकयान-परक काव्य ग्रन्थ–

(3) अश्वघोष रचित सौन्दरनन्द

महायान-परक काव्य ग्रन्थ–

(4) शान्तिदेव रचित बोधिचर्यावतार

3. बौद्धधर्म के 2500 वर्ष, भिक्षु जिनानन्द
4. बौद्ध-धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव
5. पालि साहित्य का इतिहास, भरत सिंह उपाध्याय

बोधिसत्त्वजातक-परक गद्य-पद्यमय काव्यग्रन्थ–

(5) आर्यशूर रचित जातकमाला

स्तोत्र काव्य ग्रन्थ–

(6) नागार्जुन रचित चतुःस्तव,
(7) मातृचेट् रचित अध्यर्धशतक,

वैभाषिक दर्शनपरक शास्त्र ग्रन्थ–

(8) वसुबन्धु रचित अभिधर्मकोश,
(9) घोषक रचित अभिधर्मामृत

सौत्रान्तिक दर्शन शास्त्र ग्रन्थ–

(10) सत्यसिद्धिशास्त्र

योगाचार-विज्ञानवाद पर आधृत दर्शनपरक-शास्त्र–

(11) वसुबन्धु रचित त्रिंशिका-विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि,
(12) विंशिका-विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि,
(13) पंचस्कन्ध प्रकरण,
(14) असंग रचित अभिधर्मसमुच्चय,
(15) महायान सूत्रालंकार,
(16) मैत्रेयनाथ रचित अभिसमयालंकार,
(17) नागार्जुन रचित माध्यमिक-कारिका,
(18) विग्रहव्यावर्तिनी,
(19) धर्मकीर्ति रचित वादन्याय,
(20) न्यायबिन्दु,
(21) प्रमाणवार्तिक,
(22) शान्तिरक्षित रचित तत्त्वसंग्रह और
(23) न्यायप्रवेश।

विनयाचारपरक शास्त्र ग्रन्थ–

(24) शान्तिदेव रचित शिक्षासमुच्चय,
(25) विनयसूत्र।

(स) आधुनिक संस्कृत में विरचित ग्रन्थ–

(1) सत्यव्रत शास्त्री रचित बोधिसत्त्वचरितम्,
(2) पण्डित ओगेटि शर्मा रचित यशोधरामहाकाव्यम्
(3) शान्तिभिक्षु शास्त्री रचित बुद्धविजयकाव्यम् तथा अशोकाभ्युदयमहाकाव्यम्।

यह कहना बिल्कुल भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि बौद्ध-संस्कृत कवियों ने लोक-मंगल के साथ-साथ संस्कृत वाङ्मय को संवर्धित करने में अपना पुरजोर प्रयास किया है। जैसे जातकमाला के रचयिता आर्यशूर ने भगवान् बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाओं के माध्यम से परोपकारिता, सत्य, अहिंसा, त्याग, धर्मनिष्ठा, कर्तव्य-परायणता आदि गुणों का आदर्श प्रस्तुत किया है। महाकवि आर्यशूर में विद्यमान अपार सामर्थ्य के कारण ही कवि अभिनन्द ने कहा था–

सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिसुभगा भारविगिरः
तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥

इसके अतिरिक्त जयरक्षित रचित घनाचार संग्रह-टीका में भी जातकमाला का स्पष्ट उल्लेख का है–

"आचारप्रतिपादको ग्रन्थो आचार उच्यते उपचारात् जातकमालावत्।"

बौद्ध साहित्य में दार्शनिक विवेचन–

बुद्धचरित में अश्वघोष ने प्रतीत्यसमुत्पाद का वर्णन करते हुए तथा तृष्णा को जन्म लेने के मूल कारण के रूप में रेखांकित करते हुए कहा है कि "कामाहत को स्वर्ग में भी शान्ति नहीं मिलती जैसे हवा का साथ पाकर अग्नि को ईन्धन से तृप्ति नहीं मिलती।"

'अविद्या अज्ञान ही संसार का मूल है'–

सन्तापहेतुर्न सुतो न बन्धुरज्ञाननैमित्तिक एष तापः।

अश्वघोष ने कर्म-व्यवस्था सम्बन्धी धारणाओं पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं कि शुभ कर्म करने वाले स्वर्ग में और पाप कर्मशील दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

और भी–

जन्मदुःखं जरादुःखं मृत्युदुःखं पुनः पुनः।
इति पश्यन् जगत्सर्वं मुक्तये यत्नवान् भव॥

बौद्ध साहित्य में व्यावहारिक विवेचन–

बुद्ध के उपदेशों का संग्रह संक्षेप में धम्मपद में संकलित किया गया है चूंकि बौद्ध दर्शन और बौद्ध जीवन पद्धति के प्रमुख सिद्धान्त इसमें विवेचित हैं। आचार-व्यवहार तथा धार्मिक तथ्यों से सम्बन्धित तत्त्वों का भी सुन्दर समन्वय मिलता है, जैसे–'सुखी जीवन जीने के लिए दो अतिवादों से बचना चाहिए–इन्द्रिय विलास में रत होना और आत्म प्रपीडन की राह अपनाना।' इसमें शान्ति और अहिंसा युक्त जीवन की प्रशंसा की गई है तथा कहा गया है कि 'वैर से वैर का कभी शमन नहीं होता, किन्तु अवैर से ही होता है।' एक अन्य उपदेश है कि 'अक्रोध से क्रोध को जीतो, बुराई को अच्छाई से, कंजूसपन को दान से और झूठ को सत्य से जीतो।' इसमें यह भी कहा गया है कि 'दूसरों से कभी कठोरता से न बोलो, क्योंकि वे भी तुम्हारे साथ वैसा ही अभद्र व्यवहार करेंगे।'[6]

---

6. बुद्धचरित, अश्वघोष (मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित)

उपसंहार–

बौद्ध साहित्य के अनेक ग्रन्थों जैसे–बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, विनयपिटक (अनुशासन ग्रन्थ), सुत्तपिटक (उपदेशात्मक ग्रन्थ), अभिधम्मपिटक, दिव्यावदान, जातकमाला आदि से हमें अनेक प्रकार के आध्यात्मिक, चारित्रिक, धार्मिक, दार्शनिक, व्यावहारिक, तार्किक एवं सामाजिक सिद्धान्तों का बोध होता है; जो हमारे जीवन में पथ-प्रदर्शक के समान हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बौद्ध साहित्य एवं बौद्ध-संस्कृत कवियों व मनीषियों का भारतीय संस्कृति और संस्कृत वाङ्मय के उत्थान में अपूर्व योगदान है।

7

बौद्ध मिश्रित संस्कृत साहित्य के संवर्द्धन में वैदेशिक विद्वानों का योगदान

डॉ. विकास सिंह
असिस्टैण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
जाकिर हुसैन दिल्ली कालेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय
एम.ए., एम.फिल., पीएच.डी. (संस्कृत),
पालि कोर्स (जे.एन.यू.)
एम.ए. (अनुवाद अध्ययन) इग्नू
मंगोलियन सर्टिफिकेट एवं डिप्लोमा कोर्स (कोरियन अध्ययन केन्द्र, जे.एन.यू.)
ई-मेल-vikas.sing.gautam@gmail.com, मो.-9711570933

भारत-विद्या के समुपासक वैदेशिक विद्वानों ने इसके लिए अतीव महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। भारत-विद्या के अन्तर्गत भी बौद्ध-विद्या के क्षेत्र में उनका योगदान श्लाघनीय है। अब तक वैदेशिक विद्वानों ने जितने कार्य भारत-विद्या के क्षेत्र में किये हैं; इसमें प्रायः 75 प्रतिशत उनका कार्य बौद्ध-विद्या पर अवलम्बित है। अपनी सम्पत् से बेखबर भारतीयों को इन विदेशी विद्वानों के प्रति नतमस्तक होना चाहिए, जिन्होंने बड़े जतन से इनको संरक्षित किया तथा इनका सम्पादन कर प्रकाशित किया।

भगवान् बुद्ध के विचारों ने वैदेशिक विद्वानों को विशेषतः आकर्षित किया। नालन्दा विश्वविद्यालय के स्वर्णिम काल से लेकर अब तक अनगिनत विद्वानों ने बौद्ध विद्या के क्षेत्र में अपना योगदान दिया है। नालन्दा विश्वविद्यालय में आने वाले अध्येताओं के कारण भारत तथा इसके पड़ौसी देशों में प्रगाढ़ सम्बन्ध बन गये थे। भगवान् तथागत गौतम की विवेकवादी, मैत्रीपूर्ण तथा करुणामयी शिक्षा ने इन्हें खूब प्रेरित किया। जब वे अपने-अपने देश जाते तो साथ में पाण्डुलिपियाँ या बौद्ध-ग्रन्थों को अवश्य ले जाते तथा उनका अनुवाद करके स्थानीय क्षेत्र में प्रचार-प्रसार किया करते थे। इस प्रकार विदेशों में भगवान् बुद्ध की शिक्षा का प्रचार तथा विस्तार होता गया। भगवान् बुद्ध की ध्यान-पद्धति को बर्मा की आचार्य-परम्परा संरक्षित न करती तो शायद हम निब्बाण-दायिनी विपस्सना विद्या को भी खो चुके होते। सीलोन (श्रीलंका) का योगदान न होता, तो शायद आज तिपिटक भी हमें मिला न होता।

कालान्तर में, बौद्ध-धम्म के भारत से लुप्त या यों कहे पतन हो जाने के पश्चात् तो, जैसे भारत से बुद्ध का नामो-निशान ही समाप्त होने को था। भगवान् बुद्ध, ऐतिहासिक कम और पौराणिक दृष्टि से अधिक देखे जाते थे। ऐसे में अंग्रेज विद्वानों ने पुरातात्विक-महत्त्व के स्थानों को खोजकर उनकी खुदाई की तथा उन्होंने पुरातात्विक-दृष्टि से संरक्षित किया। जेम्स प्रिंसेप के जुनूनी प्रयत्नों के कारण ब्राह्मी-लिपि

खोजी, जिसके फलस्वरूप सम्राट् अशोक के शिलालेखों को पढ़ा जा सका और पूरा का पूरा इतिहास हमें दृग्गोचर हो सका।

प्राचीन भारत में बौद्ध साहित्य पालि, प्राकृत (अपभ्रंश आदि) तथा विशुद्ध संस्कृत भाषाओं से इतर मिश्रित संस्कृत भाषा में भी लिखा गया है, जिसे पाश्चात्य विद्वान् फ्रेंकलिन एजर्टन (Franklin Edgerton) ने बौद्ध मिश्रित संस्कृत (Buddhist Hybrid Sanskrit) कहा है। बौद्ध मिश्रित संस्कृत में अपाणिनीय प्रयोगों की प्रचुरता है तथा पालि की भाँति विभिन्न शब्दों तथा उनके रूपों का प्रयोगों किया गया है। इन विभिन्न अपाणिनीय प्रयोगों अर्थात अधिकांश असंस्कृत शब्दों को आचार्य नरेन्द्रदेव ने मध्य देशीय स्वीकार किया है।

मिश्रित संस्कृत में बौद्धों ने न केवल त्रिपिटकों का सृजन किया, अपितु स्वतंत्र रूप से अवदान साहित्य, वैपुल्यसूत्र अथवा महायान सूत्र (अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता, ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज व दशभूमीश्वर) आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्राचीन भारत में यात्रा पर आये विभिन्न यात्रियों जैसे फाह्यान, हे चो, ह्वेनसांग आदि के यात्रा विवरणों में विभिन्न मिश्रित संस्कृत के बौद्ध-ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं। चीनी, जापानी, कोरियाई, तिब्बती, मंगोलियाई आदि भाषाओं में इन ग्रन्थों के अनुवाद भी उपलब्ध होते हैं। चीनी अनुवादक कुमारजीव, ह्वेनसांग, कोरियाई अनुवादक व. नचेउक व डेगक ऊईचेओन, जापानी अनुवादक ताकाकुसु व सुजुकि, मंगोलियाई अनुवादक लामा छोस्-कि-ओद्-जिन व कुन्-गा-ओद्-जेर, तिब्बती अनुवादक अतीश दीपंकर व अन्य प्रभृति विद्वानों ने विभिन्न मिश्रित संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद अपनी-अपनी भाषाओं में किया है।

आधुनिक काल में विभिन्न चीनी, जापानी, मंगोलियाई, तिब्बती व कोरियाई विद्वानों ने अनेक बौद्ध ग्रन्थों के साथ ही मिश्रित संस्कृत के ग्रन्थों का अंग्रेजी, फ्रेंच व जर्मन, जापानी, चीनी आदि भिन्न-भिन्न यूरोपीय-एशियाई भाषाओं में अनुवाद करके विश्व-पटल पर पहुँचाया है, जिसके बाद एजर्टन, कर्न, लेफमान, फ्रूको, सिलवां लेवी, लुडर्स, जान्सटन, पूंसे, बेन्नेट्ट, नरीमन, विण्टरनिट्स आदि वैदेशिक विद्वानों ने भी इस क्षेत्र में अपनी कलम चलाई।

बौद्ध मिश्रित संस्कृत साहित्य के संवर्द्धन में वैदेशिक विद्वानों के योगदान को अधोलिखित बिन्दुओं में समेकित किया जा रहा है–

1. **मिश्रित संस्कृत बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के अन्वेषण में विदेशी विद्वानों का योगदान,**
2. **मिश्रित संस्कृत महायान सूत्रों के अन्वेषण में विदेशी विद्वानों का योगदान तथा**
3. **मिश्रित संस्कृत अवदान साहित्य के अन्वेषण में विदेशी विद्वानों का योगदान**

उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है–

मिश्रित संस्कृत बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के अन्वेषण में विदेशी विद्वानों का योगदान–

बौद्धों ने अपना आरम्भिक साहित्य पालि भाषा में लिखा, जिसे त्रिपिटक साहित्य कहा गया। विनय-पिटक, सुत्त-पिटक तथा अभिधम्म-पिटक–इन तीनों को सम्मिलित रूप से त्रिपिटक कहा जाता है। विनय-पिटक भिक्खु-भिक्खुणियों के आचार-सम्बन्धी नियमों का संकलन है। विनय-पिटक को सुत्त-विभंग, खन्धक और परिवार–इन तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है। बुद्ध के धम्म तथा उनके विचारों का यथातथ्य रूप से विवरण सुत्त-पिटक में मिलता है। इसको दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय व खुद्दकनिकाय–नामक इन पाँच भागों में विभक्त किया गया है। अभिधम्मपिटक में बुद्ध

धम्म तथा दर्शन सम्बन्धी विशिष्टताओं का वर्णन है। अभिधम्म के सात प्रकरण ग्रन्थ हैं–धम्मसङ्गणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक व पट्ठान।

सूत्रागम–पालि भाषा के त्रिपिटक साहित्य का बहुत बाद में मिश्रित संस्कृत भाषा में अनुवाद किया गया। जर्मन विद्वान रिचर्ड पिशेल (Richard Pischel) भारतीय साहित्य में रुचि रखने वाले थे, उन्होंने प्राकृत भाषाओं के इतिहास पर जर्मन भाषा में एक पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक 'ग्रामाटिक देर प्राकृत स्प्राचेन' (Grammatik der Prakrit&Sprachen) था; जिसका बाद में हेमचन्द जोशी ने 'प्राकृत भाषाओं का इतिहास' नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। 1902 में पिशेल ने जर्मनी में ग्रुन्वेडेल (Grunwedel) और ले कोक (Le Coq) की अध्यक्षता में एक-एक कमेटी बनाई; जिसने तुर्किस्तान से उदानवर्ग, धर्मपद, एकोत्तरागम और मध्यमागम–नामक संस्कृत ग्रन्थ प्राप्त किए; जो पालि के उदानवग्ग, धम्मपद, अंगुत्तरनिकाय व मज्झिमनिकाय के संस्कृत अनुवाद हैं। बाद में स्टीन (Stein) को भी वहाँ से कई पाण्डुलिपियाँ मिली। रोकहिल्ल (Rockhill) ने 1883 में धम्मपद का अंग्रेजी में पुनरुद्धार किया; जिसे बाद में लुडर्स (Luders) ने मूल संस्कृत में सम्पादित किया।

विनयागम–नेपाल से बेण्डल (Bendal) को प्रातिमोक्षसूत्र की संस्कृत पाण्डुलिपि प्राप्त हुई, जिसका एक तिब्बती और चार चीनी भाषा में अनुवाद भी उन्हें प्राप्त हुए। सिल्वां लेवी ने सर्वास्तिवादियों के विनयपिटक को तोखारियन से खोज निकाला।

अभिधर्म–चतुर्थ सङ्गीति में आचार्य वसुमित्र के साथ ही अश्वघोष का 'विभाषा' की रचना में विशेष अवदान था। विभाषा की तीन टीकायें की गयी, जिनमें सबसे बड़ी टीका 'महाविभाषा' के नाम से विख्यात है। चीनी भाषा में इसका तीन बार अनुवाद किया गया। प्रथम कश्मीर के संघदेव ने 383 ईस्वी में, द्वितीय बुद्धवर्मा और ताओ-ताई ने मिलकर 425-427 ईस्वी में तथा तृतीय ह्वेनसांग ने 656-659 ईस्वी में किया।

महाविभाषा को 'बौद्ध दर्शन का विराट् ज्ञानकोश' कहा जा सकता है। चतुर्थ शताब्दी ईस्वी में इसी को आधार बनाकर वसुबन्धु ने 'अभिधर्मकोश' नामक प्रामाणिक एवं विस्तृत ग्रन्थ का निर्माण किया, जिसे वैभाषिक दर्शन का मूल-स्रोत माना जाता है। अभिधर्मकोश पर वसुबन्धु ने स्वयं भाष्य भी लिखा। अभिधर्मकोश में छः सौ कारिकायें हैं, जिनका विभाजन कुल आठ परिच्छेदों में किया गया है; जिन्हें कोशस्थान कहा गया है। ये हैं–धातुनिर्देश, इन्द्रियनिर्देश, लोकनिर्देश, कर्मनिर्देश, अनुशयनिर्देश, मार्गपुद्गलनिर्देश, ज्ञाननिर्देश तथा समापत्तिनिर्देश।

महापण्डित राहुल साकृत्यायन, आचार्य नरेन्द्र देव, डॉ. प्रह्लाद प्रधान और आचार्य संघसेन सिंह–इन सभी ने नवम कोशस्थान पुद्गलविनिश्चय को स्वीकारा है, जबकि द्वारिकादास शास्त्री ने इसे अष्टम कोशस्थान के पश्चात् रखते हुये, पृथक् कोशस्थान नहीं माना है। इसके पीछे कारण यह है कि इस परिच्छेद में भाष्य व स्फुटार्था तो प्राप्त होती है, किन्तु कारिका भाग नहीं है। नालन्दा के विद्वान् यशोमित्र द्वारा अभिधर्मकोश के कारिका और भाष्य दोनों पर स्फुटार्था व्याख्या लिखी गई। वसुबन्धु का समय चतुर्थ शताब्दी ईस्वी का उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

अभिधर्मकोश के चीनी भाषा में दो अनुवाद प्राप्त होते हैं, जिनमें प्रथम 563 ईस्वी में परमार्थ द्वारा किया गया अनुवाद है तथा द्वितीय 651-654 ईस्वी में ह्वेनसांग द्वारा किया गया अनुवाद है। फ्रांसीसी विद्वान् लुई द ला वाले पूंसे ने 1923-32 ईस्वी में ह्वेनसांग के चीनी अनुवाद से अभिधर्मकोश को फ्रेंच भाषा में अनूदित किया तथा मूल कारिकाओं का संस्कृत में पुनरुद्धार कर पेरिस से प्रकाशित किया। जापानी विद्वान् वोगिहारा ने टोक्यो से अभिधर्मकोशव्याख्या-स्फुटार्था को रोमन लिपि में 1932-36 ईस्वी में सम्पादित किया। अभिधर्मकोश के कारिका भाग के तिब्बती अनुवाद से महापण्डित राहुल सांकृत्यान

ने संस्कृत पुनरुद्धार किया तथा स्वयं विरचित 'नालन्दिका टीका' के साथ काशी विद्यापीठ, वाराणसी से 1931 ईस्वी में छपवाया, जिसे संघसेन सिंह ने सम्पादित करते हुये 2012 ईस्वी में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली से पुनः प्रकाशित कराया।

देवनागरी लिपि के अभिधर्मकोश तथा वसुबन्धु के भाष्य के साथ इसे प्रह्लाद प्रधान ने काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से 1967 ईस्वी में छपवाया था। बौद्ध भारती वाराणसी से स्वामी द्वारिकादास शास्त्री द्वारा 1970 ईस्वी में अभिधर्मकोश के कारिका, भाष्य तथा स्फुटार्था के साथ सम्पादित किया, जिसका द्वितीय संस्करण 2008 में प्रकाशित हुआ। पूंसे के फ्रेंच अनुवाद से हिन्दी अनुवाद आचार्य नरेन्द्र देव ने किया; जिसे हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ने 1958 ईस्वी में चार भागों में प्रकाशित किया। पूंसे के ही अनुवाद का अंग्रेजी अनुवाद लोद्रो सांग्पो द्वारा चार भागों में किया गया, जिसे मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ने 2012 ईस्वी में प्रकाशित किया।

मिश्रित संस्कृत महायान सूत्रों के अन्वेषण में विदेशी विद्वानों का योगदान–

संस्कृत में महायान सूत्रों की रचनाएँ लिखी गई। महायान सूत्रों को 'वैपुल्य सूत्र' भी कहा जाता है। महायान सूत्र अनेक हैं, किन्तु इनमें से कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं; जिनका विशेष रूप से आदर है। 19वीं शताब्दी में नेपाल के राजमंत्री राणा जंगबहादुर ने एक बौद्ध विहार पर कब्जा करके, वहाँ संरक्षित अनेक ग्रन्थों को सड़क पर फेंक दिया। इन ग्रन्थों को नेपाल रेजीडेंसी के डॉ. राइट ने लेकर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय को दान दे दिया; जिसे बाद में बेण्डल ने सन् 1883 में प्रकाशित करवाया।

महायान सूत्रों की संख्या 9 है। ये हैं–अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता, ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज व दशभूमीश्वर।

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता– महायान सूत्रों में प्रज्ञापारमिता सूत्रों का विशिष्ट स्थान है। अन्य सूत्र जहाँ बोधिसत्त्व के वर्णन तथा प्रशंसा से अतिरंजित हैं, वहाँ इनका विषय दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन है। महायानी साधक बोधिचित्त ग्रहण करने के पश्चात् पारमिताओं का सेवन करता है। 'पारमिता' शब्द का अर्थ संपूर्णता अथवा गुणों की पराकाष्ठा है। महायान संप्रदाय के ग्रन्थों में मुख्य रूप से पारमिता के छः प्रकारों का ही वर्णन प्राप्त होता है; जिनके माध्यम से बोधिसत्त्व बुद्धत्व प्राप्ति करता है। छः पारमितायें ये हैं–दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा।

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता में स्थविर सुभूति और शारिपुत्र का वार्तालाप है। इनका मूल संस्कृत में ही था। जिन्हें बाद में चीनी और तिब्बती भाषाओं में अनूदित किया गया। इनमें से अधिकतर प्रज्ञा पारमिताओं का अंग्रेजी अनुवाद एडवर्ड कोन्जे (Edward Conze) ने किया है। वियतनामी विद्वान् थिक न्यत हन्ह व परम पावन दलाई लामा जी ने भी कुछ का अनुवाद किया है।

ललितविस्तर–वैपुल्यसूत्रों में यह अद्वितीय महायानसूत्र है, इसमें बुद्धचरित का सांगोपांग वर्णन 27 अध्यायों में किया गया है। ललितविस्तर का मूल मिश्रित संस्कृत में संपादन तथा इसके कुछ अध्यायों का अनुवाद 1875 में एस. लेफमान ने किया था। इसका अंग्रेजी में अनुवाद राजेन्द्रलाल मित्र ने तथा फ्रेंच में अनुवाद फ्रूको ने किया था।

सद्धर्मपुण्डरीक–इस ग्रन्थ का नामकरण 'सद्धर्म' और 'पुण्डरीक' दो शब्दों के संयोग से किया गया है। पवित्रता तथा पूर्णता का प्रतीक पुण्डरीक (श्वेत-कमल) जैसे कीचड़ से उत्पन्न होने पर भी स्वच्छ रहता है; वैसे ही बुद्ध इस जगत में उत्पन्न होकर भी इसके प्रपंच तथा क्लेश से सर्वथा दूर हैं। इसमें 27 अध्याय या परिवर्त हैं।

चीनी भाषा में इसके छः अनुवाद किए गए हैं। चीनी अनुवादकों में धर्मरक्ष, कुमारजीव, ज्ञानगुप्त व धर्मगुप्त प्रमुख हैं। जापान में कुमारजीव का अनुवाद प्रचलित है। जापान के राजकुमार शी-तोकु-ताय-शि ने इस ग्रन्थ पर एक टीका लिखी थी, जिसे आज भी वहाँ सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

यूगेन बर्नॉफ (Eugene Burnouf) ने इसका 1844 में फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया था, जिसे 1852 में प्रकाशित करवाया गया। 1884 में कर्न ने मूल संस्कृत से अंग्रेजी में अनुवाद किया था।

लंकावतार–इस सूत्र में गौतम बुद्ध द्वारा लंका नरेश महामति रावण को दिया गया सद्धर्म का उपदेश वर्णित है। यह ग्रन्थ मूलरूप से विज्ञानवाद का ग्रन्थ माना जाता ह। इसमें शून्यवाद का स्पष्ट विरोध और विज्ञान की सिद्धि की गई है।

तीसरी शताब्दी में धर्मरक्ष ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। बाद में गुणभद्र व बोधिरुचि ने भी इसका चीनी में अनुवाद किया था। डी.टी.सुजुकि ने संस्कृत से अंग्रेजी भाषा में इसका अनुवाद किया। रेड पाइन ने चीनी संस्करण से अंग्रेजी में अनुवाद किया।

सुवर्णप्रभाससूत्र–महायान सूत्रों में यह नितान्त प्रसिद्ध है। इसका मूल संस्कृत भी उपलब्ध है, और जापानी विद्वान नाञ्जियों ने देवनागरी में इसे प्रकाशित करवाया है। इसके विपुल प्रभाव तथा ख्याति की सूचना चीन तथा तिब्बत में किये गये इसके अनेक अनुवादों से भली-भाँति मिलती है। चीनी-भाषा में इस सूत्र का अनुवाद पाँच बार किया गया था; जिनमें धर्मरक्ष, परमार्थ व यशोगुप्त के तीन अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं। मंगोलियाई भाषा में भी इत्सिंग के चीनी अनुवाद से इस ग्रन्थ का अनुवाद किया गया है। एम्मेरिक ने संस्कृत से इसका अंग्रेजी में संक्षिप्त अनुवाद किया है।

गण्डव्यूह सूत्र–बोधिसत्त्व उपासना से संबंधित यह सूत्र अवतंसक सूत्र के नाम से भी जाना जाता है। चीनी तथा तिब्बती त्रिपिटकों में बुद्धावतंसक सूत्रों का उल्लेख महायान के सूत्रों की सूची में उपलब्ध होता है। इस सूत्र को आधार मानकर चीन में छठी शताब्दी में अवतंसक मत की उत्पत्ति हुई। जापान में केगन सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ यही सूत्र है। यह सूत्र मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं होता। भारत के हिमालयी क्षेत्र सहित भूटान, तिब्बत व मंगोलिया में इस ग्रन्थ का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसका अंग्रेजी अनुवाद नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ की अंतिम चार पंक्तियाँ क्लेरे द्वारा अनूदित की गई हैं।

तथागत-गुह्यक सूत्र–कुछ विद्वानों का मानना है कि तथागतगुह्य, गुह्यसमाजतन्त्र तथा अष्टादशपटल–तीनों एक ही हैं अर्थात् ग्रन्थ में जो तथागतगुह्यसूत्र के उद्धरण मिलते हैं, वे गुह्यसमाज से भिन्न हैं। बोधिभद्र ने इसका चीनी में अनुवाद किया था। इसी चीनी अनुवाद को आधार बनाकर ग्रोस्निक ने 1995 में अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। जिम्मेरमन्न ने 2002 में तिब्बती संस्करण को आधार बनाकर इसका अंग्रेजी अनुवाद किया।

समाधिराज सूत्र–इसका दूसरा नाम चन्द्र-प्रदीप सूत्र है। इस ग्रन्थ में योगाचार की अनेक समाधियों का वर्णन मिलता है। चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक वृत्ति में तथा शान्तिदेव ने शिक्षा समुच्चय में इस ग्रन्थ से अनेक उद्धरण दिये हैं। इस ग्रन्थ में कनिष्क के समय में आयोजित बौद्ध संगीति का उल्लेख मिलता है। कश्मीर के उत्तर में गिलगित में एक स्तूप के नीचे से यह ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है तथा कश्मीर नरेश की उदारता से कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है।

148 ई. में इसका पहला चीनी अनुवाद हुआ। अंग्रेजी में इसका पूरा अनुवाद एक साथ अभी तक प्रकाशित नहीं है। इसका प्रथम अध्याय लुइस ओ. गोमेज ने; चतुर्थ, छठा, सातवां व नवां अध्याय जोन रोकविल्ल ने; ग्यारवां अध्याय मार्क तत्त ने; आठवां, उन्नीसवां व बाइसवां अध्याय कोन्स्टन्ते रेगमे; ने अंग्रेजी में अनूदित किया है; जो अधिकांशतः थीसिस कार्य के लिए किया गया है।

दशभूमीश्वर सूत्र–यह अवतंसक का ही एक अंश है। इस ग्रन्थ में बुद्ध तत्त्व तक पहुँचने के लिए दशभूमियों का क्रमिक वर्णन किया गया है। चीनी भाषा में धर्मरक्ष, कुमारजीव, बोधिरुचि व शीलधर्म के चार अनुवाद मिलते हैं। नागार्जुन ने इसके एक अंश पर दशभूमिक विभाषा शास्त्र नामक व्याख्या लिखी थी। उसका भी चीनी अनुवाद कुमारजीव ने किया है। इसमें केवल आरम्भिक दो भूमियों का ही वर्णन है।

रत्नकूट सूत्र–चीनी त्रिपिटक तथा तिब्बती कंग्यूर में रत्नकूट संगृहीत किया गया है। इसमें 49 सूत्रों का संग्रह है; जिनमें सुखावतीव्यूह, बोधिसत्त्वपिटक, काश्यपपरिवर्त, राष्ट्रपालपरिपृच्छा–आदि ग्रन्थ आते हैं। इस ग्रन्थ में बोधिसत्त्व के स्वरूप का वर्णन तथा शून्यता का प्रतिपादन अनेक कथानकों के रूप में किया गया है।

सुखावती व्यूह–संस्कृत में सुखावती-व्यूह नाम के दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं–एक विशाल और दूसरा संक्षिप्त। दोनों में अमिताभ बुद्ध का गुण-गान है। वृहत् सुखावती में कर्म का महत्त्व अक्षुण्ण है, जबकि संक्षिप्त सुखावती में मृत्यु के समय अमिताभ का नाम-चिन्तन मात्र बुद्ध-क्षेत्र में उत्पत्ति के लिए पर्याप्त समझा गया है। सुखावती व्यूह में बुद्ध अमिताभ के साथ बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का गुण-कीर्तन किया गया है। यहाँ अवलोकितेश्वर की करुणा का प्रभूत-विस्तार है। उनकी कृपा से अवीचि नरक का दिव्य रूपान्तर हो जाता है तथा प्रेत भूख-प्यास से मुक्त हो जाते हैं। अवलोकितेश्वर पंचाक्षरी विद्या 'ॐ मणि पद्मे हुँ'–को धारण करते हैं।

सुखावती व्यूह के 12 अनुवाद चीनी भाषा में किये गये थे; जिनमें से आज केवल कुमारजीव, ह्वेनसांग व गुणभद्र आदि के पाँच अनुवाद चीनी त्रिपिटकों में उपलब्ध हैं।

मिश्रित संस्कृत अवदान साहित्य के अन्वेषण में विदेशी विद्वानों का योगदान–

बौद्धों का मिश्रित संस्कृत भाषा में चरित प्रधान साहित्य 'अवदान साहित्य' कहलाता है। अवदान साहित्य प्रायः बुद्धोपासक व्यक्ति-विशेष आदर्श-चरित होता है। अवदान साहित्य में अवदानशतक का विशेष स्थान है, जो दस वर्गों में विभक्त है तथा प्रत्येक वर्ग में दस-दस कथाएँ हैं।

दिव्यावदान (अर्थात् दिव्य कथायें) पवित्र बौद्ध कथाओं का संग्रह है। अवदान साहित्य में इसका विशेष महत्त्व तथा वैशिष्ट्य है। इसमें कुल 38 अवदान हैं। इसकी आधी कथायें विनय-पिटक से एवं शेष सूत्रालंकार से संगृहीत की गई हैं। अशोकावदान, दिव्यावदान का ही एक उपग्रन्थ है। अशोकावदान का समय तृतीय शताब्दी माना जाता है। अशोकावदान ग्रन्थ कई मूर्धन्य विद्वानों द्वारा सम्पादित है। जैसे अशोकावदान के मूल संस्कृत ग्रन्थ का सम्पादन सबसे पहले कॉवेल एवं आर.ए. नील द्वारा क्रमशः सन् 1886 में कैम्ब्रिज से तथा 1963 में साहित्य अकादमी से हुआ, लेकिन पाठकों के लिए ग्राह्य नहीं था, तत्पश्चात प्रो. सुजीत कुमार मुखोपाध्याय ने अशोकावदान का सम्पादन, पादटिप्पणी एवं आंशिक आंग्लानुवाद किया। जे. प्रजुलुस्की ने 1923 में चीनी भाषा से फ्रेंच में तथा जॉन एस. स्ट्रॉन्ग ने 1983 में अंग्रेजी अनुवाद किया।

अस्तु, निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बौद्ध मिश्रित संस्कृत साहित्य के संवर्द्धन में तथा भारत में उपेक्षित एक पूरी ज्ञान-परम्परा के संरक्षण में वैदेशिक विद्वानों के अमिट योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इस बौद्ध मिश्रित संस्कृत साहित्य की धारा को आगे शोध व अध्ययन की और आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

उपाध्याय, बलदेव, बौद्ध दर्शन मीमांसा, वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, पञ्चम संस्करण, 1999.

उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, प्रयागः हिन्दी साहित्य सम्मेलन, छठा संस्करण, 2000.

उपाध्याय, भरतसिंह, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (दो भाग), दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास, 1996.

टर्नर, जॉर्ज (सं.), महावंस, लंदनः ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1938.

तारानाथ, भारत में बौद्धधर्म का इतिहास, अनुवादक लामा रिगजिन लुण्डुप, पटनाः काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, 1971.

दत्त, नलिनाक्ष (सम्पादक), बौद्ध संग्रह, अनुवादक-राममूर्ति त्रिपाठी, नई दिल्लीः साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण, 1993.

देव, नरेन्द्र (अनुवादक), आचार्य वसुवन्धु कृत अभिधर्म कोश (चार खण्ड), इलाहाबादः हिन्दुस्तानी एकेडमी, द्वितीय संस्करण, 2008.

देव, नरेन्द्र, बौद्धधर्म-दर्शन, दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास, 2011.

धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, वाराणसीः ज्ञानमण्डल लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1971.

पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊः उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, पञ्चम संस्करण, 2010.

बाशम, ए.एल., अद्‌भुत भारत, अनुवादक–वेंकटेशचन्द्र पाण्डेय, आगराः शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, 2002.

रीस डेविड्स, टी. डब्ल्यु., बौद्ध धर्म का इतिहास और साहित्य, अनुवादक–ताराराम, नई दिल्लीः सम्यक प्रकाशन, 2009.

लाल, अँगने, बौद्ध संस्कृति के विविध आयाम, लखनऊः उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, प्रथम संस्करण, 2008.

लाल, अँगने, संस्कृत बौद्ध साहित्य में इतिहास और संस्कृति, लखनऊः उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, प्रथम संस्करण, 2006.

वैद्य, पी. एल. (सं.), दिव्यावदान, दरभंगाः मिथिला विद्यापीठ, 1959.

वैद्य,पी. एल. (सं.), महायान-सूत्र-संग्रह, दरभंगाः द मिथिला इन्स्टिट्यूट ऑफ पोस्ट-ग्रेजुएट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग, 1961.

वैद्य,पी. एल. (सं.), ललितविस्तर, दरभंगाः मिथिला विद्यापीठ, 1958.

शास्त्री, द्वारिकादास (सं.), अभिधर्मकोशम् (स्वोपज्ञभाष्यसहितं स्फुटार्यव्याख्योपेतं च) (दो खण्ड), वसुबन्धु, वाराणसीः बौद्धभारती, द्वितीय संस्करण, 2008.

सिंह, आनन्द, प्राचीन भारतीय धर्म उद्‌भव एवं स्वरूप, दिल्लीः हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, प्रथम संस्करण, 2010.

सुजुकि, डी. टी., महायान बौद्धधर्म की रूपरेखा, अनुवादक–तुलसीराम शर्मा, दिल्लीः ईस्टर्न बुक लिंकर्स, प्रथम संस्करण, 2007.

हिरियन्ना, एम., भारतीय दर्शन की रूपरेखा, अनुवादक–गोवर्धन भट्ट, मंजु गुप्त व सुखवीर चौधरी, नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2011.

Bapat, P. V., *2500 Years of Buddhism*, Delhi: Publications Division (Ministry of Information), 1956.

Bary, Theodore De (Editor), *Sources of Indian Tradition*, New York: Columbia University Press, 1958.

Hazra, Kanai Lal, *Pâli Language and Literature: A Systematic Survey and Historical Study (Volume-1)*, New Delhi: D.K. Printworld (P) Ltd., First Edition, 1994.

Kalupahana, David J., *A History of Buddhist Philosophy: Continuities and Discontinuities*, Delhi: Motilal Banarsidass, 2006.

Law, Bimla Charan (Editor), *Buddhistic Studies*, Delhi: Low Price Publications, 2004.

Law, Bimla Charan, *A History of Pâli Literature*, Delhi: Abhisekh Prakashan, 2007.

Max Müller, F., *India what can it teach us?* Rupa.co, New Delhi, Fourth Impression, 2010.

Mukhopadhayaya, Sujeet Kumar (Ed.), *Asokâvadâna*, New Delhi: Sahitya Academy, First Edition, 1963.

Rahula, Walpola, *What the Buddha taught*, London: The Gordon Fraser Gallery Ltd., 1978.

Rhys Davids, T. W., *Buddhism Its History and Literature*, Delhi: Low Price Publication, Third Edition, 2010.

Rhys Davids, T. W., *Buddhist India*, Delhi: Low Price Publication, 2010.

Sarao, K.T. S., *Origin and Nature of Ancient Indian Buddhism*, Fourth Edition, Taipei: Corporate Body of the Buddha Education Foundation, 2004.

Suzuki, Daisetz T. (tr.), The Lankavatara Sutra, Boulder: Parajna Press, 1978.

Tachibana, S., *The Ethics of Buddhism*, London: Oxford University Press, 1920.

Warder, A. K. Indian Buddhism.Delhi: Motilal Banarsidass Publ., 2000.

Wayman, Alex. "The Buddhism and the Sanskrit of Buddhist Hybrid Sanskrit." Journal of the American Oriental Society, vol. 85, no. 1, 1965, pp. 111–115. JSTOR, www.jstor.org/stabl//597713.

Webb, Russell, *Analysis of the Pâli Canon*, Kandy: Buddhist Publication Society, 1991.

Winternitz, Maurice, *A History of Indian Literature (Vol. II)*, Translated by Subhadra Jha, Delhi: Motilal Banarasidas, 1966.

कोश-ग्रन्थ (Dictionaries & Encyclopedias) –

A Popular Dictionary of Buddhism, Humphreys, Christmas, Curzon Press, London, Second Edition, 1976.

Buddhist Dictionary, Nyantiloka, Singapur Buddhist Meditation Centre, Singapore, 1946, reprint from The Corporate Body of the Buddha Educational Foundation, Taiwan, Third Edition, 1970.

Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary (volume 1 &2), Edgerton, Franklin, Munshiram Manoharlal Publishers PVT LTD, New Delhi, 2011.

Encyclopedia Britannica (Vols.-II, VIII, XXI), Helen Hemingway Publication, Benton, 15th Edition, 1973-74.

Encyclopedia of Indian Philosophies, Vol-II, Potter Karl. H. (ed.), Motilal Banarasidas Publishers Private Limited, Delhi, Third Edition, 1995.

English-Sanskrit Dictionary, Williams, Monier, Munsi Ram Manohar Lal, Delhi, 1976.

Pali-English Dictionary, Vol. I-VII, Davids Rhys, T.W.; Stede, William, Pali Text Society, London, 1952.

The New Encyclopnzdia Britannica-vol.3(Micropnzdia), Encyclopnzdia of Britannica Inc., The University of Chicago, USA, 15th Edition, 1993.

अन्तर्जालीय-स्रोत (Internet Sources)–

http://dsbc.uwest.edu (Access date 23-27 April, 2018)

http://www.ancient-buddhist-texts.net (Accessed date - 30 March, 2018)

http://www.jstor.org (Access date - 20-25 September, 2018)

http://www.palitext.com (Access date – 20 April, 2018)

http://www.sacred-texts.com/aor/einstein/einsci.htm (Access date 16 November, 2018)

http://www.tipitak.org (Access date 8 March, 2018)

https://www.ancient-buddhist-texts.net/Reference/Early-Buddhist-Texts/02-EBT-Sanskrit-Canon.htm, retrieved from

https://www.ancient-buddhist-texts.net/Reference/Early-Buddhist-Texts/Early-Buddhist-Texts.pdf (Access date 10 October, 2018)

http://www.buddhism-guide.com/buddhism/buddhist_hybrid_sanskrit.htm (Access date 7-10 October, 2018)

https://www.ancient-buddhist-texts.net/Referenc/Early-Buddhist-Texts/02-EBT-Sanskrit-Canon.htm (Access date 7-10 November, 2018)

http://www.oxfordreference.com/view/10.1093/oi/authority.20110810104820235 (Access date 7-10 November, 2018)

11

बौद्ध-संस्कृत-साहित्य में विभिन्न विज्ञानों का विवेचन

भूपेन्द्र कुमार गौतम
(व्याकरणाचार्य)
शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
दयालबाग वि.वि., दयालबाग, आगरा (उत्तरप्रदेश)
ई-मेल–bgautam13@gmail.com

शिक्षा वह कला है जिससे व्यक्ति, व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र को अभ्युदय और श्रेय की सिद्धि मिलती है। वर्तमान युग का आधार, विज्ञान शिक्षा की ही देन है। यही कारण है मानव सभ्यता और विश्व के इतिहास में सभी जातियों और राष्ट्रों में एक सुनियोजित शिक्षा-पद्धति अपनायी है।[1]

बौद्धयुगीन साहित्य और विज्ञान की जानकारी के लिए निम्नलिखित आख्याओं में अध्ययन प्रस्तुत किया गया है–

1. पालि और संस्कृत भाषाएँ, 2. विद्यालय और पाठ्य सामग्री, 3. विविध साहित्य, 4. मृदा विज्ञान, 5. वनस्पति विज्ञान, 6. रसायन विज्ञान और 7. ज्योतिष विज्ञान।

महावग्ग-काल में बौद्धधर्म अपने उत्कर्ष पर था, इसलिए बौद्ध साहित्य का अध्ययन विशेष रूप से होता था, किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य साहित्य का भी अध्ययन अध्यापन होता था। जिसमें निम्न विज्ञान प्रमुख थे–

1. विज्ञान–

आलोच्य काल में विज्ञान का क्षेत्र बहुत फैला हुआ था। उस समय देश में अनेक प्रकार के विज्ञान विद्यमान थे। इस आशय से कि 'ज्ञान ही विज्ञान है' जैसे–मृदा विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, ज्योतिष विज्ञान, वनस्पति एवं रसायन विज्ञान आदि। 'वस्तुतः किसी भी विषय का क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित और संगठित ज्ञान विज्ञान कहा जाता है, जो कार्य और कारण में सम्बन्ध स्थापित करें तथा सिद्धान्त और व्यवहार में तारतम्य स्थापित करें।' वर्तमान में जिसे भौतिक विज्ञान (Pure Science) कहा जाता है, उसमें भी युद्धकाल में प्रशंसनीय ख्याति थी। उस समय भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत चिकित्सा एवं भैषज्य विज्ञान काफी प्रगति पर था। इस प्रकार भौतिक एवं रसायन, वनस्पति और ज्योतिष विज्ञान की शिक्षा भी दी जाती थी।

1. अंगने लाल : बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन

अब हम उस समय के विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के उल्लेखनीय प्रगति की चर्चा करेंगे–

1.1 मृदा विज्ञान–

प्राचीन काल से ही भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। आर्थिक पक्ष में हम कृषि मे विभिन्न फसलों की चर्चा कर चुके हैं। इससे उस समय के मृदा ज्ञान का पता चलता है। कृषि के अतिरिक्त अन्यानेक प्रकार से मिट्टी के उपयोग का पता तत्कालीन जनता को था। मिट्टी से स्नान करना उस समय गुणकारी माना जाता था। आलोच्यग्रन्थ में अनेक स्थानों पर मिट्टी से स्नान करने का उल्लेख है।[2] यह त्वचा के लिए गुणकारी होती है। आज भी मिट्टी का प्रयोग स्नान के लिए किया जाता है।

उस समय मिट्टी का प्रयोग दाद, खुजली, व्रण, रक्तस्राव, (स्थूलकक्ष) शरीर से दुर्गन्ध आने पर किया जाता था।[3] मिट्टी का चूर्ण बनाकर लेप लगाने का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि मिट्टी का प्रयोग विभिन्न प्रकार के त्वचा रोगों में करते थे। दूसरे अन्य रोगों में भी इसका प्रयोग किया करते थे। सर्पविष निवारणार्थ (मलमूत्र, राख-मिट्टी) (चार-महाविकटों) को पिलाया जाता था।

महावग्ग[4] में एक स्थान पर एक भिक्षु द्वारा गोबर तथा पीली मिट्टी से अपना चीवर रंगने का उल्लेख है। इस प्रकार उस समय मिट्टी एक गुणकारी तत्त्व था, इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है।

1.2 वनस्पति विज्ञान–

ज्ञान का एक पक्ष कला है, तो दूसरा विज्ञान। बौद्धकाल में विज्ञान का क्षेत्र बहुत आगे था। ज्ञान-विज्ञान के विकास के कारण ही धार्मिक आन्दोलन हुआ।

देश में अनेक प्रकार के विज्ञान थे। जिसमें वनस्पति विज्ञान का भी विकास हो चुका था। महावग्ग ग्रन्थ में अनेक वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है। जो अनेक प्रकार से भोजन, औषधि आदि में प्रयोग होता था। उस समय दतऊन[5] (दातौन) का प्रयोग होता था। जिसका प्रयोग दाँत साफ करने के लिये किया जाता था। यह नीम के वृक्ष की एक टहनी के रूप में होता था। वृक्षों के पत्तों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। जैसे–नीम का पत्ता, कुड़े का पत्ता, पटोल पत्ता, तुलसी पत्ता, कपास का पत्ता।[6]

इसी प्रकार फल औषधियों के उपयोग का उल्लेख मिलता है। इन फल-औषधियों में–विडंग, पीपल, मरीच, हर्र बहेड़ा, आंवला या गोष्ठ फल आदि के प्रयोग का उल्लेख महावग्ग में है। (पृ. 335) कृषि के क्षेत्र में हुए कार्यों को देखने से लगता है कि बुद्धकालीन वनस्पति विज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था तथा विभिन्न प्रकार की फसलों, पौधों, फलों, फूलों को उगाने की अच्छी तकनीक की जानकारी थी। जन्तुमय (गोन्द वाली) विभिन्न पौधों का उल्लेख मिलता है।[7] उस समय की औषधि विज्ञान वनस्पतियों पर ही निर्भर थी।

---

2. महावग्ग (स्वामी अनु0) पृ. 69-189
3. महावग्ग (स्वामी अनु0) पृ. 337
4. महावग्ग (स्वामी अनु0) पृ. 463
5. महावग्ग पृ. 189
6. महावग्ग पृ. 335
7. महावग्ग पृ. 335

1. 3 रसायन विज्ञान–

बौद्ध कालीन रसायन विज्ञान का क्षेत्र भी काफी विस्तृत था। विभिन्न प्रकार के रसायन तत्त्वों का प्रयोग का उल्लेख महावग्ग में मिलता है। वाष्प स्नान का उल्लेख मिलता है।[8] इसी प्रकार गोमूत्र रसायन को औषधि के रूप में प्रयोग होता था।[9]

उस समय समाज मे विभिन्न रोग जैसे वात रोग[10] वित्त विकार श्लेष्म, सन्निपात, चक्षुरोग, चक्षुरोग, कर्णरोग, घ्राण रोग, जिह्वा रोग, ओष्ठ रोग, दन्तरोग, कण्ठरोग, गलरोग, वातातप, मुखरोग, पाण्डुरोग[11] क्षय-व्याधि आदि अनेक रोग समाज में फैले हुये थे। इनका इलाज इस रसायन विज्ञान के विस्तार के कारण हुआ था। शिरोरोग में शिर पर तैल रसायन रखने का उल्लेख मिलता है।[12] एक स्थान पर नमकीन सिरका के प्रयोग का उल्लेख है।[13] इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन लोग तत्त्वों को बदलने की क्रिया जानते थे तथा रसायन तत्त्व तैयार करते थे। इस प्रकार ज्ञात होता है कि बुद्ध काल में विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत था। नये-नये प्रयोग होते जा रहे थे। चिकित्सा और औषधि विज्ञान की शिक्षा व्यवस्था बौद्ध-युग में कैसी थी, इसकी जानकारी धर्म भिक्षुरक्षित द्वारा लिखे ग्रन्थ से भी होती है।[14]

1.4 ज्योतिष विज्ञान–

आलोच्य काल धार्मिक क्रान्ति का युग था। उस समय वैदिक धार्मिक जीवन में ज्योतिष विद्या की विशेष आवश्यकता एवं उपयोगिता थी। उस समय समाज में रहने वाले छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, कृषक, वैश्य, पुरोहित एवं राजा सभी लोगों को शुभ-अशुभ ग्रह लग्नों के विषय में जानकारी रखना आवश्यक होता था। अतः समाज ज्योतिषियों का विशेष महत्त्व था। इस दृष्टिकोण से ज्योतिष-विज्ञान की जानकारी प्राप्त की जाती थी। जीविकोपार्जन की दृष्टि से भी यह विद्या लाभ युक्त थी।

उस समय के कई ब्राह्मण भविष्य वाणी करके धन प्राप्त करते थे।[15] आलोच्य ग्रन्थ में एक स्थान पर स्वयं भगवान बुद्ध पाटलिपुत्र नगर के विनाश के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हैं कि इस नगर के तीन ही नाशक होंगे–अग्नि, जल एवं आन्तरिक-फूट।[16]

इस प्रकार तत्कालीन समाज में लोग अपने और अपने राज्य के सम्बन्ध में भविष्य वाणी जानकर सचेत रहते थे। भगवान बुद्ध ने कोलित और उपतिष्य के विषय में भी भविष्यवाणी की थी कि ये दोनों युगल के रूप में मेरे प्रमुख शिष्य होंगे। जो भविष्य में भगवान के प्रमुख शिष्य भी बनते हैं। (देखें-महावग्ग पृ. 63)

---

8. महावग्ग पृ. 69
9. महावग्ग पृ. 152-3
10. विनयपिटक 6/2/2-5
11. विनयपिटक 6/2/1
12. महावग्ग पृ. 339
13. महावग्ग पृ. 350
14. बौद्धधर्म-दर्शन तथा साहित्य, 1963, पृ. 211
15. दीघनिकाय 1/4, पृ. 46
16. महावग्ग पृ. 375

ज्योतिष विज्ञान के अन्तर्गत नक्षत्रों और ग्रहों तथा उनके फलाफलों पर विचार किया जाता था। एक स्थान पर भगवान बुद्ध केणिय जटिल के दान पर गुणगान गाथाओं के माध्यम से करते हुए नक्षत्रों का भी ज्ञान देते हैं।[17] आलोच्य ग्रन्थ से दिशाओं के ज्ञान का संकेत अनेक स्थलों मे मिलता है।[18]

ललितविस्तार के अनुसार चारों दिशाओं में सात-सात ग्रह प्रतिष्ठित होते है।[19] इसी प्रकार नक्षत्रों की संख्या 28 मानी गयी है।[20] जो इस प्रकार है–कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्र, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़ा, अभिजित, श्रवण, घनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद, रेवती, अश्विनी और भरणी, इन सभी के विषय में समुचित जानकारी दी जाती थी।

ज्योतिष से सम्बन्धित इन नक्षत्रों के अतिरिक्त अन्य विद्याओं तथा विषयों का भी अध्ययन किया जाता था जिसमें प्रमुख रूप से लक्षण, निमित्त, भूम्यन्तरिक्ष, मंत्र, नक्षत्र, शुक्रग्रहचरित, इत्यादि थे। दिव्यावदान के अनुसार शकुन-अपशकुन विद्या[22] भी इसी के अन्तर्गत थी।

स्वप्नों के फलाफल विचार पर जनता का बहुत विश्वास था। अतः स्वप्न-विषयों के फलाफल पर जनता ब्राह्मणों द्वारा विचार करवाती थी। इससे ज्ञात होता है कि स्वप्नाध्याय की शिक्षा दी जाती थी। किन्तु भगवान बुद्ध ने इसे हीन-विद्या माना है।[23] परन्तु उनके अनुयायी ब्राह्मणों की तुलना में भगवान बुद्ध को अधिक प्रमाणित स्वप्न विचारक मानते थे।[24]

अतः इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में ज्योतिष विज्ञान के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। पालि ग्रन्थों में जहाँ विभिन्न विषयों के जानकार लोगों को शिल्पज्ञ, धर्मज्ञ, लोकज्ञ, कालज्ञ, लक्षणज्ञ, आदि कहने का उल्लेख मिलता हैं। इससे यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि उस समय इन विषयों का भी अध्ययन किया जाता था।

17. महावग्ग (स्वामी अनु0) पृ. 400
18. महावग्ग पृ. 309
19. ललित विस्तर (मिश्र) संस्करण 507/9-10
20. ललित विस्तर (मिश्र) संस्करण 507/9-10
21. दिव्यावदान, 181/69
22. दिव्यावदान, 328/11
23. दीर्घनिकाय, 1/2, पृ. 26
24. जातक, 1, पृ. 335

9

बौद्ध संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तत्त्व

डॉ. अरविन्द सिंह गौर
अंशकालिक सहायक प्राध्यापक (इतिहास)
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग (उत्तराखण्ड)
ई-मेल–gaurarvind4096@gmail.com

बौद्ध संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें राजा बिम्बिसार से लेकर पुष्यमित्र शुंग तक का मगध का इतिहास दिया गया है। महाजनपद काल में सोलह महाजनपदों में विभिन राजवंश राज्य करते थे; जिनमें मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति–चार प्रसिद्ध राज्य थे। मगध पर बिम्बिसार वंश, मौर्यवंश तथा पुष्यमित्र शुंग का अधिकार हुआ। इन सभी राजवंशों का प्रमाणिक और क्रमिक इतिहास बौद्ध-संस्कृत-साहित्य में प्राप्त होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण प्रमुख ग्रन्थ हैं–महावस्तु, ललितविस्तर, अवदानशतक, बुद्धचरित, सौन्दरानन्द, सद्धर्मपुण्डरीक, करुणापुण्डरीक, वज्रछेदिका, सुखावती एवं वज्रसूची आदि। इनसे प्राचीन भारतीय इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है तथा आवश्यक जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। यद्यपि इन ग्रन्थों का उद्देश्य इतिहास का निरूपण नहीं है; फिर भी विषय-वर्णन के प्रसंग में आवश्यक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक जानकारियाँ अवश्य प्राप्त होती हैं। इसमें विभिन्न कथाओं के अन्तर्गत प्राचीन भारत के विभिन्न राजवंशों की महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। तद्यथा–

ओक्काक (इक्ष्वाकु) वंश–

सम्मत, कल्याण, रव, उपोषध, मान्धाता[1] आदि शासकों के नामों का उल्लेख हमें बौद्ध साहित्य में मिलता है। इक्ष्वाकु वंश ने साकेत पर शासन किया था। ओपुर, निपुर, कारण्डक, उल्कामुख, हस्तिकशीर्ष, इन पाँचों ने कपिलवस्तु की स्थापना कर शासन किया। उपोषध की साठ हजार स्त्रियाँ थीं।[2] इन्होंने मान्धाता को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। मान्धाता ने साकेत को अपनी राजधानी बनाई।[3] मान्धाता ने नौ कोटि वीरों की सेना, सहस्र पुत्रों के साथ मिलकर पूर्वी विदेहक अपर गोदनीय एवं उत्तर कुरु एवं सुमेरु के सात स्वर्ण पर्वतों पर विजय प्राप्त की। इस कारण उसे 'चतुर्द्वीपेश्वरः' की उपाधि प्रदान की गई।[4]

1. दिव्यावदान,130/20,21,22
2. महावस्तु अवदान जि. 1/348/10-11
3. दिव्यावदान,131/2
4. दिव्यावदान,131/18

सुजात इक्ष्वाकु के पुत्र ओपुर, निपुर आदि ने कपिलमुनि के आश्रम पर कपिलवस्तु नगर की स्थापना की और वहाँ शासन किया।[5] इसी प्रकार सिंहहनु, शुद्धोदन भी कपिलवस्तु के शासक रहे। तथागत गौतम बुद्ध राजा शुद्धोदन के ही पुत्र थे।

बुद्धकाल में कोशल अत्यधिक शक्तिशाली था। प्रसेनजित् इक्ष्वाकु वंश के सम्राट् थे।[6] वत्सराज उदयन वत्स महाजनपद का प्रसिद्ध शासक था। वह बिम्बिसार एवं चण्डप्रद्योत का समकालीन था।

मगध का इतिहास

हर्यक वंश–

हर्यक कुल में जन्मा बिम्बिसार मगध का शासक था। उसकी मन्त्रि-परिषद् में 60,000 मन्त्री थे।[7] अजातशत्रु राजा बिम्बिसार का पुत्र था। उसने अपने पिता की हत्या कर सिंहासन पर आधिपत्य जमाया था।[8] अजातशत्रु को 'वेदेहीपुत्र' भी कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि उसकी माता विदेह राजा की पुत्री थी। दिव्यावदान में अजातशत्रु का उल्लेख कलिराज[9] के रूप में भी मिलता है। उन्होंने जीवक की सहायता से भगवान् बुद्ध के दर्शन किए थे।[10] इसका चित्रण भरहुत स्तूप में किया गया है।[11] पिता की हत्या के पश्चात्ताप फलस्वरूप अजातशत्रु अपने जीवन-काल में ही बुद्धानुयायी बन गया था। प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन अजातशत्रु के संरक्षण में राजगृह के वैहाय पर्वत की उत्तरी ढाल पर स्थित सप्तपर्णी गुफा में हुआ था।[12]

पुराणों के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी दर्शक था और उसने 25 वर्ष शासन किया। यह ध्यातव्य है कि दिव्यावदान में हर्यक वंश के राजाओं की सूची में दर्शक का नाम नहीं मिलता है। कथाकोष और परिशिष्टपर्व में भी कहा गया है कि उदय या उदयिन ही अजातशत्रु का पुत्र और तात्कालिक उत्तराधिकारी था।[13] महावंश के अनुसार, उदयभद्र ने 16 वर्ष शासन किया।

शिशुनाग वंश–

दिव्यावदान में वर्णित है कि काकवर्णी बिम्बिसार वंशी शासक मुण्ड का पुत्र तथा उत्तराधिकारी[14] था; किन्तु यह भ्रमात्मक है, क्योंकि काकवर्णी शिशुनाग का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। यह वाराणसी में मगधराज का वायसराय था[15]। शिशुनाग का अन्य नाम कालाशोक था। इसके शासनकाल की दो महत्त्वपूर्ण

5. महावस्तु अवदान जि. 1/348-352
6. Roy choudhari, Political History Of Ancient India, page 103 (6th edition)
7. दिव्यावदान,156/29
8. दिव्यावदान,173/21-22
9. बुद्धचरित 28/1-54
10. बुद्धचरित 21/6
11. The age of Imperial unity (History and culture of Indian people-Vol. 2) p. 27
12. महावस्तु जि. 1/70/15-19
13. Roy choudhari, Political History of Ancient India, p. 216 (6th edition)
14. दिव्यावदान, 232/19-20
15. Roy choudhari, Political History of Ancient India, p. 219 (6th edition)

घटनाएँ वैशाली की द्वितीय बौद्ध संगीति तथा पाटलिपुत्र में राजधानी परिवर्तन था।[16] द्वितीय बौद्ध संगीति का उल्लेख महावस्तु में भी मिलता है।[17] दिव्यावदान के अनुसार कालाशोक का पुत्र सहली, सहली का पुत्रा तुलकुची तथा तुलकुची का पुत्र महामण्डल था।[18]

नन्द वंश–

दिव्यावदान में नन्द को प्रसेनजित का पुत्र एवं महामण्डल का पौत्र कहकर बिम्बिसार वंश[19] का बताया गया है परन्तु यह तथ्य इतिहास विरुद्ध है। कलिंगराज खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख में भी नन्द वंश का उल्लेख है।[20] नन्द शासक एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के मध्य युद्ध हुआ जिसमें नन्द शासक का सेनापति भद्रशाल था।[21]

मौर्य वंश–

संस्कृत बौद्ध साहित्य में मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य का स्पष्ट नाम नहीं मिलता है। दिव्यावदान में राजा चन्द्रप्रभ से चन्द्रगुप्त का संकेत प्राप्त होता है। इसमें उल्लिखत है कि बिन्दुसार नन्द का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था, जो इतिहास संगत नहीं है। बिन्दुसार के शासनकाल में तक्षशिला के लोगों ने विद्रोह किया। इसका कारण वहाँ युवराज सुसीम का राज्य प्रबन्ध जनता की रुचि के विरुद्ध था। जिसके दमन के लिए बिन्दुसार ने अशोक को तक्षशिला भेजा।[22] वहाँ की प्रजा ने अशोक का स्वागत किया और कहा कि वे न तो कुमार के विरुद्ध हैं और न ही शासक बिन्दुसार के, किन्तु यहाँ के अधिकारीगण हमारा अपमान करते हैं।[23]

बिन्दुसार अपने ज्येष्ठ पुत्र सुसीम को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, किन्तु प्रधानमंत्री खल्लाटक या राधागुप्त उसके कार्यों से सन्तुष्ट नहीं था। अतः सम्पूर्ण मन्त्रि-परिषद सुसीम के खिलाफ हो गई।[24] इसी समय तक्षशिला में विद्रोह हुआ, जिसके दमन के लिए सुसीम को भेजा गया, किन्तु वह विद्रोह को शान्त करने में सफल नहीं हुआ। इसी बीच बिन्दुसार की मृत्यु हो गई और मन्त्रियों ने अशोक को सिंहासन प्रदान कर दिया। अशोक ने राधागुप्त को अग्रामात्य नियुक्त किया।[25] अशोक और सुसीम में उत्तराधिकार युद्ध हुआ। दीपवंश से ज्ञात होता है कि उत्तराधिकार संघर्ष के कारण सिंहासन प्राप्त करने के चार वर्ष पश्चात् अशोक का राज्याभिषेक हुआ।[26]

16. Roy choudhari, Political History of Ancient India, p.-222
17. महावस्तु जि. 1 /248/11-14,1/251/10
18. दिव्यावदान,232/20
19. दिव्यावदान,232/20-21
20. खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख पं.6-12
21. मिलिन्दप्रश्न पृ. 358, कलकत्ता,1951
22. दिव्यावदान,234/10-12
23. दिव्यावदान,234/17-18
24. दिव्यावदान,234/26
25. दिव्यावदान,232/5,279/13
26. महावंश, गाइगर्स अनुवाद, पृ. 28

राज्य शासन की प्रारम्भिक अवस्था में सम्राट अशोक को चण्डाशोक को रूप में चित्रित किया गया है।[27] अमात्यों से मतभेद एवं उनकी प्रतिकूलता देखकर ही अशोक ने 105 या 500 मन्त्रियों[28] को मरवा डाला, साथ ही अन्तःपुरवासियों द्वारा राजकीय उद्यान के अशोक वृक्ष को कटवा देने के कारण 500 स्त्रियों को जलवा दिया गया।[29] अशोक ने अपने शत्रुओं को परास्त कर दक्षिणी समुद्र से लेकर हिमालय पर्वत तक राज्य स्थापित किया।[30] उसने कलिंग[31] व कश्मीर[32] पर विजय प्राप्त की। अशोक को 13वें शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि कलिंग युद्ध ने सम्राट अशोक को उग्र जीवन से धार्मिक जीवन की ओर उन्मुख किया। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि कुक्कुटाराम के वाल पण्डित नामक बौद्ध भिक्षु ने अशोक को बौद्धधर्म में दीक्षित किया।[33] कुनालावदान में उपगुप्त के नेतृत्व में सम्राट् अशोक द्वारा बौद्ध-तीर्थों के दर्शन तथा 84,000 विहारों के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है।

मौर्य वंश के पश्चात शुंग शासकों का उत्तर भारत में शासन स्थापित हुआ। पुष्यमित्र इस वंश का संस्थापक था, जो वृहद्रथ का सेनापति था। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। परन्तु दिव्यावदान में पुष्यमित्र शुंग को मौर्यवंशीय वताया गया है, जो भ्रमात्मक है। पश्चिम में उसका राज्य स्यालकोट तक विस्तृत था। इस प्रकार बौद्ध संस्कृत साहित्य से तत्कालीन प्राचीन भारत के विभिन्न राजवंशों की विशद जानकारी प्राप्त होती है।

सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक जीवन के अन्तर्गत सामाजिक संस्कारों, संस्थाओं, विवाहों, स्त्रियों की दशा, खान-पान, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, वस्त्रभूषण आदि का विवरण मिलता है। वज्रसूची तथा दिव्यावदान में चतुर्वर्ण व्यवस्था की कटु आलोचना के पश्चात् एक ही वर्ण एवं जाति की समानता का सिद्धान्त का प्रतिपादित किया गया है। सामान्य रूप से तत्कालीन लोग सुखी और समृद्ध थे। लोग अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते थे। उपयोग में लाए हुए वस्त्र को 'परिभुक्तक' एवं ऐसा वस्त्र जिसका उपयोग अभी तक न किया गया हो 'अपरिभुक्तक' कहलाता था।[34] नए कपड़े को 'अहत', जबकि पुराने वस्त्र 'अनाहत' दूष्य कहते थे।[35] लोग सुगन्धित द्रव्यों एवं आभूषणों का प्रयोग करते थे। सिर में धारण किए जाने वाले अलंकारों में चूड़ामणि का उल्लेख हुआ है।[36] इसे केवल स्त्रियाँ ही पहनती थीं। कानों में कुण्डल पहना जाता था। इसे स्त्री[37]

27. दिव्यावदान, 235/24-25
28. उपर्युक्त, 235/17-18
29. उपर्युक्त, 235/18-16
30. उपर्युक्त, 246/13-16
31. अशोक का शिलालेख-13
32. Roy choudhari, Political History of Ancient India, p.-308 (6th edition)
33. दिव्यावदान, पृ. 236-39
34. ज्योतिष्कावदान, पृ. 171
35. शार्दूलकर्णावदान, पृ. 316
36. सुधनकुमारावदान, पृ. 288, 290-91
37. कोटिकर्णावदान, पृ. 07

तथा पुरुष[38] समान रूप से धारण करते थे। गले में हार[39], अर्धहार[40] और चित्र-विचित्र मालाएँ[41] पहनी जाती थी। हार प्रायः सोने के होते थे, जिनमें मणियाँ जड़ी होती थीं। इन्हें स्त्री व पुरुष समान रूप से पहनते थे। इस प्रकार शारीरिक शृंगार स्त्री व पुरुष दोनों ही करते थे। दोनों ही शरीर को स्वच्छ रखने के लिए अनुलेपन[42] तथा विलेपन[43] का प्रयोग करते थे। अनेक चूर्णों का उल्लेख बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में है–तमाल पत्र, अगुरु, उरगसार एवं धूपचूर्ण[44] तथा अनेक प्रकार के चन्दनों जैसे लोहित चन्दन, पीत चन्दन, सिंह चन्दन और गिरि चन्दनों का उल्लेख है।

आर्थिक व्यवस्था

भारतीय आर्थिक जीवन कृषि, पशु-पालन और व्यापार-वाणिज्य पर ही आधारित था।[45] कौटिल्य ने भी वार्ता के अन्तर्गत इन्हीं तीन अंगों 'कृषि पशुपाल्ये वाणिज्ये च वार्ता'[46] का प्रतिपादन किया है। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि रत्नद्वीप एवं ताम्रपर्णी नामक बन्दरगाहों से बाह्य देशों से व्यापार होता था। कृषि आजीविका का सर्वप्रमुख साधन था। खेती के लिए कर्षणकर्म[47] प्रचलित था। खेती करने वालों की संज्ञा कर्षक थी।[48] इन्हें कार्षक भी कहा जाता था।[49] खेत को क्षेत्र[50] या केदार[51] कहते थे। खेत जोतने की क्रिया को कर्मांत कहते थे।[52] हल और लांगल[53] का भी प्रयोग हुआ है। हल चलाते समय जिस छड़ी का प्रयोग होता था उसे प्रतोयदिष्ट कहते थे।[54] कृषि से विभिन्न फसलों की उपज होती थी–यव, व्रीहि, तिल, तण्डुल, शालि, गोधूम, मसूर, इक्षु, माषक, श्यामाक इत्यादि।[55] इन उत्पादनों के अतिरिक्त अरण्यों तथा उत्पादनों से भी विविध फल और औषधियाँ प्राप्त होती थीं।

38. कोटिकर्णावदान, पृ. 05
39. चन्द्रप्रभवोधिसत्वचर्यावदान, पृ. 196
40. उपर्युक्त,पृ. 196
41. कोटिकर्णावदान, पृ. 5,7
42. दिव्यावदान, 5/31,6/12
43. सुखावती, 16/07, 18,17/16
44. वोगेल, कैटलश्ग अश्फ मथुरा म्यूजियम नं.ई 27, पृ. 110
45. दिव्यावदान, 59/23-24
46. कौटिल्य अर्थशास्त्र, जि. 1, अ/याय 4, प्रकरण 1, पृ. 32
47. मान्धातावदान, पृ. 131
48. शार्दूलकर्णावदान, पृ. 329
49. तोयिकामहावदान, पृ. 302-303
50. नगरावलम्बिकावदान, पृ. 55
51. ब्राह्मणदारिकावदान, पृ. 43
52. लेफमैन, ललितविस्तर, पृ. 128/26
53. तोयिकामहावदान, पृ. 302-303
54. तोयिकामहावदान, पृ. 302-303
55. कनकवर्णावदान, पृ 184

कृषि और पशुपालन परस्पर पूरक उद्योग हैं। आभीर पशुपालन करते थे एवं इनकी पशु-प्रधान बस्ती घोष कहलाती थी।[56] पशुपालन में गौ-पालन का सर्वाधिक महत्त्व था। इसलिए पशुपालकों के लिए गोपालक शब्द भी प्रचलित था।[57] बैलों के लिए बलीवर्द की संज्ञा थी। इनका उपयोग हल चलाने में होता था।[58] घोड़ा भी अत्यन्त उपयोगी पशु था।[59] कम्बौज के घोड़े प्रसिद्ध थे और उनका व्यापार भी होता था।[60] गधे सामान ढोते थे इनसे रथ भी हँकवाया जाता था।[61] व्यापार की वस्तुओं को ढोने के लिए ऊँटों का भी प्रयोग होता था।[62] इस प्रकार पशुपालन आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य था।

दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत में व्यापार खूब समृद्ध था। आन्तरिक तथा बाह्य व्यापार स्थल मार्गों एवं समुद्रों द्वारा होता था।[63] श्रावस्ती[64], वाराणसी[65] आदि नगरों में धनाढ्य व्यापारी रहते थे। वाराणसी[66] और मथुरा[67] घोड़ों के व्यापार के प्रमुख स्थल थे। इन व्यापारों के लिए दो प्रकार के मार्गों–स्थल एवं जल का–उपयोग होता था। स्थलीय व्यापार उत्तरापथ और दक्षिणापथ के मध्य होता था। स्थल व्यापार गाड़ियों (शकटों)[68] द्वारा होता था। उन्हें धुर भी कहा जाता था।[69] उत्तरापथ के उक्कल नामक नगर का सार्थवाह 500 गाड़ियों के साथ दक्षिणापथ स्थल मार्ग द्वारा जाता था।[70] समुद्र व्यापार के लिए व्यापारियों के बड़े बड़े दल सार्थवाह के साथ जाया करते थे। उनके पास विशालकाय जहाज (यानपात्र)[71] भी होते थे, जिनमें पाँच-पाँच सौ तक व्यापारी एक साथ चढ़कर यात्रा करते थे।[72] इस व्यापार में स्थलीय व्यापार की अपेक्षा अधिक लाभ होता था। स्वर्णभूमि[73], आयसनगर[74] एवं उत्तर कुरु-द्वीप[75],

56. वीतिशोकावदान, पृ. 277
57. रुद्रायणावदान, पृ. 485
58. तोयिकामहावदान, पृ.302
59. करुणापुण्डरीक, 21/31
60. महावस्तु जि. 2/185/12
61. कोटिकर्णावदान, पृ. 3
62. उपर्युक्त, पृ. 3
63. चूडापक्षावदान, पृ. 439-442
64. धर्मरुच्यावदान, पृ. 142
65. सुप्रियावदान, पृ. 62
66. चूडापक्षावदान, पृ. 443
67. पांशुप्रदानावदान, पृ. 219
68. दिव्यावदान, पृ. 147/17
69. महावस्तु, जि. 3/303/6
70. उपर्युक्त, 3/303/9-11
71. दिव्यावदान, 3/18, 16/18,19/21
72. पूर्णावदान, पृ. 21
73. दिव्यावदान, 67/23-24
74. दिव्यावदान, 4/24,5/11
75. महावस्तु, 3/72/18

बदरद्वीप[76],ताम्रद्वीप[77] तथा रत्नद्वीप[78] आदि देशों को ये सार्थवाह आते-जाते थे। यहाँ से वे मणि, रत्न तथा स्वर्ण आदि बहुमूल्य वस्तुएं अपने देश लाते थे। इस प्रकार देश की संपत्ति में वृद्धि होती थी। शासक भी सामुद्रिक व्यापार की उन्नति के लिए सहायता देते थे। एक सार्थवाह कौशल शासक के पास बहुत दूर से वित्तीय याचना हेतु गया था।[79] सामुद्रिक व्यापार में कठिनाइयाँ भी थीं। तूफान (वात-वृष्टि) का विशेष भय रहता था।[80] इस प्रकार स्पष्ट है कि इस युग में व्यापार उन्नत अवस्था में था।

धार्मिक अवस्था

संस्कृत बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में अनेक धर्म और सम्प्रदाय प्रचलित थे। इन साहित्यों में बौद्ध-धर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म एवं अनेक सम्प्रदाय जैसे आजीविकों, जटिलों, मुण्डों, परिव्राजकों, चरकों, त्रिदण्डियों तथा तीर्थकों पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

दिव्यावदान में अनेक वैदिक धर्म के देवताओं का उल्लेख है–इन्द्र, मित्र, विष्णु, आप, वरुण, सोम, रुद्र, आदित्य, वृहस्पति, रवि, इन्द्राग्नि, अर्यमा, वायु, तवष्टा, पूषा आदि। इन्हें प्रसन्न करने के लिए विभिन्न यज्ञ किए जाते थे।[81] देवी-देवताओं को अपौरुषेय मानकर उनकी उपासना और आराधना प्रचलित थी। इस युग में अनेक भक्ति सम्प्रदायों का अस्तित्व था। जैसे–शैव एवं वैष्णव। भगवान शिव अपने कल्याणकारी स्वरूप के कारण सर्वत्र पूज्य थे। उनके उपासक शैव कहलाते थे। ये शिवलिंग की पूजा करते थे।[82] शैव सम्प्रदाय की पुष्टि तत्कालीन पुरातात्विक प्रमाणों; यथा–कुषाण शासक विम कडफिसस, कनिष्क तथा वासुदेव के सिक्कों से भी होती है।[83] विष्णु की भक्ति करने वाले वैष्णव कहलाए। भगवान विष्णु के अनेक रूपों में राम, बलराम एवं कृष्ण का उल्लेख तत्कालीन बौद्ध संस्कृत साहित्य में हुआ है।[84] मध्य-प्रदेश के विदिशा से प्राप्त हेलियोडोरस के वेसनगर गरुड़ स्तम्भ अभिलेख से वासुदेव भक्ति का साक्ष्य मिलता है। चार दिक्पालों वैश्रवण, धृतराष्ट्र, कुबेर तथा विरुढक की भी पूजा होती थी।[85]

भगवान् तथागत बुद्ध का उद्देश्य उन लोगों को उत्तम मार्ग दिखाना था जो अपने मार्ग से भटक गए थे। उनका उपदेश संसार की अनित्यता और दुखों से परिपूर्ण मानव की पीड़ा पर आधारित था। उनका ज्ञान अनन्त था। तत्कालीन बौद्ध-धर्म के अनेक देवताओं का उल्लेख मिलता है–वैश्रवण, ललितव्यूह, शान्त सुमति, व्यूहमत देवपुत्र, ऐरावण, सच्चोदक देवपुत्र, धर्मचारी देवपुत्र, अनवत नागराज, वरुण नागराज आदि।[86] बौद्ध संस्कृत साहित्य में हीनयान व महायान के विभिन्न सम्प्रदायों सर्वास्तिवाद,

76. दिव्यावदान, 64/18
77. दिव्यावदान, 453/2,7,14,17,31
78. दिव्यावदान, 3/19-20
79. महावस्तु, जि. 3/351/4-6
80. दिव्यावदान, 25/8, 10/30/31/32,142/20-21
81. दिव्यावदान, 364/9-10/21,25,29,365/5,9,15,19,23
82. दिव्यावदान, 377/9
83. ब्राउन सी.जे. क. सन्स ऑफ इण्डिया, पृ. 35-39
84. बुद्धचरित, 8/81
85. महावस्तु, जि. 2/309/7,13-14
86. राजेन्द्रलाल मित्र, ललितविस्तर, 248/1,378/5

महासांघिक, योगाचार, वैपुल्यवाद–आदि का भी उल्लेख है, जिनकी पुष्टि तत्कालीन पुरातात्त्विक प्रमाणों से भी होती है। सर्वास्तिवाद स्थविरवाद की एक शाखा थी। कुषाणकालीन कलवन अभिलेख में इसका उल्लेख मिलता है।[87] यह सम्प्रदाय अफगानिस्तान, पश्चिमी पंजाब तथा सिन्ध प्रदेश में अधिक लोकप्रिय था।[88] महासांघिक लोकोत्तरवादी, बुद्ध को साधारण पुरुष न मानकर उनके लोकोत्तर स्वरूप में विश्वास करते थे। मथुरा इस संप्रदाय का गढ़ था। पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि वर्धक (पश्चिमोत्तर भारत) से लेकर कार्ले (दक्षिण पश्चिम भारत) तक इस सम्प्रदाय को मानने वाले पाए जाते थे।[89] अश्वघोष ने योगाचार का उल्लेख किया है।[90] बुद्धचरित में इसी को ध्यान (ध्यान योग) कहा गया है।[91] वैपुल्यवादियों का मत था कि हीनयान से शीघ्र बुद्धत्व प्राप्त नहीं कर सकते हैं। सद्धर्म-पुण्डरीक इस सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है।[92]

पुरातात्त्विक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ईसा की प्रारम्भिक सदियों में जैन धर्म का अस्तित्व था। कुषाणकालीन अनेक मूर्तियाँ मथुरा से प्राप्त हुई हैं। जैन धर्म के 24वें तीर्थकर निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र का उल्लेख दिव्यावदान में प्राप्त होता है।[93] ऐसा लगता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में जैन धर्म ज्यादा लोकप्रिय नहीं था। उनकी नग्न-चर्या की काफी आलोचना की गई।

शैक्षणिक अवस्था

बौद्ध संस्कृत साहित्य में भारतीय शिक्षा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इससे गुरु और शिष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध, शैक्षणिक संस्थाओं, अध्ययन के विविध विषयों तथा कलाओं आदि पर प्रकाश पड़ता है। सामान्यतः शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से ही होता था। विद्या का अध्ययन गुरुकुलों में होता था। विन्ध्याचल पर्वत पर असित ऋषि के आश्रम में 500 शिष्य फल-फूल और कन्द-मूल खाकर वेदों का अध्ययन करते थे।[94] बौद्ध-विहारों और मठों में भी भिक्षु और आचार्य शिक्षा प्रदान करते थे। नालन्दा, तक्षशिला, काशी और वैशाली शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। सारिपुत्र ने व्याकरण का अध्ययन नालन्दा में किया था।[95] शिक्षा का क्षेत्र व्यापक था। शिक्षकों में आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक की गणना हुई है। ये वेद, वेदांग, शास्त्र, इतिहास, लिपि आदि विषयों की शिक्षा प्रदान करते थे। अध्ययन के अनेक विषयों के होने का यह अभिप्राय था कि छात्र केवल एक ही विषय का अध्ययन न कर विविध-विधि शास्त्रों में पारंगत हो। लिप्यक्षराचार्य लिपि एवं अक्षर की शिक्षा देते थे।[96] इसी प्रकार इष्वस्त्रचार्य धनुप चलाने की शिक्षा देते थे[97]। केवल नियमित शिक्षा अवधि के समापन पर ही शिक्षा समाप्त

87. एपीग्राफिया इण्डिका, जि. 21, पृ. 259
88. Cunningham, Ancient Geography of India, Part 1, p.-259
89. एपीग्राफिया इण्डिका, जि. 19, पृ. 69
90. सौन्दरानन्द 14/19
91. बुद्धचरित, 8/81
92. आचार्य नरेन्द्र देव, बौद्ध-धर्म दर्शन, पृ. 141
93. दिव्यावदान, 89/9
94. महावस्तु, जि. 3/382/16-17
95. महावस्तु, जि. 2/187/1
96. स्वागतावदान, पृ. 105
97. माकन्दिकावदान, पृ. 454

नहीं होती थी। त्यागमय जीवन अपनाकर बहुजन-हिताय एवं बहुजन-सुखाय की भावना रखने वाले आजीवन घूम-घूमकर शिक्षा देने वाले विद्वानों को 'चरक' कहा गया।

कथा-शैली भी तत्कालीन एक लोकप्रिय शिक्षा प्रणाली थी। इसके अन्तर्गत गुरु रोचक तथा उपदेशपूर्ण कथा सुनाकर शिष्यों की शंका तथा समाधानों को दूर करते थे। शारीरिक शक्ति प्राप्त करना उस समय की शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था। इसलिए अन्य विषयों के अलावा शारीरिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। स्थविर उपगुप्त सम्राट अशोक को कपिलवस्तु के स्थलों को दिखलाते हुए कहते हैं कि यह बोधिसत्व की व्यायामशाला थी।[98]

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस युग में शिक्षा की स्थिति उन्नत थी। विभिन्न विद्वानों–आचार्य, उपाध्याय, कवि, अध्यापक, शास्त्रविदों का राष्ट्र-जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

कला

कला मनुष्य की कल्पनाओं का मूर्त स्वरूप है। भारतीय कला का प्रारंभिक इतिहास बौद्ध-कला का ही उत्कृष्ट स्वरूप है। विविध बौद्ध संस्कृत साहित्य से हमें कला के विभिन्न रूपों प्रतिमाओं, चित्रें, चैत्यों, स्तूपों, स्तम्भों, विहारों आदि का वर्णन मिलता है। देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के अतिरिक्त राजाओं की भी प्रतिमाएं बनाई जाती थीं। दिव्यावदान के अनुसार राजा चन्द्रप्रभ ने अपने सिर के आकार का एक रत्नमय सिर बनवाया था।[99] चित्रकला की प्रसिद्धि के प्रमाण गुफाओं, भित्तिचित्रें तथा विभिन्न ग्रन्थों से प्राप्त होते हैं। देवताओं के चित्र के अलावा साधारणजनों के चित्र भी बनाए जाते थे। भित्ति पर सूखे एवं गीले रंगों द्वारा चित्र बनाए जाते थे।[100] बुद्ध के चित्र प्रभामण्डल युक्त बनाए गए हैं।

स्तूप बुद्ध एवं उनके शिष्यों के शरीर-अवशेषों पर निर्मित अर्द्धाण्डाकार स्मारक थे। सबसे पहले आठ स्तूप बुद्ध की अस्थियों पर बनाए गए।[101] कालान्तर में सम्राट अशोक द्वारा 84,000 स्तूपों का निर्माण करवाया गया।[102] स्तूप के चारो ओर सुरक्षा के लिए वेदिका निर्मित की जाती थी।[103] इसके तीन भाग थे–अधिष्ठान (वेदिका के स्तम्भों का आधार), सूची (दो वेदिका स्तम्भों को शीर्षवत खड़े रखने के लिए लगी बड़ी छड़ें) तथा आलम्बन (वेदिका-स्तम्भों का ऊपरी शीर्ष भाग)।[104]

चैत्य बौद्धों का पूजागृह होता था इनका उद्देश्य धर्म का प्रचार-प्रसार करना था। पाटलिपुत्र चैत्य एवं कुशीनगर चैत्य तथा अगरालव चैत्य की जानकारी मिलती है।[105] भिक्षुओं के आवास गृह को विहार

97. माकन्दिकावदान, पृ. 454
98. कुणालावदान, पृ. 249
99. दिव्यावदान, 197/23-24
100. दिव्यावदान, 41/12, 45/12, 86/33
101. बुद्धचरित, 28/53-58
102. दिव्यावदान, 239/17, 241/5
103. दिव्यावदान, 136/27
104. दिव्यावदान, 136/27-28, 97
105. बुद्धचरित, 22/2, 27/70

तथा भिक्षुओं के संघ निवास को संघाराम कहते थे।[106] शुद्ध वायु तथा प्रकाश के लिए गवाक्ष एवं वातायन बनाए जाते थे। अतः स्पष्ट है कि बौद्धकाल में कला समृद्ध स्थिति में थी।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बौद्ध-साहित्य जो बुद्ध के जीवन, उनके सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए बना, सम्पूर्ण विश्व के लिए एक अमूल्य निधि है। ये ऐतिहासिक दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, सांस्कृतिक रूप में भी उनका उतना ही महत्त्व है। बौद्ध-धर्म का भारतीय जीवन पर इतना प्रभाव पड़ा कि आज भी यह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में सुख-शाति एवं समृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

106. दिव्यावदान, 66/15, 170/13

10

बौद्ध-संस्कृत-साहित्य में नगरीय-जीवन

प्रतिष्ठा कुलश्रेष्ठ
एम.ए. संस्कृत (प्रथम वर्ष)
संस्कृत विभाग, कला संकाय,
दयालबाग शिक्षण संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)
दयालबाग, आगरा (उत्तरप्रदेश)–282005
ई-मेल–pkulshreshtha1996@gmail.com

बौद्ध-संस्कृत साहित्य में प्राचीन भारत के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इसके अन्तर्गत प्राचीन नगर समाज दो वर्गों में विभक्त था–1. उच्च वर्ग, 2. निम्नवर्ग। उच्च वर्ग में राजकुल, अधिकारी, मण्डल, व्यवसायिक तथा धनी श्रेष्ठी आदि उल्लेखनीय हैं। इस वर्ग का जीवन, नगर के सांस्कृतिक जीवन का वास्तविक प्रतिनिधि था। इसके सदस्य सुशिक्षित तथा धनी होने के कारण अधिक सभ्य थे। निम्न वर्ग में दास, चाण्डाल, चोर, वेश्या तथा कुट्टनी आदि आते थे। इनके जीवन की गणना नगर के घृणित जीवन में की जा सकती है, क्योंकि इनकी प्रथाएँ तथा नैतिक आदर्श शोचनीय थे।[1]

बौद्ध संस्कृत साहित्य में नगरीय-जीवन के विषय में कुछ बिन्दुओं पर प्रकाश डा रहा है, जो इस प्रकार हैं–

खाद्य एवं पेय–

मनुष्य की मूल आवश्यकताओं में भोजन मुख्य आवश्यकता है। मनुष्य आहार के बिना जीवित नहीं रह सकता, मनुष्य का भोजन भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जिस देश की जैसी जलवायु होती है, वहाँ के लोगों का भोजन उसी के अनुरूप होता है। हमारे देश की भौगोलिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर है। इसलिए एक प्रदेश से दूसरे के आहार में अन्तर स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है।[2] पश्चिमोत्तर भारत में जो और गेहूँ ऊपजते है और ये ही इस क्षेत्र के निवासियों के मुख्य खाद्यान्न थे। पूर्व और दक्षिण भारत में चावल ऊपजता था, इन क्षेत्रों के निवासी भात तथा चावल निर्मित भोज्य पदार्थों को उदरस्थ करते थे।[3]

1. उदय नारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, प्रका. हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1965, पृ. 328
2. परमानन्द सिंह, बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 169
3. मदन मोहन सिंह, बुद्ध कालीन समाज और धर्म, पृ. 65

बौद्ध युगीन समाज का मुख्य अन्न चावल था। जातकों में इस अन्न के विपुल वर्णन उल्लिखित है[4]–शाली, महाशाली[5], हायन[6], महाब्रीहि[7], यवक[8], षष्टिका[9] तथा नीवार[10] नामक चावल तत्कालीन समाज में व्यापक पैमाने पर प्रचलित थे। पुटभत्त-जातक से पता चलता है कि यात्रा करते समय लोग मार्ग में भोजन के लिए 'भात की पोटली' भी ले जाते थे।[11]

पूआ, बौद्ध युगीन नागरिकों का प्रिय पकवान था। इल्लीस जातक से ज्ञात होता है कि पूआ बनाने के लिए चावल, दूध, घी, मधु तथा गुड़ की आवश्यकता होती थी।[12] कण्डकपूव जातक से उल्लेख प्राप्त होता है कि श्रावस्ती में बुद्ध तथा संघ को दान देने की मंशा रखने वाले कुछ नागरिक एकजुट हो उन्हें यवागू तथा खाजा खिलाते थे।[13]

जातकों में तिल की निर्मित वस्तुओं के भी वर्णन मिलते हैं, जिनका उपयोग नागरिक किया करते थे।[14] पाणिनी ने पलल सुस्वाद मिष्ठान का वर्णन किया है, जिसे तिल के चूर्ण और चीनी अथवा गुड़ के सम्मिश्रण से बनाया जाता था।[15] पाणिनि के पिष्टक का भी उल्लेख किया है।[16] पिष्टक चावल की लप्सी से बनता था। इसका प्रचलन निम्न एवं मध्यमवर्गी लोगों तक ही सीमित था।

भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए, तेल, नमक, हींग, जीरा, अदरक, मिर्च तथा पिप्फली आदि मशाले मिश्रित किये जाते थे।[17] राजाओं के भोजनों में विविधता होती थी। ये सात प्रकार के भोजन किया करते थे।[18]

साधारण वर्ग के लोग सत्तू का भी प्रयोग करते थे। सत्तुभक्त जातक से विदित होता है कि एक ब्राह्मण ने बाहर जाते समय चमड़े के थैले में, मार्ग में खाने के लिए सत्तू ले लिया था।[19] भोजन के अन्य पदार्थों में शाक, भाजी और सूप का भी प्रयोग किया जाता था।[20] शाकाहारी खाद्य सामग्रियों में चावल, जौ, गेहूँ दाल, फल, दूध, घी तथा मक्खन आदि अत्यधिक प्रचलित थे।

---

4. भोजाजानीय जातक, (1/23, पृ. 229, महिलामुख जातक (1/26), पृ. 240, असम्पदान जातक (2/131), पृ. 85
5. वासुदेव शरण अग्रवाल पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ. 120
6. वासुदेव शरण अग्रवाल पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ. 120
7. वासुदेव शरण अग्रवाल पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ. 120
8. वासुदेव शरण अग्रवाल पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ. 120
9. वासुदेव शरण अग्रवाल पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ. 120
10. वासुदेव शरण अग्रवाल पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ. 120
11. पुटभत्त जातक, (2/123), पृ. 419
12. इल्लसी जातक, (1/78), पृ. 461-62
13. कण्डकपूव जातक, (2/109) पृ. 20
14. तिलमुट्ठी जातक, (3/252,) पृ. 8
15. अष्टाध्यायी, 6, 2, 128, पूर्वोत्त
16. वहीं, 4,3,14
17. गोध जातक (3/325), पृ. 252
18. दूत जातक (3/260), पृ. 45
19. सत्तुभस्त जातक (4/402), पृ. 7
20. वी.एस. अग्रवाल, पाणिनी, कालीन भारत वर्ष, पूर्वोक्त, पृ. 127

भोजन के साथ ही साथ पेय का भी महत्त्व तत्कालीन समाज में अधिक था। पेय में अत्यधिक मात्रा में दूध का प्रयोग होता था।[21] विस्सासभोजन जातक से पता चलता है कि वाराणसी के एक महाधनवान सेठ का ग्वाला समय-समय पर सेठ के लिए दूध लाया करता था।[22] दूध से निर्मित हुए खीर का उल्लेख भी जातकों में किया गया है, जो तत्कालीन समय का एक स्वादिष्ट पेय था।[23]

वस्त्रविन्यास एवं आभूषण–

वस्त्रविन्यास के द्वारा सुन्दर वन जाने की कला को मानव ने सुदूर प्राचीन काल से अपनाया। इस दिशा में वस्त्रों का महत्त्व अलंकारों के समकक्ष है।

जातक युगीन प्राप्त वस्त्रों के साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि तत्कालीन समय में कपास, रेशम, क्षौम तथा इनके विविध स्वरूपों के रंग-बिरंगे परिधान धारण करने का समाज में प्रचलन था। महापरिनिब्बानसुत्त से ज्ञात होता है कि वैशाली के नागरिक यह समाचार पाकर कि बुद्ध आम्रपालि के यहाँ पधारने वाले है, उत्सुकतापूर्वक उनसे मिलने चले गये। उन्होंने अपने शरीर के वर्णो से मेल खाते हुए वस्त्र और आभूषण धारण कर रखे थे। स्त्रियाँ भी अपने बनाव शृंगार में रंगों के मिलान कर विशेष ध्यान देती थीं।

नागरिकों द्वारा अलंकार प्रसाधन में आभूषणों को प्रयुक्त किया जाना उल्लेखनीय हैं मुख्यतः आभूषणों का प्रचलन प्रधानतया स्त्रीवर्ग में ही था। दक्ष स्वर्णकार तथा मणिकार स्वर्ण व रजत के मुक्तामणि जड़ित अलंकारों को निर्मित कर कलाप्रिय नागरिकों के शौक की पूर्ति करते थे। वे अंगूठी, कुण्डल, गले के हार, स्वर्ण माला, कर्णफुल, कंगन, चूड़ी मेखला आदि विविध प्रकार के आभूपण निर्मित करते थे, जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थे।[24]

महावेस्सन्तर जातक से उल्लेख प्राप्त होता है कि जेतुत्तर नगर के राजा की पुत्रवधु ने स्वर्णनिर्मित ग्रीवाभरण अंगद तथा मणिमेखला, रत्न निर्मित ग्रीवाभरण, उन्नत, आभरण, माथे का आभरण, मेखला एवं पदाभरण तथा विविध भांति के मणि के आभूषण, सास द्वारा भेजे जाने पर धारण किये।[25] स्वर्ण एवं चान्दी के अतिरिक्त मुक्ता, मणि, वैडुर्य भ्रदक, शंख, शिला, प्रवाल, लोहितांग तथा समारगल्ल का भी उपयोग आभूषण-निर्माण हेतु किया था।[26] मणियों को सम्भवतः स्वर्ण-चाँदी के आभूषणों में जड़ा जाता था।[27] राजकुमार मोती, माणिक्य तथा स्वर्ण के आभूषण धारण कर हाथ की शोभा बढ़ाते थे। गले में नाला, हाथों में बाजूबन्द कानों में कुण्डल, चूड़ामणि स्वर्णमाला एवं स्वर्णपादुका का प्रयोग करते थे।[28] मिथिला नगर में निर्धन स्त्रियाँ नाना रंगों के धागों को गठियाकर बनी सूती की कण्ठी पहनती थीं।[29] पटना के उत्खनन

---

21. परमानन्द सिंह, पूर्वोक्त, पृ. 172
22. विस्सास-भोजन-जातक, (1/93), पृ. 522-23
23. काक जातक, (2/146), पृ. 132
24. मज्झिम निकाय, 3, पृ. 243, अंगुत्तर निकाय, 3, पृ. 16
25. महावेस्सन्तर जातक, (6/547), पृ. 614
26. अंगुत्तर निकाय, 4 पृ. 199, 255-58, 262, पाणिनी, 5, 4, 30, 5.2.68, जातक, 1, पृ. 6, 3, पृ. 153, 4, पृ. 442
27. विधुर जातक, (6/545), पृ. 271
28. खण्डहाल जातक, (6/542), पृ. 164, महाउम्मग जातक, (6/546), पृ. 351, 2 पृ. 6, 3, पृ. 153, 4, पृ. 442
29. महाउम्मग जातक, (6/546) पृ. 345

से दो सोने के तिलिम्मान प्राप्त हुए है। जिसकी अवधि कुषाणकालीन निश्चित की गई हैं।[30] वैशाली के उत्खनन से भी कान के दो आभूषण, सोने के दो टाप्स (कर्णफूल), स्वर्ण अंगूठी प्राप्त हुई है।[31]

पुरातात्विक साक्ष्यों की पुष्टि साहित्यिक साक्ष्यों द्वारा जाती है। पतंजलि के महाभाष्य से यह विदित होता है कि उस समय गले के हार, ब्रासलेट तथा कान की बालियाँ सोने से निर्मित की जाती थी।[32] इस प्रकार के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि उस अवधि के नागरिक काफी शौकीन थे तथा इन आभूषणों का प्रयोग करते थे।

शृंगार एवं प्रसाधन–

बौद्धयुगीन समाज में श्रृंगार का काफी प्रचलन था। यह प्रथा समाज के स्त्रीवर्ग में विशेष थी। नेत्रों की सुरक्षा एवं सौन्दर्यता के लिए स्त्रियाँ अंजन का प्रयोग करती थीं। बौद्ध साहित्य में कालांजन, रसांजन, स्रोतोंजन, गेरूक तथा कपल्ल कोटि के द्रव्यों का उपयोग निर्धारित किये जाने का वर्णन है।[33] अंजनों को सुगन्धित बनाने के लिए उनमें चन्दन, तगर, कृष्णानुसारि, कालीय, भद्र, मुक्तक आदि द्रव्य मिलाये जाते थे।[34] सोनपुर के उत्खनन में हाथी के दाँत से निर्मित हुआ कुषाण कालीन अंजन शालिका प्राप्त हुई हैं।[35] जिसका उपयोग महिलाएँ आँखों में अंजन लगाने के निमित्त किया करती थी। कुम्हरार के उत्खनन में स्त्री की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। जिसमें स्त्री ने अपनी भौहों को सुन्दर तरीके से सजाया है।[36]

समृद्ध नागरिक सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग भी किया करते थे। वस्त्रों को इनके द्वारा सुवासित किया जाता था। सौन्दरानन्द काव्य में वर्णित हुआ है, कि कपिलवस्तु की महिलाऐं अपने वस्त्रों को सुगन्धित द्रव्यों द्वारा वासयुक्त करती थी।[37] ललित विस्तर से वर्णन प्राप्त होता है, कि पुरललनाऐं अपने वस्त्रों के ऊपर सुगन्धित तेल का छिड़काव करती थी। वस्त्रों को सुवासित करने के निमित्त उन्हें भली प्रकार भिगो दिया जाता था।[39] जातकों में भी ऐसे सुगन्धित जल के वर्णन हैं, जिनसे राजा अथवा समृद्ध लोग स्नान किया करते थे।[40] प्रमुखतः चन्दन के अनुलेप को उपयोग में लाया जाता था।

एक स्थल पर तक्षशिला नगर की एक स्त्री द्वारा सुगन्धि निर्माण का उल्लेख मिलता है।[41] जातकों से विदित होता है कि राजा अपने शरीर को सुवासित करने के लिए अगरू चन्दन का प्रयोग किया करते

30. कुम्हरार, पूर्वोक्त, पृ. 131
31. वैशाली की खुदाई, पूर्वोक्त, पृ. 195
32. बी.एन. पुरी, इण्डिया इन द टाइम ऑफ पतंजलि, बाम्बे- 1957, पृ. 105
33. महावग्ग, 6.11 से। कपल्ल दीप-शिखा के उत्पन्न काजल था। गेरूक स्वर्णगैरिक है। स्रोतोंजन नदियों के स्रोतों से निकलता था। उद्धृतराम जी उपाध्याय, प्रा.भा.सा. की सांस्कृतिक भूमिका, पादटिप्पणी, पृ. 820
34. वहीं
35. सोनपुर की खुदाई, पूर्वोक्त, पृ. 131-134
36. कुम्हरार की खुदाई, पूर्वोक्त, पृ. 114
37. सौन्दरानन्द काव्य, हरिप्रसाद शास्त्री 4, 26, बैप्टिस्ट मिशन, प्रेस, कलकत्ता-1910
38. ललितविस्तार, 15, 218, अनु. आर.एल. मित्र, कलकत्ता-1877
39. वहीं, 15, 218
40. महासीलव जातक, (1/51) पृ. 351
41. मृच्छकटिकम्, अंक 4

थे।[42] वैशाली के उत्खनन से भी एक इत्रदान की प्राप्ति हुई है, जिससे यह पुष्ट होता है कि वहाँ के लोगों के द्वारा सुगन्धित द्रव्य का प्रयोग किया जाता था।[43]

पुरातन युग से मानव के धार्मिक तथा समाजिक जीवन में विभिन्न उत्सवों का विपुल महत्व रहा है। उत्सवों के आयोजन में नागरिकों के साथ ही राज्य का भी सक्रिय सहयोग होता था।

पालि-निकाय के अनुसार लोग निश्चित तिथि को शालवान में जाते और शाल-पुष्प को तोड़कर तथा क्रीड़ाओं द्वारा खुशियाँ मनाते थे। शालभञ्जिका का शाब्दिक अर्थ है, शाल पुष्पों को तोड़ना।[44] मगध तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में ही 'शाल-भञ्जिकोत्सव' विशेष रूप से मनाया जाता था।[45] अवदान शतक में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है, एक समय में भगवान बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में निवास कर रहे थे। उस समय श्रावस्ती में शालभञ्जिक समारोह मनाया जा रहा था। सैकड़ों हजार की भीड़ इकट्ठी हो गयी और शाल पुष्पों का ढेर लग गया, लोग आनन्द मनाने के लिए क्रीडा करने लगे, तथा इधर-उधर घूमने लगे।[46]

जातक युगीन समाज में सुराउत्सव की प्रथा भी प्रचलित थी। जातकों में वाराणसी[47] राजगृह[48] श्रवस्ती[49] आदि ख्यातिपूर्ण नगरों में आयोजित हुए सुराउत्सवों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार के उत्सवों में दरिद्र[50], करोड़पति[51], राजा[52] और स्त्रियाँ[53] भागग्रहण करते थे।

यातायात–

धनिक नागरिक पालकी, प्रवहण, रथ, घोड़े तथा हाथी का उपयोग यान के रूप में करते थे।[55] राजघरानों की महिलाऐं आवागमन के लिए पर्दे वाली गाड़ी का प्रयोग करती थी।[56] राजा अपनी सवारी में श्रेष्ठ रथों का प्रयोग करते थे।[57] हाथियों के कन्धों पर बैठ कर सवारी किये जाने के वर्णन भी जातकों

42. कुम्भकार जातक, (4/408) पृ. 38
43. खण्डकाल जातक, (6/542) पृ. 165
44. मदन मोहन सिह, पृ. 86
45. मदन मोहन सिंह, पृ. 86
46. The Woman and tree or salabhanijika in indian Literature and art, Acta Orientalia, VII, P.201. उद्धत मदन मोहन सिंह, पूर्वोक्त, पृ. 86
47. सुरापान जातक, (1/81), पृ. 480
48. सिगाल जातक, (2/142), पृ. 120
49. कुम्भ जातक, (5/512), पृ. 98
50. गंगमाल जातक, (4/421), पृ. 106
51. इल्लीस जातक, (1/78), पृ. 466
52. कुम्भ जातक, (5/512), पृ. 100
53. कुम्भ जातक, (5/512), पृ. 98
54. सुरापान जातक, (1-81), पृ. 480, कुम्भ जातक, (5-512), पृ. 100
55. डॉ. उदय नारायण राय, पूर्वोक्त, पृ. 339
56. महाजनक जातक, (6-539), पृ. 32
57. सत्तिगुम्ब जातक (5-503), पृ. 18

में वर्णित है।[58] मृच्छकटिकम् से ज्ञात होता है कि बैलों द्वारा खींची जाने वाली प्रवहण नामक गाड़ी कुलीन नागरिकों के यातायात का साधन थी।[59] जातकों से पता चलता है कि आवागमन तथा विविध सामग्रियों को एक-दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए सामान्य वर्ग के लोग बैलाड़ियों का प्रयोग करते थे।[60]

लोकविश्वास–

जातककालीन जनजीवन में लोकविश्वास की परम्परा भी विद्यमान थी। समाज में अंगों का फड़कना शुभ-अशुभ घटनाओं के संकेत के रूप में माना था। स्त्रियों के कन्धे पर से उद्ग्रीव का बार-बार गिरना भी अमंगल का सूचक माना जाता था।[61] तत्कालीन युग में यात्रा के समय कौवे[62] का बोलना तथा सर्प[63] सिंह[64], व्याघ्र[65] एवं चीते[66] द्वारा मार्ग को रोक लेना अशुभ माना जाता था। सामुद्रिक विद्या एवं ज्योतिष में लोगों का विश्वास था। भविष्य वक्ता अपने इस ज्ञान के द्वारा अपनी आजीविका का उपार्जन करते थे।[67] गर्भवति स्त्री के उत्पन्न हुए दोहन के कारण[68] विविध प्रकार की सुनाई देने वाली विचित्र आवाजों[69] तथा देखे गये अशुभ स्वप्नों से उदित हुई आशंकाओं[70] के निराकरण की लोक विश्वास धारणा भी समाज में विद्यमान थी। चूहों द्वारा वस्त्रों के जोड़ों को काट दिये जाने पर शकुनों मे विश्वास करने वाले लोग प्रायः उन्हें महाविनाश के भय से घर के बाहर कर श्मशान पर फेंकवा देते थे।[71] नक्षत्र योगों में भी लोगों का विश्वास था, वैदर्भ नामक मन्त्र का नक्षत्र योग होने पर जाप कर आकाश की ओर देखने से सात रत्नों की वर्षा की विश्वसनीयता जनमानस में प्रचलित थी।[72] साथ ही जातक कथाओं से बलिकर्म[73] इन्द्रजाल[74] एवं शाप[75] की लोक मान्यताओं के उल्लेख भी मिलते है। इस प्रकार के प्राप्त साहित्यिक साक्ष्यों से परिलक्षित होता है कि तत्कालीन समाज में रूढ़िवादिता एवं अन्ध-विश्वासों ने अपनी जड़ें जमा ली थी, जिसने उत्तरार्द्ध में जन-जीवन को क्षत-विक्षत करने में अपनी जोरदार भूमिका निभाई।

58. महावेस्सन्तर जातक, (6-547) पृ. 491
59. मृच्छकटिकम् अंक 7
60. अपण्णक जातक, (1/1), पृ. 124
61. महावेस्सन्तर जातक (6/547) पृ. 575
62. चारुदत्त, अंक, 9
63. चारुदत्त, अंक, 9
64. महावेस्सन्तर जातक, (6/547), पृ. 575
65. महावेस्सन्तर जातक, (6/547), पृ. 575
66. महावेस्सन्तर जातक, (6/547), पृ. 575।
67. अर्थशास्त्र, पृ. 308, (शास्त्री द्वारा अनूदित)
68. महावेसन्तर जातक, (6/547), पृ. 488
69. अट्टसद्द जातक (4/418), पृ. 88
70. महासुपिन जातक (1/77) पृ. 447-456
71. मंगल जातक, (1/87), पृ. 497
72. वेदब्भ जातक, (1/48), पृ 335
73. मतकभत जातक, (1/18), पृ. 211
74. सुरुचि जातक, (4/489), पृ. 529
75. महावेरसन्तर जातक, (6/547), पृ. 582

11
डिजीटल-स्वरूप में उपलब्ध बौद्ध-संस्कृत साहित्य (एक सर्वेक्षण)

आशीष गड़पाल
एम.ए. (संस्कृत)
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

आधुनिक युग तकनीकी का युग है। बिना तकनीकी के आज जीवन जीना लगभग असम्भव सा हो गया है। इसी तारतम्य में में कम्प्यूटर हमारे दैनन्दिन-जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी महती उपयोगिता है। सभी प्रकार के एकाउण्टिंग कार्यो से लेकर मेडिकल और अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र तक–कम्प्यूटर की महत्ता स्थापित हो चुकी है। आज एक प्रकार से 'डिजीटल वर्ल्ड' या डिजीटल विश्व का निर्माण हो चुका है। इस डिजीटल युग के निर्माण के कारण हम चाहें नगर में रहे अथवा गाँव में; महानगर दिल्ली में रहें अथवा हिमालयी सुदूर क्षेत्र में–डिजीटल क्रान्ति के कारण हमें सभी प्रकार की सूचनाएँ आसानी से प्राप्त हो जाती है। डिजीटल कम्प्यूटर के माध्यम से सूचनाओं की सुलभता से हम नित्य लाभान्वित होते रहते हैं। आज हम सुदूर पर्वतीय प्रदेश अथवा किसी वनाच्छादित गाँव में रहे अथवा किसी कमरे में बन्द रहें, तब भी इस डिजीटल साधन की सहायता से पूरे विश्व की खबर प्राप्त कर सकते हैं।

सर्वविदित है कि अपने आरम्भिक दिनों में कम्प्यूटर मशीन मात्र गणना-आदि कार्यों की दृष्टि से प्रयुक्त होता था, क्योंकि इसका निर्माण सीमित उद्देश्य की दृष्टि से किया गया था; परन्तु आज हमारी सुविधाओं से सम्बद्ध ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बच पाया है, जहाँ कम्प्यूटर का प्रयोग न किया जाता हो। पूर्व-काल में गणनादि कार्यों तक यह कम्प्यूटर सीमित था। किन्तु आज यह कृत्रिम बौद्धिकता तथा सूचना व संचार प्रौद्योगिकी का एक प्रमुख आधार बन चुका है।

इस प्रकार आज कम्प्यूटर डिजीटल क्रान्ति का प्रमुख साधन है। इससे भाषा और साहित्य कैसे अछूते रह सकते हैं? भाषा और साहित्य तो हमारी अन्तःकरण की विनिमयता के प्रमुख साधन है तथा इनके माध्यम से ही हम अपने मनोभावों तक समाज तक पहुँचा पाते हैं। इस प्रकार हमारी भाषा और इसमें रचित साहित्य-संसार का कम्प्यूटरी-कृत डिजीटल क्रान्ति से गहनतया अन्तःसम्बन्ध है।

आज प्रत्येक संस्कृतज्ञ यह बात ठीक तरह जानता है कि डिजीटल क्रान्ति के कारण संस्कृत-विद्या के क्षेत्र को अपार लाभ हुआ। इसके कारण संस्कृत-विद्या के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति का सूत्रपात हुआ है। संस्कृत के अनेक ग्रन्थ आज डिजीटल स्वरूप में प्राप्त होते हैं। विकिपीडिया के माध्यम से संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रन्थों को हम अपने कम्प्यूटर, लैपटॉप अथवा मोबाइल के माध्यम से पढ़ सकते

हैं अथवा उनका शैक्षणिक प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के ग्रन्थों के भण्डारण के माध्यम से अनेक संस्थाओं ने संस्कृत भाषा और साहित्य को आज जन-जन के लिए अत्यन्त सुलभ बना दिया है।

आज के इस दौर में हम एक स्थान पर रहकर भी डिजीटल संसाधनों के प्रयोग से विभिन्न बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन कर सकते हैं तथा अनुसन्धान-कार्य में इनकी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ यह बात विशेषतः उल्लेखनीय है कि भारत की अपेक्षा वैदेशिक विद्वानों तथा संस्थाओं ने बौद्ध-संस्कृत साहित्य के अध्ययन-अध्यापन, प्रचार-प्रसार तथा अनुसन्धानादि कार्यों में विशेष योगदान किया है। भारत-विद्या पर आज तक जितना भी कार्य हुआ है, उसमें 75 प्रतिशत कार्य केवल बौद्ध-विद्या पर हुआ है। इस दृष्टि से देखा जाये, तो आज बौद्ध विद्या के अनेक मूल ग्रन्थ वेवसाइट पर उपलब्ध हो जाते हैं। ऐसी अनेक साइट्स आज उपलब्ध हैं, जिन पर इन बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों तथा काव्यों के अंग्रेजी सहित अनेक भाषाओं में अनुवाद अपलोड किये जा चुके हैं। अनेक अनुसन्धान तथा समीक्षा ग्रन्थ भी वेवसाइट्स पर पी.डी.एफ. के रूप में मिल जाते हैं। भारतीय विद्वानों तथा संस्थाओं ने भी यथा-कथंचित् कुछेक डिजीटल के क्षेत्र में कार्य तो अवश्य किये हैं, उनसे भी इस क्षेत्र में कार्य करने में सहायता प्राप्त होती है।

प्रस्तुत आलेख में डिजीटल स्वरूप में प्राप्त बौद्ध संस्कृत साहित्य अथवा संसाधनों पर सर्वेक्षणात्मक विवरण दिया जायेगा।

डिजीटल स्वरूप में उपलब्ध बौद्ध संस्कृत साहित्य–

अनेक ऐसी संस्थाएँ या साइट्स हैं, जिन्होंने बौद्ध संस्कृत साहित्य का डिजीटलाइजेशन करके संसाधनों को सार्वजनिक करके साहित्य-साधकों पर बड़ा उपकार किया है। इन साइट्स का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

1. संगणकीकृतं बौद्धसंस्कृतत्रिपिटकम् (Digital Sanskrit Buddhist Canon)–

बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों तथा साहित्य को डिजीटाइज करके प्रचारित तथा सर्वोपलब्ध करने की दृष्टि से यूनिवर्सिटी ऑफ द वेस्ट एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परियोजना पर कार्य कर रहा है। नागार्जुन इंस्टीट्यूट, काठमाण्डु की सहायता से वर्ष 2003 से यह परियोजना कार्यरत है। संगणकीकृतं बौद्धसंस्कृतत्रिपिटकम् (The Digital Sanskrit Buddhist Canon (DSBC)) के माध्यम से बौद्ध-धर्म के समस्त साहित्य को डिजीटल स्वरूप में लाकर उसे वेवसाईट के माध्यम से सर्वजन हिताय तथा सर्वजन प्रयोगाय यूनिवर्सिटी ऑफ द वेस्ट यह कार्य कर रहा है। लगभग 600 बौद्ध सूत्र संस्कृत, तिब्बती अथवा चीनी भाषा में थे, जो आज पूर्णतः संस्कृत में प्राप्त नहीं होते हैं; किन्तु तिब्बती या चीनी भाषा में ये आज उपलब्ध हैं। इन्हें पुनः संस्कृत में छायानुवाद कर इस साईट के माध्यम से उपलब्ध कराने का प्रयास किया जा रहा है।

प्रस्तुत वेबसाईट में बौद्ध मिश्रित संस्कृत के साथ विशुद्ध बौद्ध संस्कृत का साहित्य भी अपलोड किया गया है, निम्नोक्त लिंक पर उपलब्ध होता है–

http://www.dsbcproject.org/

अब तक इस वेवसाईट पर 604 ग्रन्थ ई-टेक्स्ट के रूप में उपलब्ध है, जिसमें लगभग 50,000 पृष्ठ हैं। शीघ्र ही 30 और ग्रन्थ इस पर अपलोड हो जायेंगे। इस साईट पर सम्बद्ध विषय में कुछ जर्नल तथा आलेख भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार बुद्धचरित, सौन्दरनन्द जैसे महाकाव्यों के साथ वैपुल्य-सूत्र, अवदान, धारणी, स्तोत्र, दर्शन इत्यादि बौद्ध-साहित्य इस वेवसाईट पर उपलब्ध है। इस साईट पर श्रेणी के अनुसार देवनागरी तथा रोमन लिपि में उक्त ग्रन्थ पढ़े अथवा प्राप्त किये जा सकते हैं। देवनागरी लिपि

के विकल्प को चुनकर हम देवनागरी लिपि में इन ग्रन्थों को पढ़ सकते हैं; इसी प्रकार रोमन के विकल्प को चुनकर रोमन-लिपि में भी ग्रन्थ पढ़े जा सकते हैं।

इस वेवसाईट से बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ भी प्राप्त की जा सकती हैं।

इस वेबसाईट के माध्यम से संस्कृत संसाधनों की लिंक्स भी प्राप्त होती है, जो इस प्रकार है–

LINKS

Sanskrit Language

Omniglot
Sanskrit Academy
The Sanskrit Heritage Site
Sanskrit Documents

Sanskrit online texts

GRETIL (U Göttingen)
Indology (British Assoc for S Asian Studies
Centre for Tantric Studies (University of Hamburg)
Dharani Samgraha collection online (Nagarjuna Institute, Nepal)
TITUS (U Frankfurt)
BodhiSvara

Elementary Sanskrit textbook

Sanskrit Self Study An introduction to Sanskrit Language in 64 self study lessons by Chitrapur Math.

Discover Sanskrit A concise study of the Sanskrit language.

A Practical Sanskrit Introductory by Charles Wikner. This concise introductory contains exercises for correct Manner of articulation.

Harivenu Dasa: An Introductory Course based on S'rila Jiva Gosvâmî's Grammar, a vaishnava version of Pânini's grammar (pdf-file).

A Sanskrit Tutor
Sanskrit Audio Lessons from NCERT
Ancient Sanskrit Online from the University of Texas at Austin.

Sanskrit Dictionaries

Sanskrit, Tamil and Pahlavi Dictionaries
Monier Williams Dictionary (2006 revision)
Online Sanskrit Dictionary
Digital Dictionaries of South Asia
The Internet Sacred Text Archive (Sanskrit Dictionary)
Apte Sanskrit Dictionary Search

Research Organizations

ECAI - Electronic Cultural Atlas Initiative
International Association of Buddhist Universities

इस प्रकार बौद्ध-संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में इस यूनिवर्सिटी ऑफ द वेस्ट का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

2. संस्कृत-विकिपीडिया (Sanskrit wikipedia)–

संस्कृत-विकिपीडिया के अन्तर्गत संस्कृत-साहित्य से सम्बद्ध अनेक प्रकार के संसाधन उपलब्ध होते हैं। इसके अन्तर्गत दी गई लिंक के माध्यम से पहुँचा जा सकता है–

https://sa.wikipedia.org/wiki/मुख्यपृष्ठम्

उक्त लिंक पर जाने के पश्चात् 'विकिस्रोतः' (wikisource) प्राप्त होता है। इस स्रोत के माध्यम से हम बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों को अन्वेषित कर सकते हैं। इसकी लिंक इस प्रकार है–

https://sa.wikisource.org/wiki/मुख्यपृष्ठम्

यह भी एक उपयोगी साइट है।

3. स्क्रीप्टो क्यू-लाईब्रेरी प्रोजेक्ट (Scripto·Q Library – Project)–

यह एक ई-बुक ग्रन्थालय है। इसके अन्तर्गत बौद्ध, हिन्दू तथा ताओ साहित्य उपलब्ध होता है। यह निम्नोक्त लिंक के द्वारा उद्घाटित होती है–

http://scriptoq.com/

इसके अन्तर्गत 2,000 बौद्ध ग्रन्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। इसके अन्तर्गत थेरवाद, महायान, वज्रयान, झेन व चेन बौद्ध धर्म तथा अन्य बौद्ध साहित्य को प्राप्त किया जा सकता है।

बौद्ध संस्कृत साहित्य के अनेक समीक्षात्मक तथा अनुसन्धानात्मक ग्रन्थ इसके माध्यम से प्राप्त किये जा सकते हैं।

4. आर्काइव (Archive)–

यह एक अन्वेषण संसाधन है, जो विना किसी वित्तीय लाभ के संचालित हो रहा है। इसके अन्तर्गत अनेक डिजीटल ग्रन्थालयों को एक-सूत्रता में सूत्रित किया गया है। यह विश्व-स्तरीय पुरालेखों का संग्रह है। यह ओपन ग्रन्थालय है; जिसकी सहायता से कोई भी अनुसन्धाता, इतिहासकार या लेखक अपने शोध-कार्यों को पूर्ण कर सकता है। इसकी लिंक इस प्रकार है–

https://archive.org/

यह एक वहुत विस्तृत तथा विशाल मंच है। इसके अन्तर्गत 20 मिलियन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इसके माध्यम से बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ अथवा इससे सम्बद्ध शोध-ग्रन्थों को प्राप्त किया जा सकता है। पी.डी.एफ. या स्कैन ग्रन्थों के पी.डी.एफ. इसके अन्तर्गत प्राप्त किये जा सकते हैं तथा आसानी से डाउनलोड किये जा सकते हैं।

वर्तमान समय में एक अत्यन्त लोकप्रिय तथा सुविधाजनक वेबसाईट बन चुकी है।

5. संगणकीय-भाषाविज्ञान शोध एवं विकास (Computational Linguistics R&D)–

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के संस्कृत एवं प्राच्य-विद्या संस्थान (The School of Sanskrit and Indic Studies) के अन्तर्गत संगणकीय-भाषाविज्ञान शोध एवं विकास (Computational Linguistics R&D) प्रभाग कार्यरत है।

इस प्रभाग के द्वारा संस्कृत भाषा एवं साहित्य के विकास के लिए अनेक प्रकार के कार्य किये जा रहे हैं। इसी तारतम्य में इस प्रभाग के द्वारा अमरकोश इत्यादि महत्त्वपूर्ण कोश एवं व्याकरण साहित्य का संगणकीय-भाषाविज्ञान की दृष्टि से अनुसन्धान के माध्यम से अन्वेषणीय पद्धति से विकास किया गया है। इस प्रभाग की लिंक इस प्रकार है–

http://sanskrit.jnu.ac.in/index.jsp

ई-शिक्षण (e-learning) के तहत इसमें बौद्ध-जातकों का सजीव-चित्रीकरण (Animation) तथा मल्टी मीडिया के माध्यम से प्रस्तुतीकरण किया गया है। इसमें विभिन्न प्रकार के संशोधक तथा शिक्षण-संसाधन भी प्राप्त होते हैं।

6. ग्रेटिल (GRETIL - Göttingen Register of Electronic Texts in Indian Languages and related Indological materials from Central and Southeast Asia)–

ग्रेटिल नामक वेवसाईट में भारतीय भाषाओं के ग्रन्थों को डाउनलोड किया जा सकता है। इस साइट के तहत हिन्दू, बौद्ध तथा अन्य धर्मों के ग्रन्थों के प्राप्त किया जा सकता है। इसकी लिंक इस प्रकार है–

http://gretil.sub.uni-goettingen.de/gretil.htm#Intro

निम्नोक्त लिंक के द्वारा बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों को प्राप्त किया जा सकता है–

http://gretil.sub.uni-goettingen.de/gretil.htm#Samh

7. बोधिस्वरा : सम्बोधि की लय (Bodhisvara : Melodies of Awakening)–

यह एक अद्भुत परियोजना है। इस परियोजना के तहत बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों की संगीतमय प्रस्तुतियों को लयबद्ध करके साइट पर अपलोड किया गया है। अधोलिखित साइट के माध्यम से इसे डाउनलोड किया जा सकता है–

http://www.bodhisvara.com/

इसके अन्तर्गत अधोलिखित शीर्षक के माध्यम से बौद्ध ग्रन्थों को सुना जा सकता है–

Resounding Sanskrit Buddhist Literature : Recordings of the Buddha's Heritage

बोधिचर्यावतारः, मूलमध्यमककारिका तथा अनेक बौद्ध स्तोत्रों को इसके तहत सुना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त अधोलिखित लिंक से भी बौद्ध ग्रन्थों के स्वरबद्ध संगीत को सुना और डाउनलोड किया जा सकता है–

https://vimeo.com/user5333464

8. एजर्टन बुद्धिस्ट हाईब्रिड संस्कृत डिक्शनरी (Edgerton Buddhist Hybrid Sanskrit Dictionary)–

एजर्टन नामक एक वैदेशिक विद्वान् के द्वारा बौद्ध संस्कृत तथा इसके साहित्य साहित्य के विषय में अध्ययन तथा अनुसन्धान कार्य किया गया है। इन्होंने ही प्रथमतया पालि तथा संस्कृत मिश्रित भाषा को 'बौद्ध मिश्रित संस्कृत' (Buddhist Hybrid Sanskrit) कहा था। इसके गहन अनुसन्धान के आधार पर उन्होंने बौद्ध मिश्रित संस्कृत का व्याकरण तथा कोश तैयार किया था। अधोलिखित लिंक के माध्यम से हम उक्त कोश को अन्वेषणीय-शैली में प्राप्त कर सकते हैं–यह एक उपयोगी लिंक है।

LINK–

https://www.sanskrit-lexicon.uni-koeln.de/scans/BHSScan/2014/web/webtc2/index.php

(Edgerton Buddhist Hybrid Sanskrit Dictionary)

9. ई-टेक्स्ट (E-text)–

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के संस्कृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन-अध्यापन, प्रचार-प्रसार तथा संवर्धन के प्रति पूर्णरूपेण संलग्न तथा समर्पित संस्थान है। इसकी वेबसाइट का लिंक इस प्रकार है–

http://www.sanskrit.nic.in/

इसके द्वारा ई-टेक्स्ट योजना के तहत अनेक बौद्ध-ग्रन्थों को वेबसाईट पर अपलोड किया गया है। इसके अतिरिक्त ही अनेक प्रकाशित ग्रन्थ पी.डी.एफ. के रूप में भी इसकी वेबसाइट पर उपलब्ध है, जिसकी लिंक इस प्रकार है–

http://www.sanskrit.nic.in/ebooks.php

अन्य महत्त्वपूर्ण वेबसाइट्स–

इसके अतिरिक्त निम्नोक्त लिंक से भी बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है–

https://www.ancient-buddhist-texts.net/Texts-and-Translations/TT-index.htm#Chanting

https://www.sacred-texts.com/bud/index.htm

https://www.ancient-buddhist-texts.net/Reference/Early-Buddhist-Texts/index.htm

http://www.buddhism-guide.com/buddhism/buddhism.htm

इनके अतिरिक्त अनेक विद्वानों तथा संस्थाओं के द्वारा बौद्ध संस्कृत के संसाधन आनलाइन या डिजीटल स्वरूप में उपलब्ध हो जाते हैं। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा भारत-विद्या के क्षेत्र में जितने कार्य किये गये हैं, उनमें 75 प्रतिशत कार्य तो सिर्फ बौद्ध-विद्या पर ही किये गये हैं।

इस प्रकार डिजीटल स्वरूप में बौद्ध संस्कृत साहित्य परिपूर्ण अवस्था में प्राप्त होता है। यदि हम इन संसाधनों का पूर्ण प्रयोग कर पायें, तो निश्चित ही हम बौद्ध संस्कृत विद्या को महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकते हैं।

12

अर्थविनिश्चय-सूत्र के शीर्षक की सार्थकता एवं महत्त्व

- प्रो. विमलेन्द्र कुमार
प्रोफेसर, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग,
कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005 (उत्तरप्रदेश)

भगवान बुद्ध के द्वारा उपदेशित वचनों का संकल्प एवं संगायन करके त्रिपिटक का स्वरूप स्थविर भिक्षुओं के द्वारा दिया गया था। कालान्तर में बुद्धवचनों को अनेक निकायों के द्वारा अलग-अलग मत दिये गये। स्थविरवादी मत के अनुसार अभिधर्म पिटक में सात ग्रन्थ हैं और सर्वास्तिवादी मतानुसार भी अभिधर्म पिटक में सात ग्रन्थ हैं। सौत्रान्तिकों का कहना है कि *धम्मसङ्गणि, ज्ञानप्रस्थान*–आदि ग्रन्थों को *अभिधर्म पिटक* के रूप में मानकर सूत्रों में 'अभिधर्म पिटक' और 'त्रैपिटक भिक्षु' आदि शब्दों का व्यवहार नहीं किया गया है, और न तो भगवान् ने सूत्र पिटक एवं विनय पिटक के अतिरिक्त अभिधर्म पिटक की देशना ही की है, फिर भी उन्होंने अभिधर्म की देशना तो की ही है। सूत्रों में अनेक जगहों पर उन्होंने धर्मों के स्वलक्षण और सामान्य लक्षण आदि की विवेचना की है, सूत्रों के ऐसे स्थल या वचन ही वस्तुतः अभिधर्म है। जिन सूत्रों में इस प्रकार का धर्मप्रविचय या धर्मों का विश्लेषण उपलब्ध होता है, ऐसे सूत्र-विशेष ही हमारे मतानुसार अभिधर्म है, जैसे–*अर्थविनिश्चयसूत्र* आदि सूत्र, न कि *धम्मसङ्गणि, ज्ञानप्रस्थान* आदि ग्रन्थ। 'मातृका' शब्द भी अभिधर्म के पर्याय के रूप में सूत्रों में मिलता है। 'अभिधर्मधर' के लिए 'मातृकाधर' शब्द का प्रयोग स्वयं भगवान् ने ही किया है।[1] प्रथम पञ्चशतिका सङ्गीति में भी अभिधर्म का सङ्गायन महाकाश्यप आदि महास्थविरों ने मातृका के रूप में ही किया है। इसलिए 'अभिधर्म पिटक' 'त्रैपिटक भिक्षु' आदि शब्दों के आधार पर कोई दोया सूत्रविरोध का आक्षेप सौत्रान्तिकों पर नहीं दिया जा सकता।[2] परन्तु सौत्रान्तिक मत के अनुसार केवल बुद्ध के द्वारा उपदेशित सूत्र ही प्रमाण है, न कि किसी व्यक्ति के द्वारा रचित कोई ग्रन्थ। इस मत के अनुसार अभिधर्म वे हैं, जिनमें धर्म प्रविचय रूपी विश्लेषण विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है।[3] आचार्य असङ्ग सूत्र की परिभाषा देते हुए कहते है– '*सूचनात् सूत्रम्*'[4] अर्थात् सूचना देने वाला होने से इसे सूत्र कहा है। अर्थ की सूचना सूत्र से होती है।

1. चुल्लवग्ग, पृ. 421, 423
2. द्रष्टव्य-सौत्रान्तिक दर्शन, त्रिपाठी, रामशंकर, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 2008, पृ. 74-75
3. 'सूत्रविशेषा एव हि अर्थविनिश्चयादयोऽभिधर्म संज्ञाः येषु धर्मलक्षणं वर्ण्यते...।' अभिधर्मकोष-भाष्य स्फुटार्था (सं.) शास्त्री, स्वामी द्वारिकादास, 1941, पृ. 15

किसी न किसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर ही प्रवचन होता है। उस अभिप्राय या निष्कर्ष को ही अर्थ कहा जाता है।

सौत्रान्तिक अभिधर्म परम्परा में एक ग्रन्थ *अर्थविनिश्चयसूत्र* है, जिसकी प्रतिलिपि राहुल सांकृत्यायन के द्वारा 1934 में तिब्बत से लायी गयी थी और उसे काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्थान, पटना के ग्रन्थालय में रखा गया था। इस ग्रन्थ का एवं उसकी टीका आचार्य वीर्यश्री द्वारा विरचित निबन्धन का सम्पादन डॉ. एन.एच. सम्ताणी द्वारा किया गया और उसका प्रकाशन काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्थान, पटना के द्वारा 1971 ई. में किया गया। इस सूत्र का नाम 'अर्थविनिश्चय' दिया गया है। यह नाम भ्रान्ति उत्पन्न कर सकता है, जैसे 'इस सूत्र में आये हुए शब्दों के अर्थ का निर्णय करना'। अतः यह आवश्यक है कि इस सूत्र के शीर्षक पर विचार किया जाय। प्रस्तुत शोध-प्रपत्र में इस ग्रन्थ *अर्थविनिश्चयसूत्र* के शीर्षक की सार्थकता एवं महत्त्व पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

इस सूत्र के शीर्षक का आलोचनात्मक परीक्षण करने के पहले यह देखना जरुरी है कि इसके निबन्धन में शीर्षक को कैसे वर्णन किया गया है। निबन्धन में इस सूत्र के शीर्षक को दो बार वर्णन किया गया है–

(1) *अर्थानां विनिश्चयो धर्माणां प्रविचयः।*[5]

(2) *अर्थस्य विविधाकारेण निश्चयो भवत्य एतत् श्रवणात् सत्त्वानां अर्थविनिश्चय इत्यनुगतार्था संज्ञा।*[6]

पहले में 'अर्थ' को 'धर्म' के रूप में और 'विनिश्चय' को 'प्रविचय' के रूप में लिया गया है। दूसरे में भी 'अर्थ' को 'धर्म' या 'विभाग' के अर्थ में बतलाया गया है। निबन्धन में कहा गया है कि जब अर्थ (यानी धर्मों) को विभिन्न प्रकारों में वर्णन किया जाता है, तब केवल इन विभिन्न वर्णनों को जानकर प्राणी धर्मों के अर्थ को अवश्य ही जान सकता है।

अब हम लोग शीर्षक में 'अर्थ' शब्द को वर्णन करें। संस्कृत शब्दकोश (मोनियर विलियम्स) के अनुसार 'अर्थ' शब्द को लक्ष्य (aim), विषय (object), इच्छा (wish), पदार्थ (substance), वस्तु (thing), विषय-वस्तु (subject-matter), रूप (matter), इन्द्रिय (sense), मूल्य (price), कारण (cause), उद्देश्य (motive) आदि कहा गया है।[7]

यशोमित्र ने अपनी स्फुटार्था में 'अर्थ' शब्द की व्युत्पत्ति को अच्छे ढंग से समझाया है–"*अर्थाः विषयाः अर्यन्ते ज्ञायन्ते इति अर्थः।*"[8] अतः उन्होंनें अर्थ को विषय (subject-matter) के रूप में बतलाया है। वसुबन्धु भी अपने *मध्यान्तविभाग-भाष्य* में 'अर्थ' शब्द को सात शीर्षकों में कहा गया है, यथा–लक्षण,

4. "आश्रयतो लक्षणतो धर्मदर्थाश्च सूचनासूत्रम्।
अभिमुखतोयामीक्ष्यादभिभवगातितोऽभिधर्मश्च"॥
महायानसूत्रालङ्कार, (स.) वाग्ची, शीतांशु शेखर, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, द्वितीय संस्करण, 1999, पृ. 55
5. अर्थविनिश्चयसूत्रम् (निबन्धनाख्यव्याख्यासहित), साम्ताणी, हेमनदास नारायण, काशीप्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना, 1979, पृ. 73
6. वही, पृ. 83
7. Sanskrit Dictionary, Monier-Williams, p. 90
8. अभिधर्मकोशव्याख्या, भाग 1, पृ. 26

आवृति, तत्त्व आदि।[9] *अर्थविनिश्चयसूत्र* के टीकाकार भी 'अर्थ' शब्द को सत्ताइस शीर्षकों में बतलाने का प्रयास किया है।[10] उन्होंने 'अर्थ' को बौद्ध-धर्म के किसी भी शीर्षक जैसे–स्कन्ध, धातु, आयतन, ध्यान, आवेणिक, महापुरुषलक्षण आदि के रूप में बतलाने का प्रयास किया है। अतः यह निश्चय है कि इस सूत्र के शीर्षक में 'अर्थ' बौद्ध-धर्म के किसी भी उपर्युक्त रूप को दर्शाया है। अतः '*अर्थविनिश्चय*' का अर्थ "बौद्ध-धर्म के विभिन्न विभागों का विश्लेषण" हो सकता है।[11] यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि अभिधम्म पिटक के दूसरे ग्रन्थ का नाम 'विभंग' है, जिसका अर्थ विभाग, विवरण, विश्लेषण, विभाजन आदि है।[12] आचार्य बुद्धघोष ने विभंग की अट्ठकथा *सम्मोहविनोदनी* में कहा है कि भगवान बुद्ध ने स्कन्धादि विभंगों के माध्यम से विभंग प्रकरण की देशना दी थी।[13] जिसका अर्थ है कि जिस ग्रन्थ में स्कन्ध, धातु, आयतन, सच्च, पटिच्चसमुप्पाद आदि अठारह धर्मों का विभाजन या विश्लेषण हुआ है, वह विभंग प्रकरण है। अतः जिस प्रकार से विभंग प्रकरण में स्कन्ध, धातु, आयतन आदि धर्मों को सुत्तादि में वर्णन के अनुरूप विभाजन एवं विश्लेषण किया गया है, उसी प्रकार *अर्थविनिश्चय सूत्र* में स्कन्ध, धातु, आयतन आदि धर्मों का अभिधर्म में वर्णन के अनुरूप विभाजन एवं विश्लेषण किया गया है।

'विनिश्चय' का शाब्दिक अर्थ निर्णय (determination) है। यह परीक्षण (examination) अथवा विश्लेषण (Analysis) के भी अर्थों मे भी लिया जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि पालि में '*विनिच्छय*' शब्द आता है जैसे-*परमत्थविनिच्छय*[14], *विनयविनिच्छय*[15], *उत्तरविनिच्छय*[16]। *विसुद्धिमग्ग* टीका में 'विनिच्छय' को 'संशय' को नष्ट करने के अर्थ में कहा है- '*विनिच्छयकथाति तत्थ संसयविधमनेन विनिच्छयावहा कथा*'।[17] साथ ही '*विनिच्छय*' को '*अत्थवण्णना*' के सन्दर्भ में भी कहा गया है–'*विनिच्छयकथा ति विनिच्छयसहिता अत्थवण्णना*'।[18] आचार्य बुद्धघोस ने *दीघनिकाय* की अट्ठकथा *सुमङ्गलविलासिनी* में

9. मध्यान्तविभाग, पृ. 1
10. अर्थविनिश्चयसूत्र, पृ. 2-3
11. देखें-अर्थविनिश्चयसूत्र (भूमिका), पृ- 58
12. 'तत्थ सेपेव वुत्तानं खन्धादीनं विभजनं विभङ्गो'। विभङ्ग मूलटीका (स.), शर्मा, ब्रह्मदेव नारायण, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1988, पृ. 6
13. "उपेतो बुद्धधम्मेहि, अट्ठारसहि नायको।
अट्ठारसन्नं खन्धादि-विभङ्गानं वसेन यं॥
विभङ्ग देसयी सत्था, तस्स संवण्णनाक्कमो।
इदानि यस्स सम्पतो, तस्मा तस्सत्थवण्णनं॥"
सम्मोहविनोदनी (सं.) धम्मरतन, यू, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, 1961, पृ. 1
14. परमत्थ-विनिच्छयो (सं.) महेश तिवारी, पालि परिवेण, नई दिल्ली, 1992, पृ. 1
15. विनय-विनिच्छयो (सं.) हरिशंकर शुक्ल, पालि अकादमी, वाराणसी, 1988, पृ. 2
16. Uttaravinicchaya (Ed.) A.P. Buddhadatta in Part II of Buddhadatta's Manuals published by The Pali Text Society, London- 1990, pp- 231&304
17. विसुद्धिमग्गमहाटीका (पठमो भागो), विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1998, पृ. 36
18. वही, पृ. 195

विनिच्छय को दो भागों में विभाजित किया है- '*तण्हा विनिच्छयो*' एवं '*दिट्ठिविनिच्छयो*'।[19] एक सौ आठ तृष्णाओं में विचरण करने वाले दृष्टियों का नाम 'तण्हाविनिच्छय' है और बासठ प्रकार के मिथ्या दृष्टियों का नाम 'दिट्ठिविनिच्छय' है।[20] यहाँ पर '*विनिच्छय*' शब्द को शब्द-कोश में 'मनोविज्ञान' अथवा 'तर्क' के रूप में लिया गया है और इसके अर्थ को 'विस्तृत विश्लेषण' आदि कहा गया है। *नेत्तिप्पकरण* ग्रन्थ में भी 'विचय' को सुत्त का गहरा विश्लेषण (पविचय) के अर्थ में कहा गया है।[21] *अर्थविनिश्चयसूत्र* में भी 'विनिश्चय' शब्द को ग्रन्थ (compendium) के रूप में लिया जा सकता है। इस सन्दर्भ में यहाँ पर यह बतलाना जरूरी है कि *सङ्गीतिपर्यायपादशास्त्र* जो कि सर्वास्तिवाद अभिधर्म पिटक का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है; जिसमें इस सन्दर्भ में कहा गया है कि-"तद्यथा नैष्कम्य, विसंयोगाक्षित कुशल धर्म है, उस धर्म में प्रविचय, अत्यन्त प्रविचय, परम प्रविचय, विनिश्चय, सम्बोध, अवबोध, सर्वबोध, विनेय, मेधा, प्रतिवेध, उपनिध्यान (गवेषणा), नैपुण्य, पाण्डित्य, प्रज्ञा-आकार (प्रज्ञाचार), विपश्यना को 'दृष्टि' कहा जाता है।[22] अतः प्रविचय एवं विनिश्चय को 'दृष्टि' के रूप में भी समझा जाना चाहिए। आचार्य धर्मत्रात द्वारा प्रणीत *मिश्रकाभिधर्महृदयशास्त्र* के सप्तम अध्याय में *अर्थविनिश्चय* का नाम 'ज्ञान' है।[23] इसी ग्रन्थ के छठे अध्याय में ज्ञान को 'विनिश्चयार्थ' कहा गया है।[24] अतः *अर्थविनिश्चय* को ज्ञान के रूप में भी समझा जाना चाहिए। एफ. एडजर्टन ने 'विनिश्चय' शब्द को दार्शनिक संवाद, गम्भीर आदि के रूप में कहा है- "*गम्भीरं इदं श्रावकाणां विनिश्चयं*"[25]। अतः *अर्थविनिश्चय* को "बौद्ध-धर्म के विभिन्न प्रभागों का एक ग्रन्थ" के रूप में भी कहा जा सकता है।

निबन्धन में अर्थविनिश्चय को 'प्रविचय' के में कहा गया है जिसका बहुत ही दार्शनिक महत्त्व है- "*धर्माणां प्रविचय*"। प्रविचय (पालि-'पविचय') शब्द ग्रन्थों में विस्तृत रूप से प्रयोग किया गया है। धर्म-प्रविचय सात संबोध्यङ्गों में से एक है, जिसका अर्थ होता है 'सम्पूर्ण ज्ञान' अथवा 'सभी धर्मों का विनिश्चय'। यह बोधिपक्षीय 'धर्मों' में भावना के विभिन्न अङ्गों में से एक है, जिसे अभिधर्म पिटक में पूर्ण रूप से प्रकाशित किया गया है। यह निर्वाण के लिए आवश्यक है क्योंकि जब ये जाने जाते हैं; तो एक के बाद दूसरे धर्मों को दबा दिया जाता है। 'धर्म-प्रविचय' का अर्थ 'धर्मों का विश्लेषण' के अर्थ में भी आया है। 'धर्म-प्रविचय' अभिधर्मपिटक का मुख्य विषय है, जो कि सूत्रान्तों में पाया जाता है। अश्वजीत की गाथा[26], जो कि, सभी निकायों द्वारा सम्मति प्राप्त है, भी 'धर्म-विचय' को इंगित करती है।

19. सुमङ्गलविलासिनी, ततियो भागो (सं.) महेश तिवारी, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, 1976, पृ. 30
20. वही
21. 'यं पुच्छितञ्च विस्सज्जितञ्च, सुत्तस्स या च अनुगीति।
सुत्तस्स यो पविचयो, हारो विचयो ति निद्दिट्ठो॥'
नेत्तिप्पकरणपालि, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1998, पृ. 4।
22. वही, पृ.46
23. मिश्रकाभिधर्महृदयशास्त्र (हिन्दी अनुवाद), लालजी 'श्रावक' केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय, सारनाथ, वाराणसी, 2006, पृ. 320
24. वही, पृ.281
25. सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र (सं.)- पृ. 236. 3 (रोमन)
26. ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो॥ महावग्ग, पृ. 1-2

इस गाथा के अनुसार "जो धर्म हेतु से उत्पन्न होते हैं, उनके हेतु को तथागत ने कहा है। उन धर्मों का जो निरोध होता है, उनको भी तथागत ने कहा है। महाश्रमण का ऐसा वाद है- ऐसा सिद्धान्त है"। दूसरे अर्थों में यह गाथा प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को दर्शाती है, जिसके अनुसार- "इसके होने पर यह होता है, इसकी उत्पत्ति से यह उत्पन्न होता है, इसके न होने पर यह नहीं होता, इसके निरोध से यह निरुद्ध हो जाता है"।[27] इससे स्पष्ट है कि जो धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न होते हैं, वे ही धर्म-विचय अर्थात् धर्मों के विश्लेषण हैं। *अभिधम्मपिटक* के प्रथम ग्रन्थ धम्मसङ्गणि[28] में 'धम्मविचय' शब्द *पञ्ञा*[29], *अमोह*[30], *सम्मादिट्ठि*[31] आदि शब्दों के समान अर्थ में आया है। *अभिधम्मपिटक* के दूसरे ग्रन्थ *विभंग*[32] में 'धर्म-विचय' को सत्त बोज्झङ्गों (बोध्यङ्गों) के अन्दर रखा गया है। यथा– *सति बोध्यङ्ग, धर्मविचय बोध्यङ्ग, वीर्य बोध्यङ्ग, पीति बोध्यङ्ग, पस्सद्धि बोध्यङ्ग, समाधि बोध्यङ्ग* एवं *उपेक्षा बोध्यङ्ग*। यह बोधिपक्षीय धर्मों में भावना के विभिन्न अंगों में से एक है, जिसे अभिधर्म पिटक के ग्रन्थों में विस्तृत रूप से प्रकाशित किया गया है।

27. 'इमस्मिं सति इदं होति, इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स उप्पादा इदं उपज्जति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति'मज्झिमनिकाय (सं.), कस्सप, भिक्खू जगदीस, नालन्दा प्रकाशन समिति, नालन्दा, 1958
28. 'या तस्मिं समये पञ्ञा पजानना विचयो पविचयो धम्मविचयो सल्लक्खणा उपलक्खणा पच्चुपलक्खणा पण्डिच्चं कोसल्लं नेपुञ्ञं वेभब्या चिन्ता उपपरिक्खा भूरी मेधा परिणायिका विपस्सना सम्पजञ्ञं, पतोदो पञ्ञा पञ्ञिन्द्रियं पञ्ञाबलं पञ्ञासत्थं पञ्ञापासादो पञ्ञाआलोको पञ्ञाओभासो पञ्ञापज्जोतो पञ्ञारतनं अमोहो धम्मविचयो सम्मादिट्ठिअयं तस्मिं समये सम्मादिट्ठि होति'- धम्मसङ्गणिपालि, (सं.) भिक्खु जगदीस काश्यप, पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, 1960, पृ. 21
29. 'छेदनलक्खणा पञ्ञा', मिलिन्दपञ्हो, पृ. 25
'ओभासलनक्खणा पञ्ञा'- वही, पृ. 30
'कुसलचित्तसम्पयुत्तं विपस्सनाञाणं पञ्ञा' विसुद्धिमग्ग, पृ. 304
30. धम्मसङ्गणि में 'अमोहो' को चार आर्य सत्यों का ज्ञान, कुशलाकुशल ज्ञान, पूर्वान्तपरन्त ज्ञान तथा प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान कहा जाता है- 'दुक्खे ञाणं, दुक्खसमुदये ञाणं, दुक्खनिरोधे ञाणं, दुक्खनिरोधगामनिया पटिपदाय ञाणं, पुब्बन्ते ञाणं, अपरन्ते ञाणं, पुब्बन्तापरन्ते ञाणं, इदप्पच्चयता पटिच्चसमुप्पन्नेसु धम्मेसु ञाणं, या एवरूपा पजानना विचयो पविचयो धम्मविचयो सम्मादिट्ठि' - धम्मसङ्गणि, पृ. 239-240।
अभिधम्मत्थसङ्गहो में 'अमोह' को 'प्रज्ञेन्द्रिय' के समान माना है- 'पञ्ञिन्द्रियं ति अमोहो' (अभिधम्मत्थसङ्गहो, 2/7 टीका) परन्तु अभिधर्मकोश एवं अभिधर्मामृत में 'प्रज्ञा' को गिनाया गया है, परन्तु 'अमोह' को नहीं। इसका अर्थ हुआ कि दोनो ग्रन्थ 'प्रज्ञेन्द्रिय' एवं 'अमोह' में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। अभिधर्म समुच्चय में इन दोनों में एक अन्तर को माना है। अभिधर्मामृत में मोह को अविद्या से परे माना है, परन्तु हमलोग इसको अभिधर्मकोश, अभिधम्मत्थसङ्गहो एवं अभिधर्मसमुच्चय में नहीं पाते हैं। अभिधर्मामृत के अनुसार 'मोह' वस्तु के संज्ञा के सन्दर्भ में अज्ञानता है -(वस्तुष्वनबोधो मोहो : 6/15) और अविद्या त्रिधातुओं (कामलोक, रूप लोक एवं अरूप लोक) के सन्दर्भ में अज्ञानता है (-धातुकमज्ञानमविद्या 6/16) - देखें- भदन्तघोषकप्रणीतम् अभिधर्ममृतशास्त्रम् (भूमिका), विश्व भारती अन्नलस, भाग-5, (सं.) शान्ति भिक्षु शास्त्री, विश्व भारती, शान्ति निकेतन, 1953, पृ. 18-19
31. मज्झिमनिकाय, भाग एक, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1998, पृ. 60।
32. 'सत्त बोज्झङ्गा- सति बोज्झङ्गो, धम्मविचयसम्बोज्झङ्गो, विरियसम्बोज्झङ्गो, पीति सम्बोज्झङ्गो, पस्सति) सम्बोज्झङ्गा समाधिसम्बोज्झङ्गो, उपेक्खासम्बोज्झङ्गो'- विभङ्गपालि, (सं.) भिक्षुजगदीश काश्यप, पालि प्रकाशक मण्डल, नालन्दा, 1060, पृ. 274

वसुवन्धु ने कारिका की व्याख्या करते हुए कहा है- *'प्रज्ञा मला सानुचराऽभिधर्मः'*।[33] यहाँ पर प्रज्ञा को उन्होंने 'धर्मप्रविचय' कहा है। यहाँ पर धर्मप्रविचय 'साश्रव और अनाश्रव धर्मों के विश्लेषण' के अर्थ में है। फिर कारिका में उन्होंने कहा है कि बिना धर्मप्रविचय के क्लेशों की उपशान्ति नहीं है। *"धर्माणां प्रविचयं अन्तरेण नास्ति क्लेशानं, यत उपशान्तये भूपायः"*।[34] अर्थात् क्लेशों की (मन की मलिनताओं की) शान्ति का उत्तम उपाय धर्मों के प्रविचय (विश्लेषण) के विना नहीं है। यहाँ भवसागर में क्लेशों के कारण ही दुनिया का चक्कर लगाता रहता है, अतः उसके निमित्त तथागत ने इस धर्मप्रविचय का प्रवचन किया है। अभिधर्म में धर्मों के विश्लेषण से ही मुख्यतः *'विसुद्धिमग्ग'*[35]अथवा 'विशुद्धिमार्ग' का वर्णन है। इसका मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि 'जीव' या 'आत्मा' नाम की कोई वस्तु नहीं है और यह अनेक धर्मों से निर्मित है। जिस प्रकार पहिए, धुरा, जुआ आदि सभी भागों से व्यतिरिक्त 'रथ' की सत्ता नहीं है।[36]

"यथा हि अङ्गसम्भारा, होति सद्दो रथो इति।"

उसी प्रकार व्यक्ति भी रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूपी पाँच स्कन्धों की समष्टि के अलावा और कुछ नहीं है। ये सभी स्कन्ध अनित्य, अनात्म और दुःख है। दूसरे अर्थों में ये सभी स्कन्ध धर्मों के समुच्चय है, और ये सभी क्षय-व्यय से युक्त है, इसलिए अनित्य है। अनित्य होने के कारण दुःख है, दुःखस्वरूप होने के कारण अनात्म है। नित्य आत्मा तथा आत्मीय से भिन्न है। और इसके साक्षात्कार से एक योगावचर आत्म-दृष्टि से निर्देशित नहीं होगा जोकि सभी सांसारिक अकुशल धर्मों का मूल है। यही कारण है कि पुराणाचार्यों ने कहा है-

दुक्खमेव हि न कोचि दुक्खितो, कारको न किरिया व विज्जति।
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुमा मग्गत्थि गमको न विज्जति॥ [37]

अर्थात् दुःख ही है, कोई दुःख भोगनेवाला नहीं है। कर्ता नहीं है, क्रिया ही है। निर्वाण है, निर्वाण को प्राप्त व्यक्ति नहीं है। मार्ग है, पथिक नहीं है।

---

33. 'प्रज्ञामला सानुचराभिधर्मस्तत्प्राप्तये यापि च यञ्च शास्त्रम्।
तस्यार्थतोस्मिन समनुप्रवेशात् स चाश्रयोऽस्येत्यभिधर्मकोशः'॥
- अभिधर्मकोश आफ वसुबन्धु (अंग्रेजी अनुवादडॉ. सुभद्र झा), काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना, 1989, पृ. 5 (कोश 1कारिका 2)
34. धर्माणां प्रवचियमन्तरेण नास्ति, क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः।
क्लेशैश्च भ्रमति मवार्ण वेडत्र लोकस्, तद्धेतरित उदितः किलैष शास्त्रा॥
अभिधर्मकोश आफ वसुबन्धु, प्रथम एवं द्वितीय कोश (अंग्रेजी अनुवाद, अनुवादक-डॉ. सुभद्र झा), काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना, 1989, पृ. 9 (कोश 1(कारिका 3)
35. "तत्थ विसुद्धी ति सब्बमलविरहितं अच्चन्तपरिसुद्धं निब्बानं वेदितब्बा। तस्सा विसुद्धिया मग्गो ति विसुद्धिमग्गो"।
विसुद्धिमग्ग (सं.), शास्त्री, स्वामी द्वारिकादास, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1977, पृ. 4
36. "यथा हि अङ्गसम्भारा, होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु, होति सत्तो ति सम्मुति" ति।
मिलिन्दपञ्हो (सं.), स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1979, पृ. 21। संयुक्तनिकायो पठमो भागो (पठमो खन्धो), विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1994, पृ. 161
37. विसुद्धिमग्गो (दुतियो भागो), विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1998, पृ. 142

भगवान बुद्ध भी कहते हैं–

सब्बे धम्मा अनत्ता ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिदन्ति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया॥ [38]

अर्थात् सभी धर्म अनात्म है, यदि कोई व्यक्ति इसे प्रज्ञा से देखता है, तो उसके सारे दुःख समाप्त हो जाते हैं, यही विशुद्धि (निर्वाण) का मार्ग है।

इन तथ्यों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि 'धर्मप्रविचय' बुद्धत्व प्राप्ति में सहायक है जो अर्थविनिश्चय सूत्र का भी मुख्य उद्देश्य है। 'धर्मप्रविचय' बोधि के सात अंगों में से भी एक है। भगवान बुद्ध भी कहते हैं कि जिन धर्मों को तुम्हारे लिये मैंने स्वयं अभिज्ञात करके उपदेशित किया है, उसे अर्थ और व्यञ्जन सहित सब मिल-जुल कर, बिना विवाद किये संगायन करें, जिससे कि यह धर्माचरण चिर स्थाई हो।[39]

भगवान् ने एक धर्म को स्वतः प्रतिवेध कर (जानकर, समझकर), अभिसम्बोध कर (ज्ञान प्राप्त कर) सभी शिष्यों के लिए निर्दिष्ट व इस प्रकार इस सूत्र में बौद्ध-धर्म के विभिन्न विभागों जैसे स्कन्ध, धातु, आयतन, ध्यान, महापुरुष लक्षण आदि का विश्लेषण होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम अर्थविनिश्चय सूत्र रखने की सार्थकता सिद्ध होती है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

मूलग्रन्थ–

अङ्गुत्तरनिकायो, पठमो भागो (पठमो खन्धो), विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1998।

अर्थविनिश्चयसूत्रम् (निवन्धनाख्यव्याख्यासहित), साम्ताणी, हेमनदास नारायण, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना, 1979

अभिधर्मकोश आफ वसुबन्धु , प्रथम एवं द्वितीय कोश (अनुवादक-डॉ. सुभद्र झा), काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना, 1989

अभिधर्मकोशभाप्यस्फुटार्थाव्याख्या, (स.) शास्त्री, स्वामी द्वारिकादास, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1981।

---

38. धम्मपद गाथा सं. 279
39. दीघनिकायपालि, भाग 3, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1993, पृ. 177
भगवान् ने एक धर्म को स्वतः प्रतिवेध कर (जानकर, समझकर), अभिसम्बोध कर (ज्ञान प्राप्त कर) सभी शिष्यों के लिए निर्दिष्ट व प्रकाशित किया है। हम सबको इस समय (उसका) सङ्गायन करना चाहिए, जिससे कि बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद (कोई) विवाद न उत्पन्न हो, ब्रह्मचर्यानुकूल धर्म-विनय चिरस्थितिक होवे, अपरिमित सत्त्वों के हित-सुख के लिए, लोक के सभी देव मनुष्यों पर अनुकम्पा (के लिए होवे), अनुत्तर हित-सुख की प्राप्ति के लि, होवेअभिधर्मसङ्गीतिपर्यायपादशास्त्र (हिन्दी अनुवाद), लालजी 'श्रावक'केन्द्रीय तिब्वती अध्ययन वि'वविद्यालय, सारनाथ, वाराणसी, 2014, पृ. 5

अभिधर्मसङ्गीतिपर्यायपादशास्त्र (हिन्दी अनु.) लालजी 'श्रावक', केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2014।

अभिधर्मामृतशास्त्रम् (भूमिका), भदन्तघोषकप्रणीतम् (सं.) शास्त्री, शान्ति भिक्षु, *विश्व भारती अन्नलस*, भाग-5 विश्व भारती, शान्ति निकेतन, 1953

अट्ठसालिनी, (सं.) बापट, पी.वी. तथा वाडेकर, आर.डी., पूना, 1942।

अभिधम्मत्थसङ्गहो, (सं.) भदन्त रेवत धम्म तथा त्रिपाठी, रामशंकर, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1972।

अभिधम्मत्थसङ्गहविभावनी टीका, (सं.) शास्त्री, भदन्त रेवतधर्म, बौद्ध स्वाध्यायसत्र, वाराणसी, 1965।

अभिधम्मत्थसङ्गहो नवनीत टीका, (सं.) कोसम्बी, धर्मानन्द, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1964।

खुद्दकनिकाय, भाग 1, (सं.) कस्सप, भिक्खु जगदीस, नालन्दा संस्करण, नालन्दा, 1959।

चुल्लवग्ग, (सं.) कस्सप, भिक्खु जगदीस, नालन्दा, 1956।

दीघनिकायपालि, भाग 3, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1993।

धम्मसङ्गणिपालि, (सं.) कस्सप, भिक्खु जगदीस, पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, 1960।

नेत्तिप्पकरणपालि, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1998।

परमत्थ-विनिच्छयो (सं.) तिवारी, महेश, पालि परिवेण, नई दिल्ली, 1992।

मज्झिमनिकायो, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1998।

महायानसूत्रालङ्कार, (सं.) बागचि, शीतांशु शेखर, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, द्वितीय संस्करण, 1999।

महावग्ग, (सं.) कस्सप, भिक्खु जगदीस, पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, 1956।

महावंसटीका, (सं.) कस्सप, भिक्खु जगदीस, नालन्दा संस्करण, नालन्दा, 1971।

महायान, (सं.) भिक्षु, भदन्त शान्ति, विश्व भारती ग्रन्थालय, कोलकाता।

मिलिन्दपञ्हो (सं.), शास्त्री, स्वामी द्वारिका दास, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1979।

विनय-विनिच्छयो, (सं.) शुक्ल, हरिशंकर, पालि अकादमी, वाराणासी, 1988।

विभङ्गपालि, (सं.) कस्सप, भिक्खु जगदीस, पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, 1960।

विभङ्ग मूलटीका, (सं.) शर्मा, ब्रह्मदेव नरायण, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1988।

विसुद्धिमग्ग, (सं.) शास्त्री, स्वामी द्वारिकादास, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1977।

विसुद्धिमग्गो (दुतियो भागो), विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1998।

विसुद्धिमग्ग-महाटीका (पठमो भागो), विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1998।

सम्मोहविनोदनी, (सं0) धम्मरतन, यू0, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, 1961।

सुमङ्गलविलासिनी, ततियो भागो (सं0) तिवारी, महेश, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, 1976।

संयुत्तनिकायो, पठमो भागो (पठमो खन्धो), विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1994।

संयुत्तनिकाय, (सं0) कस्सप, भिक्खु जगदीस, पालि प्रकाशन समिति, नालन्दा, 1960।

सौत्रान्तिक दर्शन, (सं0) त्रिपाठी, रामशंकर, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी,2008।

सहायक ग्रन्थ–

द्विवेदी, राधेश्यामधर, *बौद्ध विज्ञानवाद*, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 1983।

पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, *बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास*, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पञ्चम संस्करण, 2010।

भिक्षु धर्मरक्षित, *विसुद्धिमग्ग* भाग 1 एवं 2, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008।

त्रिपाठी राम शंकर, *बौद्ध अभिधर्म शास्त्र*, बुद्ध वन्दना, बुद्ध महोत्सव 1999।

शर्मा, ब्रह्मदेव नरायण, *विभज्जवाद*, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2004।

Buddhadatta, A.P., *Vinayavinicchaya and Attaravinicchaya Part II of Buddhadatta's Manuals* published by The Pali Text Society, London. 1990.

Davids, C.A.F. Rhys, *A Buddhist Manual of Psychological Ethics* (tr. Of DhammasaEgani) London, 1900

Edgerton, Franklin, (ed.) *Buddhist Hybrid Sanskrit Dictionary*, Yale University, New Haven, 1953.

Haldar, Aruna, (ed.) *Some Psychological Aspects of Early Buddhist Philosophy Based On Abhidharmakośa of Vasubandhu*, The Asiatic Society, Kolkata, Reprint 2001.

Kern, H. and Nanjio, B., (ed.) *Saddharmapundarikasûtra*, (ed.) St. Petersburg, 1908-12.

Lomotee Etienne, *History of Indian Buddhism From the Origins to the S'aka Era* (Tr.) Sara Webb-oin, Institute Orientaliste, Louvain-La-Neuve, Louvain-Paris, 1988.

Obermiller, E. (Trans.), 1931-32, *History of Buddhism* by Bu-ston, Heidelberg; Indian Reprint, Delhi, Sri Satguru Publication, 1988.

Pradhan, Prahlad, (ed.) *Abhidharmasamuccaya of Asanga*, Visva Bharati, Santiniketan, 1950.

Singh, AmUr, (ed.) *Buddha's Original Logical SautrUntika Analytical Philosophy*] Eastern Book Linkers, Delhi, Second Edition, 2007.

Williams, Monier, *Sanskrit Dictionary*, Oxford, 1956.

Takakusu, J., 1904-5, "On the Abhidharma Literature of the Sarvastivada," *Journal of the Pali Text Society*, London, pp. 66-146.

Tatia, Nathmal Und Thâkur, A.L., (ed.) *Madhyânta-Vibhâga-Bhâsya*, K.P. Jaiswal Research Institute, Patna, 1967.

SamtUni, N.H., *Gathering the Meanings: The Compendium of Categories (Transltion of Arthviniúcaya Sûtra Und its CommentUry Nibandhana)*, Dharma Publishing, Berkeley, USA, 2001.

13

सद्धर्मपुण्डरीक : अर्थ एवं वैशिष्ट्य

दिलीप कुमार
शोध छात्र, पीएच.डी
भाषा, साहित्य संस्कृति एवं अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली- 110067
ई-मेल–dileepkjnu@gmail-com

भगवान् बुद्ध के निर्वाण के मात्र 100 वर्ष बाद ही बुद्धानुयायियों में मतभेद उभरकर सामने आने लगे थे। वैशाली में सम्पन्न द्वितीय धम्म-संगीति में स्थविरवादी भिक्षुओं ने मतभेद रखने वाले भिक्षुओं को संघ से बाहर निकाल दिया। अलग हुए इन भिक्षुओं ने उसी समय अपना अलग संघ बनाकर स्वयं को 'महासांघिक' और जिन्होंने निकाला था' उन्ह. 'हीनसांघिक' नाम दिया। इस घटना के कालान्तर में बृहत् परिणाम आयें। इसके फलस्वरूप ही कालान्तर में इन अलग हुए संघों ने क्रमशः महायान और हीनयान का रूप धारण कर लिया।

यहाँ महायान सूत्रों के विषय में बताते हुए 'सद्धर्मपुण्डरीक' के अर्थ एवं वैशिष्ट्य को दर्शाया जाएगा। महायान सूत्र अनेक हैं; किन्तु इनमें से कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका विशेष रूप से आदर है। इनकी संख्या 9 है। ये इस प्रकार हैं–

1. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा-पारमिता, 2. सद्धर्मपुण्डरीक, 3. ललितविस्तर, 4. लंकावतार, 5. सुवर्णप्रभास, 6. गण्डव्यूह, 7. तथागत-गुह्यक, 8. समाधिराज और 9. दसभूमीश्वर।

इन्ह. नेपाल में नव-धर्म (धर्म-पर्याय) कहा जाता है। इन्ह. 'वैपुल्य-सूत्र' भी कहते हैं।

नेपाल में इनकी पूजा होती है। महायान के वैपुल्य-सूत्रों का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक' है। महायान की पूर्ण प्रतिष्ठा होने के बाद ही सम्भवतः इस ग्रन्थ की रचना हुई। महायान-दर्शन के सिद्धान्तों से पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए इस ग्रन्थ-रत्न का अध्ययन अनिवार्य माना गया है। इस ग्रन्थ का सम्पादन प्रो. ई.एच. कर्न और प्रो. बी. नंजियो ने किया है। सद्धर्मपुण्डरीक का प्रथम संस्करण सन् 1908-12 ई. में सेण्ट पीटर्सबर्ग, रूस से 'बिब्लिओथिका बुद्धिका' के दसव. ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ था।

'सद्धर्मपुण्डरीक' नाम के बारे में एम.अनिसाकी कहते हैं'पुण्डरीक' का अर्थ 'कमल' होता है। 'कमल' पवित्रता और पूर्णता का प्रतीक होता है। जैसे–पंक (कीचड़) से उत्पन्न होने पर भी 'कमल' उससे लिप्त नहीं होता, वैसे लोक में उत्पन्न होने पर भी 'बुद्ध' लोक के दोषों से लिप्त नहीं होते।

सद्धर्मपुण्डरीक के अर्थ को हम सरलतम रूप में इस प्रकार समझ सकते हैं–

'सद्धर्मपुण्डरीक' तीन शब्दों के संयोग से बना हुआ शब्द है : सद् + धर्म + पुण्डरीक। सद् का तात्पर्य है–अच्छा; धर्म का तात्पर्य बुद्ध के उपदेशों से है तथा पुण्डरीक का तात्पर्य श्वेत-कमल से है। इस प्रकार समग्र-रूप में 'सद्धर्मपुण्डरीक' का अर्थ–बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट सन्मार्ग है–जो कमल के समान सुन्दर, पवित्र तथा निर्लिप्त है। जिस प्रकार पुण्डरीक–पानी और कीचड़ में उत्पन्न होकर भी–उनमें लिप्त नहीं होता, बुद्ध की शिक्षाएँ भी इस दुःखी और क्लेश युक्त संसार में स्थित रहकर अपने अनुयायियों के लिए निर्वाण का मार्ग प्रशस्त करती हैं; किन्तु स्वयं कलुषित नहीं होती। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कमल-पुष्प के साथ सुन्दरता तथा पवित्रता का भाव जुड़ा है, उसी प्रकार बौद्ध-धर्म की शिक्षाएँ भी सुन्दरता तथा पवित्रता से संयुक्त हैं; क्योंकि उनमें मानव को सांसारिक दुःखों से मुक्त कराने की क्षमता है।

चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत आदि महायानी देशों में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है और यह सूत्र बहुत पवित्र माना जाता है। चीनी भाषा में इसके छः अनुवाद हुए। धर्मरक्ष, कुमारजीव, ज्ञानगुप्त और धर्मगुप्त–इन आचार्यों के अनुवाद भी प्राप्त होते हैं। चीन और जापान में आचार्य कुमारजीव कृत इस ग्रन्थ का अनुवाद अत्यन्त लोकप्रिय है। इस ग्रन्थ में कुल 27 अध्याय है, जिन्ह. 'परिवर्त' कहा गया है। पहले निदान परिवर्त में ग्रन्थ के निर्माण के विषय में कहा गया है कि यह ग्रन्थ "वैपुल्यसूत्रराज" है-

"वैपुल्यसूत्रराजं परमार्थनयावतारनिर्देशम्।
सद्धर्मपुण्डरीकं सत्त्वाय महापथं वक्ष्ये॥"

इस ग्रन्थ की श्रेष्ठता का विवेचन करते हुए कहा गया है–"जैसे अन्धकार को दूर करने के लिए दीपक की आवश्यकता है तथा दरिद्रता को दूर करने के लिए रत्न की आवश्यकता है; वैसे ही प्राणियों को मुक्ति दिलाने के लिए सद्धर्मपुण्डरीक की आवश्यकता है।"

इस ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य है–यानत्रय(श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान एवं बोधिसत्त्वयान) के स्थान पर एकयान (बुद्धयान) की स्थापना करना–

"एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते।
तृतीयं हि नैवास्ति कदापि लोके॥"

तीनों यानों का पर्यवसान बुद्धयान में ही होता है। यह बुद्धयान ही सर्वज्ञता-पर्यवसायी एवं तथागत ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति तथा उसका सन्दर्शन, अवतारण एवं प्रतिबोधन कराने वाला है। 'सद्धर्मपुण्डरीक'-ग्रन्थ में कहा गया है कि बुद्धयान के द्वारा ही निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है, अन्य यानों के द्वारा नहीं। हीनयान के अर्हत् क्लेशावरणों का नाश करके पुद्गल-शून्यता तो प्राप्त कर लेते हैं; किन्तु वे ज्ञेयावरणों को हटाकर धर्मशून्यता प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। इसके परिणाम-स्वरूप उन्ह. निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। उन्ह. इसके लिए बुद्धयान की ही शरण लेनी पड़ती है। किन्तु जो आरम्भ से ही बुद्धयानी है, उन्ह. निर्वाण प्राप्ति में कोई कठिनाई नहीं होती।

इस ग्रन्थ के वैशिष्ट्य में अवलोकितेश्वर की अतिशय महिमा एवं अद्भुत करुणा का वर्णन शामिल है। अवलोकितेश्वर ने स्वयं बोधि प्राप्त कर ली है अर्थात् निर्वाण प्राप्ति की क्षमता उन्ह. प्राप्त है; किन्तु जब तक संसार का एक भी प्राणी दुःख में बद्ध होगा, तब तक निर्वाण न प्राप्त करने का उनका संकल्प है। अवलोकितेश्वर के नाम का केवल स्मरण ही मनुष्य को अनेक दुःखों एवं आपदाओं से रक्षा करता है। चीनी पर्यटक फाहियान ने, जो ईसा की चौथी शती में भारत आया था, लंका से चीन जाते समय समुद्र-प्रवास के समय तूफान से बचने के लिए अवलोकितेश्वर की ही प्रार्थना की थी। कारण्ड-व्यूह में अवलोकितेश्वर की महाकरुणा के अनेक वर्णन उपलब्ध होते हैं।

समाधि एवं यौगिक क्रियाओं की अपेक्षा बुद्धभक्ति, मूर्ति-पूजा, स्तूप-पूजा आदि को अधिक महत्त्व देना–इस ग्रन्थ की अन्य विशिष्टता है। बुद्धत्व प्राप्ति के लिए बुद्धों एवं बोधिसत्त्वों की पूजा आवश्यक मानी गई है। "वे सभी प्राणी, जिन्होंने बुद्ध के उपदेशों का श्रवण किया है, अनेक प्रकार के शुभ-कर्म किए हैं, सदाचार-मय जीवन व्यतीत किया है, धात्ववशेषों की पूजा की है, स्तूप एवं बुद्ध की मूर्तियाँ बनवाई हैं, स्तूपों की पुष्प एवं गन्ध से पूजा की है, बुद्ध की मूर्ति के सम्मुख संगीत प्रस्तुत किया है तथा अनायास ही मन में बुद्ध के प्रति गौरव-भावना की सृष्टि की है–वे सभी श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त करके बुद्धत्व-लाभ करते हैं।" वे बच्चे भी बुद्धत्व की प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं, जो खेल-खेल में बालू के स्तूप बनाते हैं तथा दीवारों पर बुद्ध के उल्टे-सीधे चित्र खींच देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस ग्रन्थ के प्रधान लक्ष्यों में बुद्धों, अवलोकितेश्वरों, स्तूपों एवं प्रस्तुत सूत्र की पूजा तथा सदाचार एवं शुभ-कर्मों के महत्त्व पर जोर देना भी है। सद्धर्मपुण्डरीक ग्रन्थ भक्तिपरक है। अतः इसमें बुद्ध के उपदेशों के दार्शनिक पक्षों पर विशेष विचार नहीं किया गया है। महायान-ग्रन्थों में कथित दार्शनिक सत्य इस ग्रन्थ में प्रायः ज्यों-के-त्यों स्वीकृत कर लिए गए हैं। जीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण नहीं, बुद्धत्व की प्राप्ति है।

सद्धर्मपुण्डरीक के बुद्ध मनुष्य न रहकर अनादि, अनन्त, सर्व-समर्थ एवं करुणामय भगवान् बन गए हैं, यह इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है। अपनी भगवत्ता के विषय में बुद्ध स्वयं कहते हैं–"मैं स्वयम्भू एवं संसार का पिता हूँ; वैद्य तथा सभी प्राणियों का संरक्षक हूँ। यद्यपि मैं स्वयं अनादि, अनन्त एवं अजन्मा हूँ, फिर भी संसार के मोहग्रस्त प्राणियों को समझाने के लिए निर्वाण प्राप्ति एवं जन्म धारण का अभिनय करता हूँ।"

एतादृशं ज्ञानबलं मयेदं
प्रभास्वरं यस्य न कश्चिदन्तः।
आयुश्च मे दीर्घमनन्तकल्पं
समुपार्जितं पूर्वचरित्वचर्याम्॥

यमेव हं लोकपिता स्वयम्भूः
चिकित्सकः सर्वप्रजान नाथः।
विपरीतमूढांश्च विदित्व बालान्
अनिर्वृतो निर्वृत दर्शयामि॥

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर कुछ विद्वानों ने सद्धर्मपुण्डरीक पर भागवत् सम्प्रदाय का प्रभाव माना है। जे.एन. फरकुहार का मत है कि सद्धर्मपुण्डरीक पर भागवत सम्प्रदाय, वेदान्त एवं गीता का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। विन्टरनित्ज फरकुहार के मत के एक ही अंश से सहमत हैं। उनका कथन है कि भागवत-सम्प्रदाय तथा वेदान्त का तो नहीं, पर गीता का प्रभाव अवश्य वर्तमान है। कर्न भी विन्टरनित्ज के विचार से सहमत है–

"Traits borrowed, or rather surviving, from an older cosmological mythology and traces of ancient Nature-worship abound both in the Lotus and the Bhagavagita."

सद्धर्मपुण्डरीक के बुद्ध की उपदेश देने की रीति भी प्राचीन तथागत बुद्ध से भिन्न है। पालि-सूत्रों के बुद्ध संन्यासी के रूप में स्थान-स्थान पर घूमते हैं तथा भिक्षु एवं भिक्षुणियों को उपदेश देते हैं, किन्तु सद्धर्मपुण्डरीक के बुद्ध के साथ ऐसी बात नहीं है। वे तो गृध्रकूट पर्वत पर बैठे हैं; असंख्य भिक्षु, भिक्षुणी, बोधिसत्त्व, देवपुत्र, महाराज, ब्रह्मा, नागराज, किन्नरराज, गन्धर्व, असुर, गरुड़, चक्रवती, मण्डलाधीश एवं

इतर इन्द्र. घेरे हुए हैं; नभ से निरन्तर दिव्य-पुष्पों की वर्षा हो रही है। जब उनके मन में धर्मोपदेश देने का विचार आता है, तब उनके भ्रू-विवर के मध्य से एक महती प्रकाश-रश्मि विकीर्ण होती है, जिसके प्रकाश में अवीचि से भवाग्नि तक अट्ठारह हजार बुद्ध-क्षेत्र जगमगा उठते हैं। भक्तों के पुनः-पुनः आग्रह करने पर धर्मोपदेश आरम्भ करते हैं।

इस ग्रन्थ में बुद्ध की महती करुणा एवं समदर्शिता का विशद वर्णन किया गया है। इस प्रसंग में उनकी तुलना एक कारुण्य से भरे पिता एवं एक वैद्य से की गई है। जैसे–वैद्य की दृष्टि में सभी प्राणी तथा पिता की दृष्टि में सभी पुत्र समान होते हैं, वे सबकी हित-भावना समान रूप से करते हैं, वैसे ही बुद्ध भी सभी प्राणियों की समभाव से हित-साधना एवं मंगल-भावना करते हैं। आगे चलकर इसी प्रसंग में, बुद्ध की तुलना मेघ तथा सूर्य एवं चन्द्रमा से की गई है। मेघ, सूर्य एवं चन्द्रमा की तरह बुद्ध–सभी स्थितियों में वर्तमान सभी प्रकार के प्राणियों को–समान रूप से उपदेश देते हैं एवं सबकी समभाव से मंगल-कामना करते हैं। "नमोऽस्तु बुद्धाय" इस मन्त्र के उच्चारण मात्र से मूढ़-पुरुष भी उत्तम अग्र-बोधि को प्राप्त कर लेने में समर्थ हो जाते हैं।

इस ग्रन्थ की वर्णन शैली अतिशयोक्तिपूर्ण एवं विस्तार-बहुल है। यह शैली आम जनमानस का ध्यान आकृष्ट करती है। बुद्ध के प्रति श्रद्धा एवं उनके अलौकिक रूप तथा शक्तियों के प्रति लोगों के हृदय में विश्वास उत्पन्न करने में इन वर्णन-शैलियों का बहुत बड़ा योगदान है। विषय को रोचक एवं सर्व-सामान्य के लिए सरल एवं बोधगम्य बनाने के लिए स्थान-स्थान पर छोटी-छोटी उपदेशात्मक कथाओं का बहुलता से सन्निवेश किया गया है।

कमल के समान सुन्दर, पवित्र तथा निर्लिप्त अतिशयोक्ति-पूर्ण एवं विस्तार-बहुल वर्णन-शैली वाला वैपुल्यसूत्र-राज सद्धर्मपुण्डरीक बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट मार्ग है। यह ग्रन्थ प्राणियों को मुक्ति दिलाने वाला; बुद्धयान की स्थापना के उद्देश्य को लेकर चलने वाला; अवलोकितेश्वर की महिमा एवं अद्भुत करुणा को बताने वाला; बुद्धत्व प्राप्ति के लिए बुद्ध-भक्ति, मूर्ति-पूजा, स्तूप-पूजा तथा सदाचार एवं शुभ-कर्मों को महत्व देने वाला; बुद्ध को मनुष्य न मानकर अनादि, अनन्त, सर्व-समर्थ एवं करुणामय भगवान्; कारुणिक पिता एवं एक वैद्य मानने वाला; जो गृद्धकूट पर्वत पर बैठे हैं; असंख्य भिक्षु, भिक्षुणी, बोधिसत्त्व, देवपुत्र, महाराज, ब्रह्मा, नागराज, किन्नरराज, गन्धर्व, असुर, गरुड़, चक्रवर्ती, मण्डलाधीश एवं इतर इन्द्र. घेरे हुए हैं, जो सबकी हित-भावना समान रूप से करते हैं, इन सब विशिष्टताओं से युक्त है यह–सद्धर्मपुण्डरीक ग्रन्थ।

14

बौद्ध-परम्परा में आचार्य नागार्जुन के संस्कृत कोश 'धर्मसंग्रह' का महत्त्व

डॉ. विकास सिंह
असिस्टैण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
जाकिर हुसैन दिल्ली कालेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय
एम.ए., एम.फिल., पीएच.डी. (संस्कृत),
पालि कोर्स (जे.एन.यू.)
एम.ए. (अनुवाद अध्ययन) इग्नू
मंगोलियन सर्टिफिकेट एवं डिप्लोमा कोर्स (कोरियन अध्ययन केन्द्र, जे.एन.यू.)
ई-मेल-vikas.sing.gautam@gmail.com, मो.-9711570933

बौद्ध धर्म-दर्शन की एक सुदीर्घ परम्परा है। पालि, मिश्रित-संस्कृत और विशुद्ध संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं में साहित्य की उपलब्धता के साथ-साथ दुनिया की लगभग प्रत्येक भाषा में भी बौद्ध धर्म-दर्शन का लिखित साहित्य मिलता है। गौतम बुद्ध द्वारा सारनाथ में प्रवर्तित किये गये धर्मचक्र की गतिशीलता को परवर्ती बौद्ध साहित्यकारों, दार्शनिकों, वैयाकरणों व कोशकारों आदि ने नानाविध ग्रन्थ लिखकर दिक्-दिगान्तर तक पहुँचाया। किसी भी साहित्य की रीढ़ व्याकरण और कोश को माना जाता है। एक कहावत संस्कृत में प्रसिद्ध भी है–

'अवैयाकरणस्त्वन्धो बधिरः कोशवर्जितः'

अर्थात् व्याकरण और कोश के अध्ययन से रहित मनुष्य क्रमशः अंधा और बहरा होता है। व्याकरण जहाँ भाषा की आंतरिक संरचना को समझने और सुगम बनाने का कार्य करता है, वहीं कोश भाषा को समृद्ध बनाता है। संस्कृत में कोशों के अध्ययन में अमरसिंह विरचित 'अमरकोश' को निर्धारक माना जाता है। इसे केन्द्रीय आधार मानकर संस्कृत कोशों को ऐतिहासिक परंपरा में तीन कालखण्डों में विभाजित किया जाता है–

1. अमरकोश-पूर्ववर्ती संस्कृत-कोश,
2. अमरकोश काल और
3. अमरकोश-परवर्ती संस्कृत-कोश।

कात्यायन, वररुचि, भागुरि, रंतिदेव, रसभपाल आदि को अमरकोश से पूर्ववर्ती कोशकार माना जाता है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी में रचित 'अमरकोश' भारतीय कोशों के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण

रचना स्वीकार की जाती है। अमरकोश के परवर्ती संस्कृत में कोशों की अनेक विधाएं प्रचलित हुईं, किन्तु अधिकतर कोशों पर अमरकोश का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है।

तिब्बत और चीन के अनेक विद्वानों ने नागार्जुन के जीवन-काल को बुद्धपरिनिर्वाण के 300, 600 या 800 वर्ष बाद बताया है।[1] राधाकृष्णन[2] ने जहाँ नागार्जुन का समय प्रथम शताब्दी ईस्वी माना है, वहीं कीथ[3] ने द्वितीय शताब्दी ईस्वी स्वीकार किया है। रामशंकर त्रिपाठी ने नागार्जुन का समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ईस्वी प्रथम-द्वितीय शताब्दी के मध्य स्वीकार किया है।[4] अतः आचार्य नागार्जुन विरचित धर्मसंग्रह को अमरकोश से पूर्ववर्ती कालखण्ड में रखा जा सकता है।

आचार्य नागार्जुन और धर्मसंग्रह–

गौतम बुद्ध द्वारा उपदेशित मध्यम मार्ग की तार्किक एवं सुनियोजित विवेचना आचार्य नागार्जुन ने स्वग्रन्थों में की है। नागार्जुन ने तत्त्वविवेचन में शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद के दोनों एकांगी मतों का परिहार कर मध्यम मत का ग्रहण करते हुये, बौद्ध दर्शन परम्परा में माध्यमिक सम्प्रदाय की आधारशिला रखी।

आचार्य नागार्जुन द्वारा लिखे गये अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनमें से माध्यमिक दर्शन के प्रतिष्ठापक के रूप में उनका ख्याति-प्राप्त ग्रन्थ 'माध्यमिककारिका' है। इसके अलावा नागार्जुन ने इसकी टीका अकुतोभया तथा अन्य विग्रहव्यावर्तनी, प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, शून्यतासप्तति, उपायहृदय, भवसंक्रान्तिशास्त्र, महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, वैदल्यसूत्र, सुहृल्लेख, शालिस्तम्बसूत्रव्याख्या तथा रत्नावली आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया; जिनमें माध्यमिक दर्शन के साथ-साथ बौद्ध आचार-व्यवहार का चित्रण किया गया है। इनमें माध्यमिककारिका को शरीर स्थानीय तथा अन्य ग्रन्थों को उसके अवयव या पूरक के रूप में परिगणित किया जाता है।

तथागत बुद्ध के द्वारा विभिन्न अवसरों पर उपदेशित शिक्षाओं या धर्मों की संख्या 84,000 स्वीकार की जाती हैं, जिन पर सम्राट् अशोक ने 84,000 स्तूपों का निर्माण करवाया था। आचार्य नागार्जुन ने गौतम बुद्ध की शिक्षाओं में से 140 धर्मों का संग्रह अपने ग्रन्थ 'धर्मसंग्रह' में किया है। आचार्य नागार्जुन द्वारा रचित यह संग्रह-ग्रन्थ वस्तुतः एक कोश-ग्रन्थ है; जिसमें 140 पारिभाषिक शब्दों जैसे रत्नत्रय, यानत्रय, पाँच बुद्ध, चार देवियाँ, चार लोकपाल, आठ बोधिसत्त्व, सप्तविध अनुत्तरपूजा आदि का संकलन है; जिसमें महायानी बौद्धधर्म की लगभग समस्त शब्दावली समाविष्ट हो जाती है। इस ग्रन्थ को समग्र बौद्ध धर्म-दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली का संग्रह अथवा कोश कहा जा सकता है।

जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि धर्मसंग्रह में गौतम बुद्ध प्रतिपादित 140 धर्मों का संग्रह है, जो बौद्ध धर्म के पारिभाषिक शब्द हैं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या धर्मसंग्रह को कोश ग्रन्थ माना जा सकता है?

अंग्रेजी में कोश के लिए 'डिक्शनरी' शब्द प्रयोग किया जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ कहे गए या बोले गए शब्दों का संग्रह होता है। 'एन्साइक्लोपिडिया ऑफ ब्रिटानिका' के अनुसार, 'कोश एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें किसी भाषा के शब्द और उनके अर्थ या तो उसी भाषा में या किसी दूसरी भाषा में,

1. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, I, पृ. 654
2. भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ. 527
3. Buddhist Philosophy in India and Ceylon, p. 229
4. बौद्ध दर्शन प्रस्थान, पृ. 310

सामान्यतः वर्णानुक्रम में प्रस्तुत किए जाते हैं और प्रायः शब्दों के उच्चारण, उनकी व्युत्पत्ति एवं प्रयोग का विवरण भी उसमें रहता है।' वैसे कोश की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। भारतीय विद्वान् भोलानाथ तिवारी के अनुसार, 'कोश ऐसे सन्दर्भ ग्रन्थ को कहते हैं; जिसमें भाषा विशेष के शब्दादि का संग्रह हो और संग्रह के साथ उनके उसी या दूसरी भाषाओं में अर्थ, पर्याय, विलोम, प्रयोग आदि दिए गए हों, विशिष्ट अथवा विभिन्न विषयों की व्याख्या, नामों (स्थान, व्यक्ति आदि) का परिचय या कथनों आदि का संकलन क्रमबद्ध रूप में हो।'

पारिभाषिक शब्द से आशय ऐसे शब्दों से होता है, जो सामान्य व्यवहार की भाषा के शब्द न होकर ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के विशिष्ट शब्द होते हैं और जिनकी अर्थ सीमा सुनिश्चित और परिभाषित होती है। क्षेत्र-विशेष में इन शब्दों का विशिष्ट अर्थ होता है। इस विवेचन के आधार पर धर्मसंग्रह को ऐसा कोश स्वीकार किया जा सकता है, जो बौद्ध धर्म के विशिष्ट 140 पारिभाषिक शब्दों का संकलन है।

धर्मसंग्रह के उपलब्ध विभिन्न संस्करण और अनुवाद–

धर्मसंग्रह की मूल संस्कृत भाषा की पाण्डुलिपियों की उपलब्धता ने इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता और प्रकाशन में ज्यादा कठिनाई दृष्टिगत नहीं होती। इसका सर्वप्रथम सम्पादन और प्रकाशन मैक्समूलर के शिष्य केन्जिउ कसवारा ने 1885 में किया, जिसे तैयार करने के लिए उन्होंने चार पाण्डुलिपियों की सहायता ली। इसका दूसरा प्रकाशन भारत में 1961 में मिथिला से देवनागरी में किया गया, जिसे संपादित पी. एल. वैद्य ने 'महायान-सूत्र-संग्रहः' नामक ग्रन्थ में किया। उन्होंने केन्जिउ कसवारा के ग्रन्थ को ही आधार बनाया था।

उपर्युक्त दोनों संस्करणों को ध्यान में रखते हुए 1988 में आचार्य ग्यात्सेन नामडोल ने केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ से धर्मसंग्रह का क्रिटीकल संस्करण प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ का नवीनतम संस्करण 1993 में केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित हुआ था, जिसके मुख्य सम्पादक प्रो. गेशे नगवांग सेम्टेन हैं। 1998 में तिब्बती, अंग्रेजी और संस्कृत शब्दकोशों के आधार पर इसका अंग्रेजी अनुवाद तशी जान्मो और देचेन छिमे ने किया केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ ने प्रकाशित किया।

धर्मसंग्रह की विषय वस्तु का विवेचन–

धर्मसंग्रह ग्रन्थ का आरम्भ आचार्य नागार्जुन ने इस कारिका से किया है–

रत्नत्रयं नमस्कृत्य सर्वसत्त्वहितोदयम्।
कथ्यते मोहनाशाय धर्मसारसमुच्चयः॥[5]

अर्थात् सभी सत्त्वों के हितार्थ, उनके मोह नाश के लिए बुद्ध, धम्म व संघ–इन तीनों रत्नों को नमस्कार करके धर्मसार-समुच्चय लिख रहा हूँ। तथागत बुद्ध प्रतिपादित जो धर्म का सार है, उसका समुच्चय अर्थात् संग्रह।

इसके पश्चात् नागार्जुन ने 'त्रीणि रत्नानि से लेकर 'तिस्रः शिक्षाः' तक के 140 पारिभाषिक शब्दों की सूची दी है; जिसमें क्रमशः तीन रत्न, तीन यान पाँच बुद्ध, चार देवियाँ, पाँच रक्षक, सात तथागत, चार लोकपाल, आठ लोकपाल, दस लोकपाल, चौदह लोकपाल, दस क्रोध, आठ बोधिसत्त्व, छः योगिनी, सप्तविध अनुत्तरपूजा, तीन कुशल-मूल, चार ब्रह्म-विहार, छः पारमिता, दश पारमिता, चार संग्रह वस्तुएँ,

5. धर्मसंग्रहः, पृ.1

पाँच अभिज्ञा, चार आर्यसत्य, पाँच स्कन्ध, लोकोत्तर पाँच स्कन्ध, बारह आयतन, अठारह धातु, ग्यारह रूपस्कन्ध, तीन वेदनाएँ, संज्ञास्कन्ध, दो संस्कार, चालीस चित्तसंप्रयुक्तसंस्कार, तेरह चित्तविप्रयुक्तसंस्कार, तीन संस्कृत, छः विषय, बीस रूपविषयस्वभाव, अट्ठाईस शब्द, छः रस, चार गन्ध, ग्यारह स्प्रष्टव्य, पाँच महाभूत, पाँच भौतिक, बीस शून्यता, बारह प्रतीत्यसमुत्पाद के अंग, तिहत्तर बोधिपाक्षिक धर्म, चार स्मृत्युपस्थान, चार सम्यक्प्रहाण, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच बल, सात बोध्यंग, आर्य अष्टांगिकमार्ग, चार प्रतिसंविदा, चार धारणा, चार प्रतिशरण, छः अनुस्मृति, चार धर्मपद, दस अकुशल, छः गति, छः धातुएँ, आठ विमोक्ष, पाँच आनन्तर्य, आठ लोकधर्म, नौ प्रवचन अंग, बारह धूतगुण, दस भूमियाँ, तेरह भूमि, पाँच चक्षु, छः क्लेश, पाँच दृष्टि, चौबीस उपक्लेश, पाँच आहार, पाँच भय, चार ध्यान, तीन विमोक्ष, बोधिसत्त्व के दस वश, बोधिसत्त्व के दस बल, तथागत के दस बल, चार वैशारद्य, पाँच मात्सर्य, अठारह अवेणिक बुद्धधर्म, चार मार, चार श्रद्धांग, नौ अनुपूर्वसमाधिसमापत्ति, बत्तीस लक्षण, अस्सी अनुव्यंजन, चक्रवर्ती के सात रत्न, तीन अध्वान, चार कल्प, चार युग, दो लोक, चार योनि, पाँच कषाय, तीन सत्त्वाध्य, दस ज्ञान, पाँच ज्ञान, दो सत्य, चार आर्यसत्यों में सोलह क्षान्तिज्ञानलक्षण, दुःख सत्य में चार आकार, समुदय सत्य में चार आकार, निरोध सत्य में चार आकार, मार्गसत्य में चार आकार, चार समाधि, आठ पुद्गल, आठ प्रतिपुद्गल, धर्मचक्र प्रवर्तन के बारह आकार, तीन दान, तीन शील, तीन क्षान्ति, तीन वीर्य, तीन ध्यान, तीन प्रज्ञा, तीन उपाय, तीन प्रणिधान, तीन बल, तीन ज्ञान, दो आवरण, दो नैरात्म्य, दो सम्भार, समाधि के छः आवरण, प्रतिपत्ति के आठ प्रहाणसंस्कार, चार द्वीप, आठ उष्ण नरक, आठ शीत नरक, सात पाताल, दो चक्रवाल, आठ पर्वत, सात सागर, छः कामावचर देव, अठारह रूपावचर देव, चार अरूपावचर देव, तीन आलंघन, तीन महामैत्री, तीन कर्म, तीन प्रातिहार्य, आठ अवक्षण, तीन विकल्प, चार समाधि, चौदह अव्याकृत वस्तु, तीन कुशलमूल, तीन अकुशलमूल और तीस शिक्षाएं संकलित हैं।

ग्रन्थ के अन्त में, 'इति नागार्जुनपादविरचितोऽयं धर्मसंग्रहः समाप्तः'[6] पंक्ति से इस ग्रन्थ के नागार्जुन प्रणीत होने और धर्मसंग्रह नामकरण होने की सिद्धि हो जाती है।

बौद्ध परम्परा में धर्मसंग्रह का महत्त्व–

शास्त्रों में प्रयुक्त शब्दों का अपना महत्त्व होता है। व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य में कहा गया है -

'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः
सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।'[7]

अर्थात् एक भी शब्द या वर्ण का सम्यक ज्ञान तथा शास्त्रों का विधि विधानानुसार प्रयोग हो, तो इहलोक एवं परलोक में सभी कामनाओं की पूर्ति होती है एवं अर्थ-सिद्धि होती है। अर्थ-रहित शब्द की कल्पना नहीं की जा सकती, जहाँ अर्थहीन शब्द की सत्ता को निरर्थक कहा जाता है, वहीं शब्द के अभाव में किसी अर्थ या आशय का व्यक्त हो पाना असम्भव है। अतः 'शब्द' कोश के शरीर के समान होते हैं और 'अर्थ एवं व्याख्याएँ' उसके प्राण के समान होते हैं।

भारत में प्राचीन-काल से ही ज्ञान की हर शाखा के लिए शब्दकोशों को आवश्यक एवं अनुपम ग्रन्थ माना गया है। भाषा में वैचित्र्य व काव्यत्व लाने के लिए साहित्यकार अथवा कवियों द्वारा कोशों की सहायता ली जाती रही है।

6. धर्मसंग्रहः, पृ. 93
7. महाभाष्य, 6/1/84

संस्कृत में इस सन्दर्भ में एक श्लोक प्रसिद्ध है–

'कोशश्चैव महीपानां कोशश्च विदुषामपि।
उपयोगी महान्येष क्लेशस्तेन विना भवेत्॥'

अर्थात् जिस प्रकार राजा को कोश (धन) की आवश्यकता होती है, वैसे ही विद्वानों को शब्दकोश की। राजा धन के बिना और विद्वान् शब्दकोश के बिना भारी संकट में फँस सकते हैं। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार राजा कोश के अभाव में प्रजा-उत्पादन एवं प्रजा-रक्षण में असमर्थ रहता है, ठीक उसी प्रकार विद्वान् (कवि) कोश के अभाव में काव्य की रचना करने में असमर्थ रहता है। तद्यथा–

'नरभूपो विना कोषं प्रजोत्पादनरक्षयोः।
नैव क्षमौ यथा, तद्वत् कविः काव्याकृतावपि'।।

आधुनिक समय में विज्ञान के माध्यम से संसार में हो रहे तीव्र परिवर्तनों के समकक्ष जहाँ एक तरफ कोशों का महत्त्व भाषा के माध्यम से विभिन्न प्राचीन भाषा-समाजों से जुड़ी सांस्कृतिक पहचान और अस्तित्व को सुरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण माना जाता है, वहीं जीवन में विकसित हो रहे नित्य-नये सन्दर्भों के लिए भाषा में शब्द गढ़ने में कोशों का योगदान अप्रतिम है।

नागार्जुन प्रणीत धर्मसंग्रह नामक कोश आज बहुत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध साहित्य पालि व संस्कृत सहित दुनिया की प्रत्येक भाषा में मूल व अनूदित किया जा चुका है। ऐसे में बौद्ध पारिभाषिक शब्दावली के चयन और ईक्षण के लिए यह कोश प्रासंगिक है। धर्मसंग्रह कोश के माध्यम से आज बौद्ध धर्म सम्बन्धी प्रामाणिक शब्दावली, बौद्ध शब्दों की सटीक जानकारी, बौद्ध संकल्पनाओं के अनुसार शब्दों के चयन का कार्य सुगम हो जाता है।

अधिकांश विद्वानों का मानना है कि भाषा सीखने, तुलनात्मक अध्ययन करने एवं शोध कार्यों में भी कोश महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। धर्मसंग्रह से भी शब्दों के लिंग तथा वचन निर्धारण को आसानी से सीखा जा सकता है। थेरवाद और महायान दोनों के शब्दों का संकलन इस कोश में प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए छः पारमिताओं तथा दस पारमिताओं की चर्चा। महायान में जहाँ दानपारमिता, शीलपारमिता, क्षान्तिपारमिता, वीर्यपारमिता, ध्यानपारमिता व प्रज्ञापारमिता ये छः पारमिताएं स्वीकार की जाती हैं, वहीं थेरवाद में इन छः सहित उपायपारमिता, प्रणिधिपारमिता, बलपारमिता, ज्ञानपारमिता मानी जाती हैं।[8]

अतः विवेचनोपरान्त यह कहा जा सकता है कि आचार्य नागार्जुन प्रणीत यह धर्मसंग्रह नामक कोश आधुनिक जीवन में बौद्ध शिक्षा से जुड़े विद्यार्थियों, शोधार्थियों, अध्यापकों और भाषा सीखने वालों के लिए आवश्यक सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में उपयोगी है।

8. 17. षट् पारमिताःदानपारमिता, शीलपारमिता, क्षान्तिपारमिता, वीर्यपारमिता, ध्यानपारमिता, प्रज्ञापारमिता चेति॥
18. दश पारमिताःषट्पारमितासकलम्, उपायम्, प्रणिधिः, बलम्, ज्ञानं चेति॥ धर्मसंग्रह, पृ. 10-11

सन्दर्भ ग्रन्थ

अभिमन्यु, श्रीमन्नालाल (सं.) अमरकोश, अमरसिंह, वाराणसी : चौखम्बा ओरिएण्टल, 2008.

उपाध्याय, भरतसिंह, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (दो भाग), दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1996.

जांग्मो, तशी एवं देचेन चीमे (अनु.) धर्मसंग्रहः, नागार्जुन, सारनाथ : केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, 2013.

त्रिपाठी, रामशंकर, बौद्ध दर्शन प्रस्थान (बौ.द.प्र.), सारनाथ : केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 1997.

राधाकृष्णन,भारतीय दर्शन, अनुवादक–नन्दकिशोर गोभिल, दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज, 2012.

Encyclopedia Britannica (Vols.-II, VIII, XXI), Helen Hemingway Publication, Benton, 15th Edition, 1973-74.

Hornby, A.S., *Oxford Advanced Learner's Dictionary of Current English,* Oxford University Press, London, 2005.

Keith, A.B. *Buddhist Philosophy in India and Ceylon.* Oxford: Clerendon Press, 1923.

Nyantiloka, *Buddhist Dictionary,* Singapur Buddhist Meditation Centre, Singapore, 1946, reprint from The Corporate Body of the Buddha Educational Foundation, Taiwan, Third Edition, 1970.

Shastri, B. (ed.), *Patanjalam Mahabhashyam,* Varanasi: Vanivilasa Prakashana, 1987.

Upasak, C.S., *Dictionary of Early Buddhist Monastic terms,* Bharati Prakashan, Varanasi, First Edition, 1975.

15

बोधिचर्यावतार में पारमिताओं का निरूपण

भिक्षु शान्ता कुमार नेगी
शोधछात्र
केन्द्रीय-बौद्ध-विद्या-संस्थान, लेह, लद्दाख
e-mail-sknegi79@gmail.com

सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत्।
अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम्॥

आचार्य शान्तिदेव विरचित 'बोधिचर्यावतार' बौद्धधर्म की महायान शाखा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि बौद्ध दर्शन का सम्पूर्ण ज्ञान 'त्रिपिटक' में ही समाहित है, परन्तु उसके प्रमुख तत्त्वों को 'बोधिचर्यावतार' के माध्यम से भलीभांति सरलता के साथ आत्मसात किया जा सकता है। निश्चय ही आज हम इक्कीसवीं सदी के एक ऐसे युग में जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जहाँ विज्ञान और तकनीकी रूप का बहुत विकास हो चुका है। इससे हमारा जीवन सरल और सुख सुविधाओं से सम्पन्न है, फिर भी लोग चिन्तित,दुःखी और अशान्त हैं। आचार्य शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार में कहा है–

दुःखमेव अभिधावन्ति दुःखं निःसरण आशयाः।
सुखेच्छयैव सम्मोहात् स्वसुखं घ्नन्ति शत्रुवत्॥[1]

संसार में ऐसा कोई भी एक प्राणी नहीं होगा जो सुख नहीं चाहता हो, और दुःख को दूर करने की चेष्टा नहीं करता हो। मनुष्य हो या समस्त पशु-पक्षियों, अर्थात् समस्त प्राणी सुख के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उन्हें सच्चा सुख नहीं मिल पाता। वास्तविक सुख की चाह मन में रहते हुये भी, उपाय सही नहीं होने के कारण, सम्यक् सुख उससे कोसों दूर भाग जाता है। जैसे फतिंगे अग्नि की लपट की ओर दौडते हैं। इसलिए हम भी फतिंगे के तरह तृष्णा के वश मे अज्ञान के कारण शत्रु के समान अपने सुख का ही हनन करते हैं। दुःख की व्याख्या करते समय तथागत बुद्ध का कथन है–

"इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्चं। जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोक-परिदेव-दोमनस्सुपाया सापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेपि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि 'दुक्खं' संखित्तेन पंच-उपादान-स्कन्धापि दुक्खा।"

1. बोधिचर्यावतार, 1.28

अर्थात् 'हे! भिक्षुओं दुःख प्रथम आर्यसत्य है। जन्म भी दुःख है। वृद्धा अवस्था भी दुःख है। मरण भी दुःख है। शोक, परिवेदना, दौर्मनस्य, उदासीनता सब दुःख है। अप्रिय वस्तु के साथ समागम दुःख है, प्रिय के साथ वियोग भी दुःख है। इच्छित वस्तु का न मिलना भी दुःख है। संक्षेप में कह सकते हैं कि राग के द्वारा उत्पन्न पाँचों स्कन्धादि दुःख है।

परन्तु समस्त प्राणियों के समस्त दुःखों को हटाना और उन्हें सभी प्रकार के लौकिक और लोकोत्तर सुखों से लाभ पहुँचाना बोधिसत्त्वों का परम उद्देश्य है। इसके लिए बोधिसत्त्व संसार का त्याग नहीं करता, अपितु संसार के दोषों से लिप्त न होते हुए समाज के बीच में रहता है। दुःखी और अभावग्रस्त लोगों की सेवा करता है और बुद्धत्व की प्राप्ति ही बोधिसत्त्वों का परम पुरुषार्थ या अन्तिम लक्ष्य है। बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम बोधिचित्त का उत्पाद अत्यन्त जरुरी होता है। इसके लिए दुःख का संवेदन अर्थात् अपने दुःख के समान दूसरों के दुःख को भी समझना जरुरी है। उस दुःख को हटाने का भार मैं स्वयं वहन करुंगा और उसके लिए बुद्धत्व प्राप्त करुंगा- इस प्रकार के अकृत्रिम चित्त या आशय का उत्पाद 'बोधिचित्त' कहलाता है। इस चित्त के उत्पाद के साथ व्यक्ति 'बोधिसत्त्व' कहलाता है।

महायान ग्रन्थों में बोधिचर्यावतार का स्थान अत्यन्त उत्कृष्ट एवं अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रमुख विषय पृथग्जन से लेकर बोधिसत्त्व अर्थात् बुद्धत्व पर्यन्त चर्यापक्ष है। इसमें कुल दस परिच्छेद है। दान-पारमिता के अन्तर्गत बोधिचित्तानुशंसा, पापदेशना तथा बोधिचित्तपरिग्रह परिच्छेद में निहित है। बोधिचित्त-अप्रमाद एवं संप्रजन्यरक्षण इन दो परिच्छेदों में शील पारमिता सन्निविष्ट है। शेष शान्तिपारमिता, वीर्यपारमिता, ध्यानपारमिता और प्रज्ञापारमिताओं के एक-एक परिच्छेद हैं। इन छः पारमिताओं में छठवीं प्रज्ञापारमिता ही 'प्रज्ञा' है तथा शेष पाँच पारमिताएँ 'पुण्य' कहलाती हैं। इन पाँचों को एक शब्द द्वारा 'करुणा' भी कहते हैं। प्रज्ञा और करुणा ये दोनों बुद्धत्व प्राप्ति के उत्तम उपाय हैं।

ग्रन्थकार का आशय यह है कि व्यक्ति स्वयं का दुःख दूर करना हो या दूसरों अर्थात् समस्त प्राणिमात्र का दुःख दूर करना हो बोधिचित्त उत्पाद किये बिना सम्भव नही है। संक्षेप में तीनों लोकों के समस्त प्राणियों के दुःख मिटाने के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने की अकृत्रिम इच्छा ही 'बोधिचित्त' है।

बोधिचित्त के दो भेद है, यथा संवृत्ति-बोधिचित्त और परमार्थ-बोधिचित्त है। संवृत्ति-बोधिचित्त के भी दो भेद है-बोधिचित्त का भेद दिखलाते हुए आचार्य कहते हैं-

तद् बोधिचित्तं द्विविधं विज्ञातव्यं समासतः।
बोधिप्रणिधिचित्तं च बोधिप्रस्थानमेव च॥[2]

बोधिप्रणिधिचित्त- यह वह चित्त है, जो अभी छः पारमिताओं की साधना में प्रवृत्त नहीं हुआ है, अपितु अभिलाषा मात्र चित्त है। सम्यक्-संबोधि की अकृत्रिम अभिलाषा ही बोधिप्रणिधिचित्त कहलाता है।

बोधिप्रस्थानचित्त- यह वह चित्त है, जो बोधिप्रणिधिचित्त के बाद बोधिसत्त्वसंवर ग्रहण करके पुण्यसम्भार और ज्ञानसम्भार के अर्जन में प्रवृत हो गया हो। अर्थात् बोधि के मार्ग पर आरूढ़ हो चुका हो और निरन्तर अभ्यास से उस निर्विकल्प ज्ञान की प्राप्ति होती है जो क्लेशों का प्रतिपक्ष होता है।

संसार के विभिन्न दुःखों के दर्शन से तथागत सम्यक्-संबुद्ध में सर्वप्रथम महाकरुणा का उत्पाद हुआ। तदनन्तर उस महाकरुणा से प्रेरित होने की वजह से 'मैं इन समस्त दुःखी प्राणियों को दुःख से मुक्त करने और उन्हें सुख से अन्वित करने का भार अपने कन्धों पर लेता हूं और इसके लिए बुद्धत्व प्राप्त करूंगा'– इस प्रकार का उनमें बोधिचित्त उत्पन्न हुआ। इसके बाद उन्होंने अनन्त काल तक अनेक

2. बोधिचर्यावतार, 1.20

जन्मों में छह या दस पारमिताओं की साधना द्वारा अनन्त पुण्य और ज्ञानसम्भार का अर्जन किया। उन पुण्य और ज्ञान सम्भारों द्वारा उन्होंने समस्त क्लेश और ज्ञेयावरणों का समूल प्रहाण कर सम्यक् सम्बुद्धत्व प्राप्त किया। तदनन्तर विभिन्न रुचि, अध्याशय, इन्द्रिय और क्षमता वाले विनेयजनों के कल्याण के लिए उपायकुशल तथागत बुद्ध ने उनकी पात्रता के अनुसार विभिन्न प्रकार की देशनाएँ और विभिन्न प्रकार के धर्मचक्रों का प्रवर्तन किया है।

तथागत बुद्ध ने मध्यम-मार्ग का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार, 'दो अन्तों को छोड़कर मध्यम प्रतिप्रदा पर आरुढ़ होकर दुःखों का अन्त किया जा सकता है।' इसलिए जो दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला है, वह मार्ग सत्य कहलाता है। दो अन्त अर्थात् एक जो काम भोग का जीवन है, उसे हीन अशिष्ट तथा अनर्थकर कहा गया है और दूसरे शरीर को व्यर्थ क्लेश देने का दुःखमय अनर्थ जीवन है। इन दो अन्तों को छोड़कर जो मध्यम मार्ग का उपदेश बुद्ध ने दिया वही आर्य अष्टांगिक मार्ग दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला है।

अर्थात् संक्षेपतः त्रिकायात्मक बुद्धत्व की प्राप्ति, बिना इन पारमिताओं के सम्भव नहीं है। धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय–ये तीन काय हैं। बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ इन तीन कायों की प्राप्ति होती है। महायान के पारमितानय के अनुसार अभ्यास द्वारा प्रज्ञा विकसित होते हुए अन्त में बुद्ध के ज्ञान धर्मकाय के रूप में परिणत हो जाती है। किन्तु सम्भोगकाय और निर्माणकायों की प्राप्ति पुण्य अर्थात् शेष पाँच पारमिताओं के बल से ही होती है। इसीलिए बोधिसत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त ज्ञानसम्भार और पुण्यसम्भारों का अर्जन करता है।

उपर्युक्त जितने भी कार्य सम्पन्न हेतु त्रिकोटिपरिशुद्धता के बिना सम्भव नहीं है। अर्थात् उदाहरणार्थ दानपारमिता की भावना के अवसर पर प्रज्ञा द्वारा देय वस्तु, दाता और प्रतिग्राहक तीनों वस्तुओं को जब शून्य समझकर ही दान किये जाने पर उसे त्रिकोटिपरिशुद्ध दान कहा जायेगा। अतः त्रिकोटिपरिशुद्ध होने पर ही दान दानपारमिता होता है और वही दानपारमिता बुद्धत्व की ओर प्राप्त कराने वाली होती है।

छः पारमिताओं को अपने जीवन में बहुत उपयोगी भूमिका निभाते हैं। इन पारमिताओं को हम अपने जीवन में उतारकर समाज में सुखमय जीवन का कारण बन सकते हैं। यह पारमिताएँ मात्र पुस्तक में लिखी गई नीति नहीं वरन इन्हें जीवन में उतार कर आत्मसात किया जाना चाहिए।

परिणामना–

इन पुण्यों से सर्वज्ञता को प्राप्त कर,
दोष रूपी शत्रुओं को पराजित करते हुए।
जन्म, वृद्ध, रोग एवं मृत्यु की अशान्त तरंगों से पूर्ण,
संसार सागर से प्राणी मुक्त हों॥

सन्दर्भ-ग्रन्थावली

1. बोधिचर्यावतार, रामशंकर त्रिपाठी, 1989, केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, चोगलमसर, लेह, लद्दाख।

2. तथागत बुद्ध और उनका धर्म, केशव प्रसाद शाह, 2011, केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, लेह, लद्दाख।

3. बौद्ध दर्शन प्रस्थान, रामशङ्कर त्रिपाठी, 1997, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी।

4. बुद्धिष्ट फॉउडेशन ओफ माईन्ड फुलनेस, शोनिन ई; वेन गोरडन; व; न.न., 2015, पृष्ट 365।

5. बोधिचर्यावतार, डा. परमानन्द सिंह, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 1993।

16

बोधिचर्यावतार में साहित्यशास्त्रीय तत्त्व

डॉ. शैलेन्द्रनारायण कोटियाल
प्रधानाचार्य,
श्रीरघुनाथ कीर्ति आदर्श संस्कृत महाविद्यालय,
देवप्रयाग (उत्तराखण्ड)

बौद्धधर्म भगवान तथागत के जीवनदर्शन से गतिमान होता हुआ वर्तमान में मानवधर्म के रूप में समादृत और प्रतिष्ठित है। इसके आरम्भकाल में कुछ अनुयायियों ने भगवान बुद्ध को एक समाधिस्थ योगी के रूप में मानते हुए, उन्हें एक अन्तर्मुखी व्यक्तित्त्व का व्यष्टिमय जीवन चर्या वाला महापुरुष माना। प्रियदर्शी अशोक की धर्मलिपियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं। इसके अनुसार भगवान् बुद्ध अनेक विभूतियों से विलक्षण और असाधारण व्यक्तित्त्व सम्पन्न मानव थे, देवता नहीं।[1]

बुद्ध के जीवन का दूसरा पक्ष 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' पर आधारित था। यहाँ 'बहुजन' का तात्पर्य है अधिकाधिक लोगों का हित-सुख। अतः यह उनके जीवन का समष्टि पक्ष कहा जाता है। इनके जीवन-दर्शन का यह पक्ष सभी प्राणियों की दुःख-निवृत्ति करने की भावना से संवलित माना गया है।

बुद्ध के इन व्यष्टि एवं समष्टि जीवनादर्शों का प्रभाव दूर-दूर तक दिखायी दिया। उनके अन्तर्मुखी व्यक्तित्त्व का प्रभाव थाईलैण्ड, श्रीलंका, बर्मा आदि देशों पर गहराई से पड़ा, और इस परम्परा का विकास भी वहाँ पर प्रचुर मात्र में हुआ। दूसरी ओर बुद्ध की बहिर्मुखी समष्टि परम्परा के प्रवाह ने भी जोर पकड़ा, और चीन, जापान, तिब्बत, कोरिया इत्यादि देशों में यह लोकप्रिय हो गया।[2]

मौर्यवंश के सम्राट अशोक बौद्धधर्म के प्रधान अनुयायी और आश्रयदाता रहे। वास्तव में सम्राट् अशोक ने कलिंग विजय की रक्त-रंजित विभीषिका को देखकर राज्यसुख की लिप्सा से मुँह मोड़ दिया। मानवता के प्रति संहार एवं क्रूरता से विरत सहज-कारुण्य से सम्राट् द्रवीभूत हो गया। बौद्धधर्म से अत्यन्त प्रभावित अशोक ने सर्वजनहिताय भाव को आत्मसात् कर दिया, यह बात उनके 13वें अभिलेख से ज्ञात होती है। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य का वह महान् शासक सम्राट् से 'प्रियदर्शी' बन गया। महान् सम्राट् अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचारार्थ अनेक धर्मप्रचारकों को सुदूर राज्य एवं देशों में भेजकर, अनेक लोक कल्याणकारी मानवतावादी कार्यों को सम्पन्न करवाया।

---

1. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, संस्करण 2012 प्रकाशक-चौखम्भा विद्याभवन, पृ. 313
2. वही, पृ.313

इसके पश्चात् कुषाणराज्य के सम्राट कनिष्क और अनेक गुप्त-राजाओं ने भी अशोक का अनुसरण करते हुए बौद्ध-परम्परा को आगे बढ़ाया। भारत के इन राजवंशों ने ब्राह्मण धर्म का अनुयायी होने पर भी बौद्धधर्म के प्रचार, प्रसार एवं अभ्युदय के लिए अविस्मरणीय कार्य किये। अजन्ता, सारनाथ, नालन्दा, धान्यकूट आदि बौद्धयुगीन कला-केन्द्र तथा नालान्दा का विश्व-प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र इत्यादि गुप्त शासकों की देन कहे जा सकते हैं।[3]

बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से विदित होता है कि सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण बौद्धधर्म अनेक शाखाओं में विभक्त हुआ। प्रियदर्शी अशोक के समय तक बौद्धधर्म 18 निकायों में विभक्त हो गया।[4] मुख्यतः बौद्धधर्म के दो सम्प्रदायों हीनयान तथा महायान के सम्बन्ध में कहा गया है, कि हीनयान सम्प्रदाय का उद्भव लगभग 600ई.पू हो चुका था। डा. केर्न के मतानुसार बौद्ध-ग्रन्थों में पाया जाता है कि शक सम्राट कनिष्क के शासन-काल में भिक्षुओं की एक परिशद हुई थी, उसमें भी महायान सम्प्रदाय के आचार्य उपस्थित थे। इससे यह बात सिद्ध होती है कि महायान सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा शालिवाहन शक के लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी।[5] लोकमान्य तिलक महायान का अभ्युदय इससे भी पूर्व मानते हैं। उनके अनुसार 230ई.पू. अशोक के लेखों में संन्यास प्रधान, निरीश्वर वादी बौद्धधर्म को कोई स्थान नहीं दिया गया है। उनमें सभी प्राणियों पर करुणा, करने वाले प्रवृत्ति-प्रधान बौद्धधर्म की ही प्रमुखता दिखायी देती है। ये प्रवृत्ति-प्रधान विचार महायान सम्प्रदाय के ही थे।[6]

इस प्रकार इन दोनों शाखाओं के सैद्धान्तिक भेद के कारण मान्यताऐं पृयक-पृयक चलती रहीं। विश्व में महायान लोकप्रिय हुआ। डा. राधाकृष्णन के अनुसार बुद्ध निर्वाण के तीन चार शताब्दी के बाद, महायान पन्थ के बौद्धों ने बुद्ध को मनुष्य के भाग्य का शासक तथा वरदान देने वाला बताया। इसी कारण बौद्धधर्म अब भक्ति पर आधारित धर्म हो गया तथा बुद्ध के विचारों से भिन्न मुक्ति अब भक्ति एवं प्रार्थना पर आधारित बन गयी। महायान पन्थ के इस ईश्वरवादी विचार को हिन्दू धर्म ने प्रभावित किया है।[7] महायान सम्प्रदाय की लोकप्रियता का यह प्रधान कारण माना जा सकता है।

महायान सम्प्रदाय आगे चलकर दो भागों में विभक्त हुआ, इसका कारण था दार्शनिक वैमत्य। यद्यपि ये दोनों धारायें साथ-साथ चलती रही। एक धारा का नाम माध्यमिक और दूसरी का नाम योगाचार हुआ। एक ने शून्यता का प्रतिपादन किया, तो द्वितीय विचारधारा ने चित्तमात्रता का। शून्यवादी सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्यों में सर्वप्रथम नागार्जुन हुये। द्वितीय सिद्धान्त के आचार्य असंग माने जाते हैं।

आचार्य नागार्जुन के माध्यमिक सम्प्रदाय के अनुवर्ती आचार्यों में आर्यदेव, शान्तिदेव, कमलशील, शान्तरक्षित इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। शान्तिदेव का समय नागार्जुन, आर्यदेव के पश्चात् का है। पाँचवीं शती के बुद्धपालित तथा छठी शती के चन्द्रकीर्ति के भी पश्चात् शान्तिदेव का समय बताया गया है। अतः इन सभी पूर्ववर्ती आचार्यों का प्रभाव शान्तिदेव की रचनाओं पर दिखायी देता है।

---

3. वही, पृ. 341
4. बोधिचर्यावतार(अनुशीलन) सम्पा. परमानन्दसिंह, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला काशी विद्यापीठ, वाराणसी, पृ. 3
5. डा. केर्न, मैन्युअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म, पृ. 6,61,119
6. लोकमान्य तिलक, गीतारहस्य, पृ. 582,583,
7. डा. राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी, 1, पृ.583, सन्दर्भ संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 326

शान्तिदेव के जीवनवृत्त के प्रसंग में लामा तारानाथ एवं बुदोन ने माना है कि शान्तिदेव सौराष्ट्र में उत्पन्न हुए थे, वे राजकुमार थे। बुदोन ने यह स्पष्ट किया है कि इनके बाल्यकाल का नाम शान्ति वर्मा तथा इनके पिता का नाम कल्याण वर्मा था।[8]

शान्तिदेव की रचनाओं के विषय में विद्वानों का यह मत निर्विवाद है कि इनकी तीन प्रमुख रचनाएँ हैं-शिक्षा-समुच्चय, सूत्र-समुच्चय तथा बोधिचर्यावतार। स्वयं कवि शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार में शिक्षा-समुच्चय एवं सूत्र-समुच्चय का उल्लेख किया है।[9] इस आधार पर निश्चित ही यह कहा जा सकता है कि बोधिचर्यावतार इन दोनों ग्रन्थों के बाद की रचना है।

बोधिचर्या–

बुद्ध की सिद्धान्त साधना में लगे रहना बोधिचर्या कहलाता है। चर्या अर्थात् वह साधना; जिससे बुद्धत्व-प्राप्ति की जाती है। इस चर्या को विस्तृत अर्थ में बोधिचित्त ग्रहण से लेकर बुद्धत्व-प्राप्ति तक की कठोर साधना कहा जा सकता है। आप्टे ने अपने शब्दकोश में अनुष्ठान पालन, आचरण विधि, संस्कार, रीति-रिवाज, खान-पान आदि को चर्या के अर्थ में संगृहीत किया है।[10]

बुद्धभक्ति के विकास में शान्तिदेव का योगदान–

नारदभक्ति सूत्र ने परम प्रेम स्वरूप वाली अन्तःकरण वृत्ति को 'भक्ति' कहा है।[11] आचार्य शाण्डिल्य ने भी कुछ इसी प्रकार माना है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती का मत है कि चित्त जब द्रवीभूत होता है, तो भक्ति का प्राकट्य होता है, अर्थात् चित्त का पिघलना ही भक्ति है।[12] शान्तिदेव के समय तक बुद्ध भक्ति अत्याधिक प्रसारित हो चुकी थी। यहाँ तक कि स्तूप-पूजा, मूर्तिपूजा, बोधिसत्त्व तथा कल्याणमित्र पूजा, भिक्षु-पूजा आदि पद्धतियों का विकास हो चुका था। काश्मीर में लोकप्रिय नीलमत-पुराण में बुद्ध-पूजा का वर्णन कुछ इस प्रकार मिलता है–

विष्णुर्देवो जगन्नाथो प्राप्ते ब्रह्मन् कलौ युगे।
अष्टाविंशतिमे भावे बुद्धो नाम जगद्गुरुः॥
बुद्धार्चा स्थापनं कार्यं शाक्योक्तैः वचनैस्तया।
सुधासिक्ताश्च कर्तव्या शाक्यवासाः प्रयत्नतः॥

(नीलमतपुराण भाग-2 श्लोक–180,182)

---

8. बुदोन, हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म, भाग 2,पृ. 161
9. शिक्षासमुच्चयोऽवश्यं द्रष्टव्यश्च पुनः पुनः।
विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तय प्रदर्शितः॥
संक्षेपेणाथवा तावत् पश्येत्सूत्रसमुच्चयम्।
आर्यनागार्जुनाबद्धं द्वितीयं च प्रयत्नतः॥
(बोधिचर्या 5/105.106)
10. आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 375
11. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, (नारदभक्तिसूत्र 1/2)
12. द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते॥
(भक्तिरसार्णव 1/2)

शान्तिदेव के समय तक बुद्धभक्ति पर्याप्त रूप से संचरित हो चुकी थी, किन्तु मानो उसे पूर्णता का गौरव प्राप्त नहीं हो सका था. इसका श्रेय शान्तिदेव जैसे भिक्षु भक्त को ही जाता है। शान्तिदेव ने अनुत्तर पूजा के अन्तर्गत बुद्ध और बोधिसत्त्वों के आवाहन के पश्चात् वन्दन, पूजन, शरणगमन, पापदेशना, पुण्यानुमोदना, बुद्धाध्येषणा, याचना तथा बोधि-परिणामना का प्रतिपादन किया है।[13] शान्तिदेव की पूजा पद्धति में भी प्रायः श्रौत-स्मार्त उपचारों का विधान स्वीकार किया गया है। मूर्तिपूजा के अनन्तर उससे प्राप्त होने वाले पुण्य को भक्त-भिक्षु शान्तिदेव अपने भाव कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं-"मैं बोधिसत्त्वों के शरीरों की वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा वह श्रेष्ठ बोधिचित्त रूपी-रत्न उत्पन्न हुआ है। मैं उन सुख के भण्डार की शरण जाता हूँ, जिनके प्रति किया गया अपकार भी सुख ही देता है"-

तेषां शरीराणि नमस्करोमि,
यत्रोदितं तद्वरचित्तरत्नम्।
यत्रपकारोऽपि सुखानुबन्धी,
सुखाकरांस्तान् शरणं प्रयामि॥

(बोधिचर्या. 1/36)

वैदिक पद्धति के सम्प्रदायों की तरह शान्तिदेव भी मानसपूजा को विशिष्ट मानते हैं। भक्त भिक्षु शान्तिदेव अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ बोधिचर्यावतार के द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भिक कतिपय पद्यों से यह मनोपचार पूजा की स्पष्ट अभिव्यक्ति उत्कृष्ट काव्यात्मकता के साथ प्रस्तुत करते हैं। भिक्षु कवि संसार के अनुपम, अद्वितीय और सर्वोत्कृष्ट फल, पुष्प, पवित्र-जल, लता, रत्नमय पर्वत, सुगन्धित द्रव्य इत्यादि सभी दिव्य पदार्थों को श्रद्धा सहित अर्पित करते हैं।[14] अन्ततः किसी वैष्णव भक्त जैसी दास्य-भक्ति से शान्तिदेव आत्म-समर्पण अपने मार्मिक पद्यबन्ध से करते हैं-

ददामि चात्मानमहं जिनेभ्यः,
सर्वेण सर्वं च तदात्मजेभ्यः।
परिग्रहं मे कुरुताग्रसत्त्वा,
युष्मासु दासत्वमुपैमि भक्त्या॥ (बोधिचर्या. 2/8)

13. बुद्धबोधिसत्त्वानामुर्द्धीकृत्य वन्दनपूजनशरणगमनपापदेशना
पुण्यानुमोदनबुद्धाध्येषणायाचना-बोधिपरिणामनां च कुर्वन्नाह।
(बोधिचर्या. टी. पृ. 22)

14. यावन्ति पुष्पाणि फलानि चैव,
भैषज्यजातानि च यानि सन्ति।
रत्नानि यावन्ति च सन्ति लोके,
जलानि च स्वच्छमनोरमाणि॥ (बोधिचर्या. 2/2)
आदाय बुद्धया मुनिपुङ्गवेभ्यः,
निर्यातयाम्येष सपुत्रकेभ्यः।
गृह्णन्तु तन्मे वरदक्षिणीया,
महाकृपा मामनुकम्पमानाः॥ (बोधिचर्या. 2/6)

साहित्यशास्त्र के तत्त्व एवं बोधिचर्यावतार-

काव्य के उद्भव अथवा प्रणयन में कवि की संवेदनशीलता और दुःखानुभूति कहीं न कहीं अवश्य दिखायी देती है। क्रौंच पक्षी का वध देखकर उस दुःखानुभूति से (शोक से) उत्पन्न कवि वाल्मीकि का हृदय पिघल गया, और कविता की सृष्टि हो गयी।[15] कवि अथवा दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि संसार दुःख से भरा है। जीवन के दुःखों का निवारण कर उसे किस विधि से सुखमय बनाया जाय, इस पर अनेक कवि पुंगवों ने संसार की नश्वरता सिद्ध कर मोक्ष तक की पद्धतियों का प्रतिपादन किया है।

बौद्ध काव्यों के मूल में भी यही भाव दिखायी देता है। इन काव्यों में बुद्ध के दिव्य जीवन-चरित्र तथा साधना पद्धति के साथ-साथ उनके सिद्धान्तों का सरल, हृदयस्पर्शी चित्रण प्राप्त होता है।

बुद्ध का सम्पूर्ण जीवन मानवता के लिए रहा है, सबके हित के लिए समर्पित रहा है। बुद्ध शान्ति के विग्रह स्वरूप थे। बुद्ध के चरित्र से सम्बद्ध प्रायः अधिकांश काव्यों में शान्तरस का शाश्वत प्रवाह देखने को मिलता है। सामान्यतः भक्त कवियों ने अन्य काव्य रसों की अपेक्षा शान्तरस को प्रधानतया स्वीकार किया है।[16]

भिक्षु कवि शान्तिदेव प्राचीन व्यास अथवा वाल्मीकि की तरह भावमयी भाषा के सिद्ध कवि हैं। इनकी रचना सामान्यजन को भी हठात् आकृष्ट करती है, और उसके हृदय में चिरकाल तक प्रतिष्ठित हो जाती है। महाभारत एवं अन्य महापुराणों की भाषा शैली का प्रभाव शान्तिदेव की रचना पर स्पष्ट दिखायी पड़ता है। भाषा प्रयोग के विषय में बोधिचर्यावतार में बताया गया है कि बोधिसत्त्व की भाषा शान्त और विचारपूर्ण हो, पदों का विन्यास सुविचारित और अर्थ असन्दिग्ध हों, पद श्रुतिकटु दोषरहित हों, और पदों का प्रयोग कारुण्य-भाव व्यक्त करने वाला होना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि शान्तिदेव श्रीमद्भगवद्गीता के वाङ्मय तप से सधी भाषा की ही बात कहते हैं।[17] काव्य के प्रयोजन भूत-यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, अमङ्गल-क्षय, सद्यःआनन्द, ललितोपदेश[18] प्रायः बोधिचर्यावतार में घटित होते हैं। इस काव्य में यश की अपेक्षा बुद्ध की शरणागति अति-विशिष्ट है तथा अर्थ प्राप्ति की अपेक्षा परमार्थस्वरूप बुद्धत्व अधिक समीचीन लगता है। क्योंकि भिक्षु कवि अपने काव्य के प्रारम्भ में ही गोस्वामी तुलसीदास की तरह अभिव्यक्त करते हैं कि-

स्वान्तःसुखाय तुलसीरघुनाथगाथा।
भाषानिबद्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

15. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः (ध्वन्यालोक कारिका 5)
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः,
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥ (कालिदास, रघु. 14/70)

16. शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः।
(वेदान्तदेशिक, संकल्पसूर्योदय, श्लोक 1)

17. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ (गीता. 17/15)
विश्वस्त विन्यस्त पदं विस्पष्टार्थं मनोरमम्।
श्रुतिसौख्यं कृपामूलं मृदुमन्दस्वरं पठेत्॥ (बोधि. 5/79)

18. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे (मम्मटाचार्य, काव्यप्रकाश)

अर्थात् मैं अपने चित्त की प्रसन्नता हेतु ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ।[19] इससे काव्य प्रयोजन युक्ति-युक्त सिद्ध होता है।

शान्तिदेव का काव्य बोधिसत्त्व के मर्मान्त का चिन्तन और चित्रण भी है। प्रायः इस प्रकार की अभिव्यक्ति असाधारण मानी जाती है, यह सिद्ध कवि ही अपने काव्य में उकेर सकता है। इस काव्य में बोधिचर्या-परम्परा साधकों की चित्त की जिज्ञासाओं का समाधान तथा सम्पूर्ण मानव-जगत् की दुःख निवृत्ति की कविहृदय व्याकुलता निरन्तर दिखायी देती है।

शान्तिदेव की रचना कवि की लेखनी से उद्‌भव होने की अपेक्षा निष्ठावान् भिक्षु की स्वतःस्फूर्त भावना है। यही कारण है कि उनके काव्य में कविकर्मजन्य सौन्दर्य एवं घटनाओं का चित्रण नहीं मिलता है। बोधिचर्यावतार में उपमा, अर्थान्तरन्यास एवं रूपक अलंकार के प्रयोग यत्र-तत्र पाये जाते हैं।

इसी प्रकार छन्दःप्रयोग में इन्द्रवज्रा, शालिनी, पुष्पिताग्रा, वियोगिनी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित का अतीव दक्षता के साथ प्रयोग किया गया है। विशेपतः दार्शनिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति में पुराणप्रिय अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग पाया जाता है। द्वितीय परिच्छेद के उत्तरार्ध, तृतीय परिच्छेद, षष्ठ परिच्छेद के 33 श्लोक, सम्पूर्ण पंचम परिच्छेद पर्यन्त अधिकांश श्लोक अनुष्टुप् छन्द में उल्लिखित हैं। कवि की पुष्पिताग्रा प्रसाद गुणयुक्ता मनोहारी है–

कदलीव फलं विहाय याति,
क्षणमन्यत् कुशलं किं सर्वमेव।
सततं फलति क्षयं न याति,
प्रसवत्येव तु बोधिचित्तवृक्षः॥ (बोधि.1/12)

रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से बोधिचर्यावतार में शान्तरस ही व्याप्त है। शम अथवा निर्वेद इसका स्थायी भाव है–

"निर्वेदः स्थायिभावोयं शान्तोऽपि नवमो रसः।"

संसार की प्रतीति इसका आलम्बन विभाव है। दुःखी जन इसके उद्‌दीपन विभाव हैं। आवेग प्रभृति इसके व्यभिचारिभाव है। दूसरे पक्ष में यह भी कहा जा सकता है, क्योंकि इस का मुख्य लक्ष्य बोधिसत्त्वों की भक्ति-भावना का प्रतिपादन करना है, इसलिए वे भक्त भी आलम्बन हैं।

शान्तिदेव की यह रचना लोक कल्याण की दृष्टि से प्रणीत भक्ति-पूर्ण रचना है। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार की अनेक स्तोत्र रचनाएँ हैं। बोधिचर्यावतार को स्तोत्र रचना की कोटि में रखा जा सकता है। बुद्ध के सिद्धान्तों से परिपूर्ण यह काव्य समस्त मानव-जाति के लिए शान्तिदेव का अद्वितीय समर्पण कहा जा सकता है।

इस काव्य से भिक्षु कवि शान्तिदेव और उनकी भारती सदैव यशःस्वरूप में अमर हैं।

किं कवेस्तस्य काव्येन, सर्ववृन्तान्तगामिनी।
कथेव भारती यस्य, न व्याप्नोति जगत्त्रयम्॥ (हर्षचरितम् 1/10)

---

19. मम तावदनेन याति बुद्धिं
कुशलं भावयितुं प्रसादवेगः। (बोधिचर्या. 1/3)

17

अश्वघोष के महाकाव्यों में वैश्विक चेतना

अजय कुमार सिंह
(असिस्टेण्ट प्रोफेसर)
तुलनात्मक धर्म एवं सभ्यता केन्द्र
जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय
ई-मेल–singhdiaspora83@gmail.com
मो.– +91-9313971392

संस्कृत-वाङ्मय के प्राचीनतम कवियों में अश्वघोष का प्रमुख स्थान है। इनका व्यक्तित्त्व कवि, उपदेशक, आचार्य और संन्यासी के रूप में ऊर्जस्वित है। अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' नामक प्रबन्ध काव्यों में बुद्ध के जीवन के मार्मिक प्रसंगों और उपदेशों को काव्यबद्ध किया है। दोनों महाकाव्यों में दया, दान, सत्य, शौच और मृदुता प्रमुख वर्ण्य-विषय हैं। इनमें बुद्ध के तत्त्वज्ञान के दो महास्तम्भ बताए गये हैं–महाप्रज्ञा और महाकरुणा। प्राणिमात्र को समष्टि स्वरूप में देखने की क्षमता प्रज्ञा द्वारा मिलती है। करुणा प्राणिमात्र के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का क्या कर्तव्य है–यह सिखाती है। महाकाव्यों में इन दोनों तत्त्वों को काव्यमाला में परिभाषित करने की कवि ने सफल चेष्टा की है।

मानव की राग भावना जिसके प्रति होती है उसकी चेतना उससे अधिक जुड़ी हुई होती है। तब वह मलिन चेतना होती है, संकुचित चेतना होती है, वैश्विक चेतना नहीं होती है। विश्व के प्रति हित का चिन्तन रखने वाली महान् चेतना मानव-मात्र को अपनी समस्याओं से, दुःखों से उबारने के लिए संकल्पबद्ध होकर कार्य करने से वैश्विक चेतना के रूप में परिभाषित होती है। अश्वघोष ने इसी वैश्विक चेतना का स्वरूप पाठकों के समक्ष रखने का प्रयास किया है। उस वैश्विक चेतना का निदर्शन है–'बुद्ध का चित्त।'

बुद्धचरित में नैतिक और आध्यात्मिक चिन्तन प्रस्तुत हुआ है और सम्यक् ज्ञान, सत्य, अहिंसा, प्राणिमात्रा के प्रति मैत्रीभाव के रूप में बुद्ध के उपदेश भी ग्रथित हैं। बुद्ध की ये शिक्षाएँ प्राणिमात्र के जीवन के लिए आज भी उसी अनुपात में आवश्यक हैं। वर्तमान में भोग को महत्त्व देने का परिणाम वर्ग-संघर्ष के रूप में, हृदयहीन आर्थिक व्यवस्था के रूप में, राजनैतिक शोषण और साम्राज्यवाद के रूप में हमारे सामने खड़ा है। हमें यह निर्णय लेना है कि संस्कृति और सभ्यता, विज्ञान एवं उद्योग की प्रगति का अनिवार्य मार्ग यह मत्स्य-न्याय ही है अथवा ऐसी प्रगति उस वैश्विक चेतना के आधार पर भी हो सकती है, जो बुद्ध ने इस देश के नर-नारियों के सामने रखी है।

बुद्ध ने जब समाधि को साधा तब जाना कि भीतर सोए हुए प्रेम के अनन्त झरने अनायास ही सहज और सक्रिय हो उठे हैं। यह प्रेम जो उनके हृदय में था, वह अहिंसा के माध्यम से सहज ही प्रवाहित हो रहा था। जैसे दीए से प्रकाश बहता है और फूलों से सुगन्ध; वैसे ही उनके हृदय में जीवों के प्रति

प्रेम बह रहा था। बोध के उस अद्भुत क्षणों में उन्होंने जाना था कि यह प्रेम तो उनके स्वभाव का प्रकाश था। यह प्रेम हृदय के अभिनव ऊर्जा का सद्भाव था। यह ऊर्जा स्वयं से सर्व के प्रति बहती थी, स्वयं से स्फुरित होकर, मैत्री धर्म से अनुप्राणित होकर वह जीव-मात्र को एक ही सूत्र में पिरोती थी। इस प्रकार बुद्ध की अहिंसा सबके लिए सबको सोचने और कर्म करने की प्रेरणा भी प्रदान करती थी। उनका प्रेम या "मैत्रीधर्म" का तात्पर्य केवल मानव से मानव की मैत्री नहीं थी, अपितु मानव अपने स्वाभाविक वैरी-शेर, साँप, हिंसक जन्तु प्रभृति के प्रति भी मैत्रिभावना प्रबल रखे–यही बुद्ध का सन्देश था। बुद्ध का प्रेम प्रज्ञा का परिणाम है। किसी भी धर्म की मूल जिज्ञासा भी यही है। हमारे भीतर जो ज्ञानशक्ति है, वह विषयमुक्त हो तो प्रज्ञा बन जाती है और ऐसी क्रान्ति समाधि से उत्पन्न होती है। प्रज्ञा का साधन समाधि है। समाधि साधन है, प्रज्ञा साध्य है, प्रेम उस सिद्धि का परिणाम है। प्रज्ञा हो और प्रेम न हो, यह असम्भव है। ज्ञान हो और अहिंसा न हो, यह कैसे हो सकता है? इसीलिए सौन्दरनन्द में बुद्ध ने अहिंसा को सत्यज्ञान की परीक्षा माना है। यह परमधर्म है, क्योंकि यह आत्यन्तिक कसौटी है। इसके निष्कर्ष पर खरा उतरकर ही कोई धर्म खरा साबित होता है। इसी धर्म का प्रचार-प्रसार अश्वघोष को अपेक्षित है।[1]

मृत्युव्याधिजराधर्मा मृत्युव्याधिजरात्मभिः।
रममाणो ह्यसंविग्नः समानो मृगपक्षिभिः॥[2]

अर्थात् मृत्यु, व्याधि व जरा के अधीन रहने वाला मनुष्य यदि मृत्यु-व्याधि-जरा के अधीन रहने वालों के साथ रमण करता हुआ संविग्न अर्थात् विरक्त न हो तो वह पशु-पक्षियों के समान है।

बुद्धचरित का यह श्लोक प्रतिपादित कर रहा है कि मानव में ही विरक्ति के भाव प्राणवान् होते हैं, पशु-पक्षियों में नहीं। ये भाव जगत् के यथार्थ रूप को देखने की दृष्टि प्रदान करते हैं, जिससे मानव संकुचितता को तजकर उदार-हृदय बनता है। यही उदात्तता वैश्विक चेतना में रूपान्तरित हो जाती है।

वैदिक काल से यह मान्यता चली आ रही है कि यौवन के संध्याकाल में वानप्रस्थ, फिर संन्यास आश्रम ग्रहण किया जाना चाहिये, बाल्यावस्था और यौवन धर्म करने के लिए उचित काल नहीं है। भगवान् बुद्ध इस बात से सहमत नहीं थे, अतः वे कहते थे–'अकालो नास्ति धर्मस्य जीविते चञ्चले सति।'[3] जीवन चञ्चल होने के कारण धर्म के लिए कोई असमय नहीं है। धर्म सार्वकालिक और सार्वभौमिक है।

अर्थ को प्रमुखता देने वाली वैश्विक संस्कृति विभिन्न समस्याओं को जन्म दे रही है, यथा–प्राकृतिक असन्तुलन, आर्थिक मन्दी, विश्वयुद्ध की स्थितियाँ, यान्त्रिक जीवन, भोगवाद आदि। इन समस्याओं का निराकरण बुद्धचरित के निम्न श्लोक में निहित है–

एवं च ये द्रव्यमवाप्य लोके मित्रेषु धर्मे च नियोजयन्ति।
अवाप्तसाराणि धनानि तेषां भ्रष्टानि नान्ते जनयन्ति तापम्॥[4]

संसार में धन पाकर जो लोग मित्रों और धर्म में लगाते हैं, उनका धन सार को प्राप्त होता है अर्थात् उनका धन पाना सफल है। धन के प्रति यह दृष्टिकोण मानवीय चेतना को उदात्त अर्थात् वैश्विक स्वरूप प्रदान करता है।

1. सौन्दरनन्दमहाकाव्यम्, व्याख्याकारः- आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, भूमिका का पृष्ठ-19
2. बुद्धचरित, 4.89
3. बुद्धचरित, 6.21
4. बुद्धचरित, 11.5

उपभोक्तावाद की इस संस्कृति में मानव की तृष्णाओं को बढ़ाया जा रहा है, ताकि वह धन के द्वारा वस्तुओं आदि का भोग करे और उनसे सुख प्राप्त करे। इस सम्बन्ध में अश्वघोष की कृति बुद्धचरित में कहा है–

य एव भावाहि सुखं दिशन्ति त एवं दुःखं पुनरावहन्ति।[5]

भोग के जो पदार्थ सुख देते हैं, वे ही फिर दुःख लाते हैं। कम्प्यूटर, मोबाइल आदि आधुनिक उपकरण व्यक्ति को एक बार तो सुख प्रदान करते हैं किन्तु जैसे-जैसे उपयोग की अधिकता होती है, ये साधन व्यक्ति में तनाव उत्पन्न करते हैं, फलस्वरूप जो वस्तु सुख के लिए थी–वही अब दुःख का कारण बनने लगती है। भोग में आसक्ति मानव जीवन में कई खतरे पैदा कर रही है। जैसे एक राजनेता की पद के प्रति आसक्ति भ्रष्टाचार, दंगे फसाद, जातिवाद आदि कई खतरे उत्पन्न करती है। यही कारण है कि जननायक या राजनेता का उदात्त व्यक्तित्त्व आज जनता को प्राप्त होना दुर्लभ हो गया है। ऐसे में अश्वघोष की ये रचनाएँ अत्यधिक प्रासंगिक प्रतीत होती हैं।

वर्तमान में अपना उल्लू सीधा करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और येन-केन प्रकारेण सुख पाने की लालसा बढ़ती जा रही है। दूसरों को दुःख देकर सुख प्राप्त करने की इच्छा मानव को संकुचित बना रही है। ऐसी भयावह स्थिति में संस्कृत विद्वान् अश्वघोष की 'न हि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते।'[6] सूक्ति कारगर सिद्ध हो सकती है। जो यह सन्देश दे रही है कि 'उस सुख की इच्छा नहीं करना, जो दूसरों को दुःख देकर प्राप्त किया जाए।'

सम्पूर्ण विश्व मानसिक दुःख से सन्तप्त है। इन दुःखों को दूर करने वाले मनोचिकित्सक और मनोरोग के विशेषज्ञ उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु उनके पास भी पूर्णतः मन के रोगों से मुक्ति पाने का मार्ग नहीं है। मन के रोगों को समझने और उन्हें दूर करने के उपाय भगवान् बुद्ध के उपदेशों में समाहित हैं। उन्हीं उपायों को सौन्दरनन्द महाकाव्य के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने का महाज्ञानी अश्वघोष का ध्येय महाकाव्य के 16वें सर्ग में परिलक्षित होता है। अश्वघोष कहते हैं–'मन को नियन्त्रित करने के लिए योगाभ्यास की आवश्यकता होती है। योगाभ्यास के अनुपात का निर्णय देश और काल तथा उपाय की समीक्षा करके अपने सामर्थ्य का निश्चय करने के बाद ही करना चाहिए, किन्तु उनके विरुद्ध नहीं।'

मन में उत्तेजना होने पर शान्तिकारक उपायों का सेवन, आलस्य युक्त मन के लिए प्रेरक साधन का सेवन, चित्त समतायुक्त होने पर उपेक्षामूलक साधनों का प्रयोग, आसक्ति की उत्तेजना से व्याकुल हृदय में अशुभनिमित्त का चिन्तन, द्वेषयुक्त चित्त के लिए मैत्री भावना, मोहग्रस्त चित्त के द्वारा कार्य-कारणभाव का चिन्तन शान्तिप्रद होता है। मन के उद्योग, शान्ति और यथावसर उपेक्षा के लिए सम्यक् भावना की पहचान करनी चाहिए, क्योंकि अनुचित उपाय से किया गया प्रयत्न नष्ट हो जाता है। संस्कारवश यदि किसी एक उपाय से अनिष्ट चिन्तनों का विनाश न हो तो फिर किसी दूसरे उपाय को शुरू करें; किन्तु उत्तम उद्योग को कभी नहीं छोड़ें। चिरकाल से संचित हो जाने के कारण दोष समूह बलवान् हो जाता है, फिर ठीक ढंग से उद्योग करना कठिन हो जाता है। इसलिए सहसा ही दोषों का उन्मूलन नहीं किया जा सकता है। इस तरह की युक्ति लगाकर रोकने पर भी वे न रुकें तो सुवर्ण में मिले धूलिकणों की तरह उन बुरे विचारों की स्थूलता के अनुसार क्रम से उन्हें छोड़ देना चाहिए।

भगवान् बुद्ध की चेतना वैश्विक चेतना थी, जो प्राणिमात्र के हित का चिन्तन रखती थी। उनके बताए मार्ग पर चलकर कोई भी व्यक्ति वैश्विक चेतना जागरित कर सकता है। बुद्धोपदिष्ट पथ के अनुराही

5. बुद्धचरित, 11.41
6. बुद्धचरित, 11.64

महाकवि अश्वघोष ने इसी वैश्विक दृष्टि से या प्राणि-मात्र के कल्याण की भावना से महाकाव्यों की रचना की। इन रचनाओं में उन्होंने समय-समय पर उपदेश-परक धार्मिक, नैतिक एवं नीतिपूर्ण सूक्तियों की विनियोजना की है। जिनका अनुव्रजन प्रत्येक मानव के लिए सभी प्रकार से श्रेयस्कर है। ऐसी कतिपय सूक्तियों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है–

बुद्धचरित से उद्धृत–

काम अनित्य हैं, कुशल रूप धन के चोर हैं अर्थात् कुशल कर्म करने में बाधक हैं और संसार में माया के समान है। इनकी इच्छा मनुष्य को मूढ़ बनाती है। (11.9)

विषयों में स्वाद कम है, बन्धन अधिक है, केवल अतृप्ति है, सज्जनों द्वारा निन्दा होती है और पाप नियत है। (11.19)

कामरूपी सम्पत्ति को विपत्ति ही समझना चाहिये; क्योंकि काम सिद्ध होने पर मद होता है। मद से मनुष्य अकार्य करता है, और दुर्गति को प्राप्त होता है। (11.21)

महती लक्ष्मी या धन का अभिलाषी तृष्णा से अभिभूत पुरुष अनुकम्पा के योग्य है, जो इस लोक में शान्ति सुख नहीं पाता और परलोक में दुःखों से ग्रस्त होता है। (11.55)

यदि हिंसक यज्ञ से शाश्वत फल भी मिले तो उसे नहीं करना चाहिये। (11.65)

अज्ञान, कर्म व तृष्णा संसार के कारण स्वरूप हैं। (12.23)

अविद्या से युक्त होकर मूर्ख मनुष्य दुःख बहुल संसार में बार-बार जन्म लेता है। (12.37)

सम्पत्ति पाने वाला यदि उसे गरीबों के बीच नहीं बाँटे, तो वह दाता नहीं है। (15.9)

जो जगत् के हित के लिए बोधि प्राप्त करता है, वह सदा सब जीवों के हित के लिए काम करता है। (15.23)

राग का साथ व काम का आश्रय पाकर चित्त शान्त नहीं होता है। (15.33)

आष्टांगिक मार्ग के पालन से मौत, बुढ़ापा एवं रोग से मुक्ति मिलती है। (15.37)

जो सब जीवों को समान भाव से देखता है और जिसने शम एवं विनय द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह धर्म में विचरण करता है।

शरीर को उदय और व्यय के अधीन जान लेने से उपादान बिल्कुल नहीं रहता और मैं व मेरा का भाव नहीं रहता। (16.75)

मिथ्या-दृष्टि बाँधती है, सम्यक् दृष्टि मुक्त करती है। (16.79)

इस जगत् को शून्य "मैं" या 'मेरे' से रहित, मायासदृश जानो और इस शरीर को संस्कारों का परिणाम मात्र विचारते हुए इसे केवल तत्त्वों का बना हुआ समझो। अनित्य जीवन से अपने मन को मुक्त करो और संसार में विविध योनियों को देखते हुए भावना द्वारा अपने चित्त को वितर्क रहित शान्ति परायण और रागमुक्त करो। (18.13,14)

दान देना निर्वाण का एक अंग है, क्योंकि इसके द्वारा लोभ जीता जाता है और तृष्णा जीती जाती है। (18.74)

जो धर्माचरण करता है, उसका चित्त अत्यन्त विशद हो जाता है और जो पाप कर्म करता है, उसका चित्त तमोमय हो जाता है।

यदि मरते समय चित्त काम के अधीन होगा तो पशु योनि या नरक में जन्म होगा। (22.30)

जगत् में न तो इन्द्रिय ही विषयों को बाँधते हैं और न ही विषय इन्द्रियों को। उन (विषयों) के लिए जिस किसी को काम (पैदा) होता है, वह उनसे बाँधा जाता है। (22.32)

रोग स्वास्थ्य को गिराता है, उग्र जवानी को काटती है और मृत्यु जीवन अपहरण करती है, किन्तु धर्म के लिए ऐसी कोई विपत्ति नहीं। (22.45)

दूसरों पर आश्रित होना महादुःख है और अपने पर आश्रित होना परम सुख है।(22.47)

शील के फल हैं–सन्तुष्ट चित्त, सम्मान, लाभ, यश, विश्वास, आनन्द एवं पारलौकिक सुख। (23.16)

दुःशील मनुष्य पशु-पक्षियों के समान है। (23.25)

जिसका चित्त दोषों से अभिभूत होता है, वह जीवन में सब कुछ खो बैठता है। (23.28)

क्रोध चित्त का घना अन्धकार है, मित्रता का प्रधान शत्रु है, सम्मानविनाशक और अपमानजनक है। इसलिए क्रोध नहीं करना चाहिए (23.48)

क्रोध रोकने के लिए सब जीवों के प्रति मैत्री एवं करुणा का आचरण करना चाहिए। (23.53)

इच्छा का नाश होने पर शान्ति मिलती है, क्योंकि कारण का विनाश होने से कार्य का विनाश होता है। (26.16)

इस जगत् में कुछ लोग विषय रूपी महाशत्रुओं के हाथ में पड़कर दारुण दुःख भोगते हैं और मोहवश विषयों के वशीभूत होने वाले लोग विवश होकर इस जन्म में और जन्मान्तरों में दुःख के अधीन होते हैं। (26.34)

चित्त के स्वतन्त्र रहने पर शान्ति नहीं मिलती, किन्तु इसके स्थिर होने पर कार्य पूरा होता है। इसलिए यथाशक्ति यत्न करो कि चित्त चंचलता से विरत हो जाए। (26.38)

औषधि की मात्राा के समान भोजन की उचित मात्रा का सेवन करना चाहिए और इससे अनुराग या घृणा नहीं करनी चाहिए। उतना ही खाओ जितना कि क्षुधा-शान्ति और शरीर रक्षा के लिए आवश्यक है। (26.39)

सन्तोष ही धर्म है। सन्तुष्ट मनुष्य भूमि पर भी शान्तिपूर्वक सोते हैं और असन्तुष्ट मनुष्य स्वर्ग में ही जलते हैं। (26.56)

असन्तुष्ट मनुष्य अत्यन्त धनवान् होने पर भी सदा दरिद्र ही रहता है और सन्तुष्ट मनुष्य अत्यन्त दरिद्र होने पर भी सदा धनी ही रहता है। प्रिय विषयों की खोज करने वाला असन्तुष्ट मनुष्य तृप्ति पाने के लिए श्रम करता हुआ अपने ही लिए दुःख पैदा करता है। (26.57)

अपने भावों को सम तथा चित्त को नियन्त्रित रखते हुए संसार के उदय और व्यय को जानो और समाधि का अभ्यास करो। क्योंकि जिसने मानसिक समाधि प्राप्त कर ली है उसे कोई आधि-व्याधियाँ स्पर्श नहीं करतीं। (25.64)

प्रज्ञा की वृद्धि के लिए विद्या, ज्ञान और भावना का अभ्यास करो, क्योंकि जो प्रज्ञाचक्षु है, वही वास्तविक दृष्टि है, यद्यपि उस चक्षु में स्थूल पदार्थों को देखने की शक्ति नहीं होती। (26.68)

दूसरों के साथ विवाद करने से न सुख होता है, न धर्म। दुर्भावना को प्रश्रय न देकर शान्ति मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। (28.44)

धर्म-दान सब दानों से श्रेष्ठ है। (29.49)

सौन्दरनन्द से उद्धृत–

घरों में श्रद्धारूपी धन श्रेष्ठ है, रसों में प्रज्ञारूपी रस तृप्तिकर है, सुखों में अध्यात्म सुख प्रधान है तथा दुःखों में अविद्यारूपी दुःख अत्यन्त दुःखदायी है। (5.24)

स्नेह, तृष्णा और राग नहीं है; तो सुख है। (5.28)

सज्जन व्यक्ति ज्ञान द्वारा भोगों को जीतकर शान्ति में आनन्द प्राप्त करता है। (8.26)

अप्रिय एवं हितकारी वचन स्नेह से परिपूर्ण मित्र का होता है, अहितकारी प्रिय वचन अमित्र का होता है। प्रिय भी हो और हितकारी भी हो ऐसा वचन पथ्य एवं स्वादु औषधि के समान दुर्लभ है। (11.16)

विश्वास, उपकार, सुख-दुःख में समानता, क्षमा और प्रेम–यही सज्जनों की मित्रता है। (11.17)

शान्त और निर्दोष अध्यात्म के समान दूसरा कोई आनन्द नहीं है। (11.34)

तृष्णा के रहते हुए प्रगाढ मानसिक दुःख रहता है। इसलिए तृष्णा को काटो; क्योंकि दुःख और तृष्णा एक साथ आते हैं और एक साथ हो जाते हैं। (11.36)

शील का आश्रय लेकर ही कल्याण के सभी कार्य सम्पन्न होते हैं। (13.21)

द्वेष करने वाले शत्रुओं से कभी कोई पीड़ित होता है और नहीं भी, परन्तु इन्द्रियों से सभी सर्वत्र सदा ही पीड़ित होते हैं। और मानसिक इन्द्रिय-पीड़ित को मानसिक और शारीरिक दोनों दुःख होते हैं। (13.32,34)

विषयों से इन्द्रिय समूह कभी तृप्त नहीं होता, जिस प्रकार जल से निरन्तर पूर्ण होते रहने पर समुद्र की तृप्ति नहीं होती है। (13.40)

विषयाकांक्षी का ज्ञान नष्ट हो जाता है। (13.39)

परस्पर विद्वेष को दौर्मनस्य कहते हैं। मनुष्य मोह के कारण इसके वशीभूत होकर इहलोक और परलोक में नष्ट होता है। (13.47)

विषयों में प्रवृत्त हुई इन्द्रियाँ भी तब तक उसमें आसक्त नहीं होती हैं, जब तक उसके प्रति मन का संकल्प-विकल्प नहीं होता है। (13.49)

विषय की अयथार्थ कल्पना से मनुष्य बन्धता है और उसी विषय को यथार्थ रूप में देखता हुआ मुक्त हो जाता है। (13.51)

अधिक किया गया भोजन अनर्थकारी होता है, उसी प्रकार अत्यल्प किया गया भोजन भी शक्ति नहीं प्रदान कर पाता है। (14.3)

अपनी शक्ति को देखते हुए भोजन करना चाहिए। मान के वशीभूत होकर भी अत्यधिक अथवा अत्यल्प भोजन नहीं खाना चाहिए। (14.6)

लोक में द्रोह और हिंसा से युक्त चित्त वाले के दुष्ट मन के द्वारा दूसरा व्यक्ति पीड़ित हो अथवा न हो, परन्तु सबसे पहले स्वयं को पीड़ित करता है। इसलिए सब जीवों के प्रति मित्रता और करुणा का ही विचार करना चाहिए, द्रोह और हिंसा का नहीं। (15.16,17)

मनुष्य जिस-जिस को निरन्तर सोचता है, उस अभ्यास के कारण उसके चित्त का उस ओर झुकाव होता है। इसलिए बुरे विचार को छोड़कर अच्छे विचार का ध्यान करना चाहिए। (15.19)

विविध कामोपभोग की चिन्ता में जो मन विद्यमान है, वह उत्तम नहीं है क्योंकि उससे बन्धन होता है। (15.23)

संसार में अपने कर्मों से खींचे जाते हुए प्राणियों का कौन अपना है? अथवा कौन पराया है? व्यक्ति मोह के कारण ही दूसरे मनुष्य में आसक्त है। (15.31)

स्वजन सम्बन्धी चिन्ता से मन को ग्रस्त नहीं वनाना चाहिये। क्योंकि संसार में अपने और पराये की व्यवस्था नहीं है। (15.41)

बुढ़ापा, रोग और मृत्यु–संसार का सबसे बड़ा भय है। संसार में ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ लोगों को यह प्राप्त न होता हो। (15.46)

शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित इस लोक में कोई शान्तिप्रद देश नहीं है, जहाँ जाकर स्वस्थ हो सकें। सबको सर्वत्र और सदैव दुःख होता है, इसलिए लोक की विचित्रताओं में अभिलाषा और आसक्ति मत करो। (15.49,50)

संसार में दुःख का कारण तृष्णा आदि दोष समूह है। ईश्वर, प्रकृति काल, स्वभाव अथवा यदृच्छा और भाग्य कारण नहीं है। (16.17)

बुद्धिमान् मनुष्य को सो जाना चाहिए अथवा शारीरिक श्रम में लग जाना चाहिए, परन्तु उस अकुशल निमित्त का सेवन नहीं करना चाहिए, जिसमें लीन होने पर अनर्थ हो सकता है। (16.78)

कार्य की सिद्धि का मूल कारण है–उत्तम उद्योग, उद्योग के बिना कोई सिद्धि नहीं होती है। उद्योग से ही सम्पूर्ण ऋद्धियों का उदय होता है और यदि उद्योग नहीं है, तो सब पाप ही पाप है। (16.94)

इन सभी सूक्तियों में अश्वघोष ने जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टि दी है, जो मानव को स्व-हित, परिवार-हित, देश-हित के संकुचित दायरे से निकलकर विश्व के कल्याण की अर्थात् मानवमात्र के कल्याण की भावना प्रदीप्त करने का संकेत कर रही है। कुशल कर्मों के प्रति तत्परता का बोध, मन-नियन्त्रण की प्रेरणा, अहिंसा पालन पर बल, धन को बाँटने (दान) से लाभ, मैं और मेरे के भाव का नाश, विषयों के प्रति अनासक्ति, शील के फल, शरीर-रक्षा के लिए भोजन की आवश्यकता, सन्तोषी व्यक्ति के सर्वाधिक धनी होने का तथ्य, प्रज्ञावान् बनने की प्रबल प्रेरणा, मनुष्य के बन्धने और मुक्त होने का स्वरूप, द्रोह एवं हिंसा को त्यागकर मैत्री और करुणा का सन्देश, मोह ही आसक्ति में कारण, उद्योग ही सफलता की कुंजी, तृष्णा सभी दुःखों का मूल आदि विभिन्न उपदेश वैश्विक चेतना के निर्माण में सहाय्यभूत हैं।

वैश्विक चेतना मानवीय मूल्यों का तथा व्यक्तिगत चरित्र के विकास का समन्वय है। इसमें शिक्षा अपनी अहं भूमिका अदा करती है। यथार्थ में शिक्षा का मूल उद्देश्य है- मन की शान्ति, मन का निर्विकल्प होना और वैश्विक चेतना का विकास। शिक्षा जगत् में यह उद्देश्य तिरोहित हो रहा है। आज व्यक्ति पढ़ लिखकर अच्छा वैज्ञानिक बन जाता है। इंजीनियर या डॉक्टर बन जाता है, विशेषज्ञ बन जाता है, फिर भी वह लड़ाई करता है, निन्दा और ईर्ष्या में फंसा रहता है, आत्महत्या कर लेता है। इसके विपरीत मूल्यों में जीने वाला चरित्रवान् प्रतिकूल परिस्थितियों में भावनात्मक स्तर पर अपना सन्तुलन बनाए रखता है, सहिष्णु बना रहता है, वह बाह्य निमित्तों से प्रभावित नहीं होता। चेतना का इस तरह का विकास ही विश्वस्तरीय विकास है, जिसका सांगोपांग वर्णन अश्वघोष की रचनाओं में दृष्टिगत होता है।

18

जातकसाहित्ये नैतिकशिक्षा

रामदेवः
सहायकप्राध्यापकः, संस्कृतविभागः
चौ. देवीलालविश्वविद्यालयः, सिरसा, हरियाणा
दूरवाणीसंख्या - 9467857579
अणुसङ्केतः-devsamskrit92@gmail.com

जातकसाहित्यस्य बौद्ध-मिश्रित-संस्कृतसाहित्ये बौद्धधर्मे च महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते। जातकसाहित्यबलेनैव बौद्धधर्मः विश्वे विश्रुतः। भगवान् बुद्धः स्वकीयान् विचारान् जनेभ्यः संप्रेषणार्थं जातककथानामुपयोगं चकार। भगवतो बुद्धस्य अनन्तरं बौद्धभिक्षुका अपि जातककथामाध्यमेनोपदेशान् चक्रुः। अद्यत्वेऽपि बौद्धधर्मस्यानुयायिनः ताभिः जातककथाभिः बौद्धधर्मस्य प्रचारं कुर्वन्तः सन्ति। विश्वविश्रुतः विद्वान् भदन्तानन्दकौसल्यायनः, येन जातककथाः हिन्दीभाषया अनूदिताः[1], सोऽपि स्वकीयेषु व्याख्यानेषु उपदेशेषु लेखेषु च जातककथानां प्रयोगम् अकरोत्। तेषां व्याख्यानेन सर्वे तुष्टाः भवन्ति स्म। ताः जातककथाः एव जातकसाहित्यमिति कथ्यते।

जातकसाहित्यस्य उद्देश्यम्–

सर्वेषु धर्मग्रन्थेषु धर्मप्रचाराय कथामाध्यमस्य प्रयोगः दृश्यते। यतोहि कथामाध्यमेन स्वकीयान् धार्मिकविचारान् दर्शनञ्च जनसामान्येषु सरलतया सम्प्रेषयितुं शक्यते। सामान्याः जनाः दार्शनिकान् विचारान् भावनया अधिकम् अवगच्छन्ति। भावनायाः प्रवाहः कथासु एव भवति। अतः धर्मं दर्शनञ्च अधिगन्तुं सरलमार्गः भवति–कथाः। सर्वेषां धर्माणां कथासाहित्यं वर्तते। तत्र कथानां विषया अपि धर्मानुसारेण भवन्ति। यथा–ब्राह्मणधर्मस्य कथानां विषयाः तद्धर्मविषयानुसारं, जैनधर्मस्य कथासाहित्यं तद्धर्मविषयानुसारञ्च वर्तते, तथैव पालिजातककथानां विषया अपि बौद्धधर्मस्य सिद्धान्तानां तत्त्वानाञ्च अनुगुणं सन्ति। भगवतो बुद्धस्य समये धर्मोपदेशाय नैतिकशिक्षायै च जातकसाहित्यस्य आवश्यकता आसीत्। अद्यत्वे चारित्रिकविकासाय नैतिकशिक्षायै च आवश्यकता वर्तते। जातककथासु भगवतः बुद्धस्य सुनिश्चिताः विचाराः सारगर्भिता शिक्षा दर्शनं नैतिकशिक्षा च वर्तन्ते। जातकसा हित्यं सामाजिकचिन्तनाय दार्शनिकदृष्ट्यै नैतिकशिक्षायै चारित्रिकविकासाय च महत्त्वपूर्णं वर्तते।

1. जातक (खण्ड 16), भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1956

जातकसाहित्यस्य परिचयः

जातकशब्दस्य अर्थः वर्तते–'जन्मसम्बन्धिनी कथा।' भगवतः बुद्धस्य पूर्वजन्मनः कथा एव जातकसाहित्यस्य विषयवस्तु। जातककथाः कथानां समूहः वर्तते। जातककथा पालि-त्रिपिटकसाहित्यस्य सुत्तपिटकान्तर्गतं खुद्दकनिकायस्य दशमो ग्रन्थः वर्तते।[2] पालि-त्रिपिटकं बुद्धवचनमिदम्। अर्थात् पालि-त्रिपिटकस्य बुद्धवचनत्वात् जातककथाः भगवतः बुद्धस्य उपदेशस्य अङ्गभूताः सन्ति। तथा च भगवान् बुद्ध एव जातककथानां रचयिता।[3] भगवान् बुद्धः कथयति–"सम्बोधिप्राप्तेः प्राक् यदा अहं बोधिसत्त्व एव आसम्" इति।[4] एवं एताः कथाः बुद्धस्य बोधिसत्त्वावस्थायाः वर्तन्ते। प्रत्येकस्मिन् जन्मनि दान-शील-करुणा-सत्यमित्यादिनां पारमितानामभ्यासं कुर्वन्ति, परोपकारं कुर्वन्ति च, एव बुद्धत्वस्य योग्यतां सम्पादयति। अत एवं वक्तुं शक्यते यत् बोधिसत्त्वावस्थातः बुद्धत्वप्राप्तिं यावत् भगवतः बुद्धस्य जीवने घटितानां घटनानां लौकिकानां पारलौकिकानां च अनुभवानां सङ्कलनभूताः सन्ति इमे जातककथाः। जातकानां संख्यायाः विषये मतभेदाः सन्ति, चीनदेशीयः फशिनयनमहोदय स्वीये पञ्चमशताब्द्यां यात्रवृत्तान्ते लिखति यत् 'अहं पञ्चशतं जातकानाम् अंकितानि चित्राणि लंकायां दृष्टवान् इति।[5] इ.बी.कावेलमहोदयः सप्तचत्वारिंशतधिकपञ्चशतं जातकानामाङ्गलभाषायाम् अनुवादम् अकरोत्।[6]

एवं वक्तुं शक्यं यत् जातकानां संख्या पञ्चशतं तु अस्ति एव, अधिका वा स्यात्।

जातकसाहित्ये नैतिकशिक्षा मानवीयमूल्यानि च–

पालिजातकेषु आकारदृष्ट्या विषयदृष्ट्या च कथाः अनेकविधाः वर्तन्ते। सुकजातककथा पञ्चपञ्चाशतधिकद्विशततमी[7] कथा वर्तते। अस्यां कथायां एकः भिक्षुकः अत्यधिकं भूक्त्वा अजीर्णत्वात् मृत्युं प्राप्नोत्। अत्र अल्पभोजनस्य आत्मसंयमस्य च प्रशंसा वर्तते। गामणीचण्डजातके[8] प्रज्ञायाः प्रशंसा वर्तते। सत्यम् इति नैतिकतायाः दर्शनं कक्कारूजातके[9] द्रष्टुं शक्यते। तत्र बोधिसत्त्वः देवपुत्ररूपेण जन्म प्राप्नोत्। अस्मिन् जातके असत्यभाषणस्य दुष्परिणामविषये चर्चा वर्तते। अस्य जातकस्य सन्देशः वर्तते–

कायेन यो नावहरे, वाचाये न मुसा भणे।
यसो लद्धा न मज्जेय्य, सवे कक्कारूमरहति॥

धम्मेन वित्तमेसेय्य, न निकत्या धनं हरे।
भोगे लद्धा न मज्जेय्य, सवे कक्कारूमरहति॥

अर्थात् यः शरीरेण न किञ्चित् हरति, वाचा सत्यभाषणं, यशप्राप्तौ न प्रमादभावश्च स एव कक्कारूं योग्यं भवति। यः धर्मेण धनोपार्जनम्, न च दुर्भावनया धनस्योपार्जनं, भोग्यवस्तुनि सति न अलसः सः

2. भगवान बुद्ध का प्रेरणादायी जीवन, डा. विमल कीर्ति, पृष्ठसंख्या 12
3. भगवान बुद्ध का प्रेरणादायी जीवन, डा. विमल कीर्ति, पृष्ठसंख्या 12
4. भय भैरव सुत्तन्त, मज्झिम निकाय 1.1.4
5. द इलस्ट्रेटेड जातक अदर स्टोरीज आफ बुद्ध, सी.बी. वर्मा, पृष्टसंख्या 2
6. The Jetaka or Stories of The Buddha's Former Births (Vol. I – VI) Prof. E- B- Cowell Cambridge: At The University Press, 1895-1907
7. जातक (खण्ड 3), भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1956, पृष्ठसंख्या 23-26
8. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 28-42।
9. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 295-299।

कक्कारूं योग्यं भवति। अन्यत् च जातके चितेकाग्रता-श्रद्धा-सहभावादिनैतिकगुणानां विषये चिन्तनं वर्तते। यथा–

यस्स चित्तम् अहात्विदं, सद्धा च अविरागिनी।
एको सादुं न भुज्जेय्य, सवे कक्कारूमरहति॥

भोग्यपदार्थान् वयं मिलित्वा प्रयोगं कुर्याम, एकस्यैव एकाधिकारः न स्यात् इति सहभावचिन्तनेन विशिष्टतां भजते जातकमिदम्। अस्मिन् जातके एव सज्जनानां प्रत्यक्षेऽप्रत्यक्षे वा निन्दा न करणीया, अतः 'यथावादी तयाकारी' इति नैतिकभावनायाः दिग्दर्शनमपि भवति। यथा–

सम्मुखा वा तिरोक्खा वा, यो सन्ते न परिभासति।
यथावादी तथाकारी, स वे कक्कारूमरहति॥

कालबाहुजातके[10] एवं विधा शिक्षा वर्तते यत्र श्रीमद्भगवद्गीतायाः स्मरणमागच्छति–

लाभो अलाभो अयसो यसो च, निन्दा पसंसा च सुखच्च दुक्खं।
एते अनिच्चा मनुजेसु धम्मा, मा सोची किं सोचिसि पोट्टपाद ॥

बोधिसत्त्व उपदिशति–'हे पोट्ठपाद ! अस्मिन् लोके लाभालाभौ यशापयशौ निन्दा-प्रशंसे सुख-दुःखे च अनित्यानि वर्तन्ते, अत मा चिन्तय, किमु वा चिन्तयसि इति।' एवञ्च सीलवींमंसजातके[11] सदाचारस्य विषये यथा–

सीलं किरेव कल्याण, सीलं लोके अनुत्तरम्।
पस्स घोरविसो नागो, सीलवाति न हञ्ञति ॥

अत्र यथा "विषधरं सर्पं सदाचारत्वात् जनाः न घ्नन्ति" इति उदाहरणेन सदाचारः कल्याणप्रदः उत्तमश्च वर्तते इति उपस्थापितः। अस्मिन् जातके एव रिक्तहस्तम् अकिञ्चनं वा न हिंसति। स्वार्थवशोऽयं लोक इति नैतिकविचारणायाः प्रत्यक्षीकरण भवति। यथा–

यावदेवस्सहू किञ्चि, यावदेव अखादिसुं।
सङ्गम्म कुळला लोके, न हिंसंति अकिञ्चनं ॥

व्याघ्रीजातके[13] परोपकारविषये यथा–

कदा नु गात्रैरपि नाम कुर्यां हितं परेषामिति यश्च मेऽभूत्।
मनोरथस्तत्फलीक्रियां च सम्बोधिमग्र्यामपि चाविदूरे ॥29॥

अपि च परार्थसिद्धये प्राणेत्सर्गः कल्याणप्रदः भवति–

न स्पर्धया नैव यशोऽभिलाषान्न स्वर्गलाभन्न च सुखोदयं च।
नात्यन्तिकेऽप्यात्मसुखे यथायं ममादरोऽन्यत्र परार्थसिद्धेः ॥30॥

10. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 307-310
11. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 310-312
12. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 23-26।
13. आर्यशूर-कृत जातकमाला, सूर्यनारायण चौधरी, संस्कृतभवन, कठोतिया, जिला पूर्णिया (बिहार) 1952, पृष्ठसंख्या10
14. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 26
15. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 62

एवं स निश्चित्य परार्थसिद्धयै प्राणात्ययेऽप्यायतितप्रमादः।
मनांसि धीराण्यपि देवतानां विस्मापयन्स्वां तनुमुत्ससर्ज ॥33॥

शिविजातके[14] लोककल्याणाय नेत्रदानविषये कथा वर्तते, यत्र 'सर्वे सुखिनः भवन्तु' इति भावनया न तु स्वर्गम् अपवर्गं प्राप्तुं, याचकाय नेत्रद्वयमेव प्राददत्–

नायं यत्नः सार्वभौमत्वमाप्तुं नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्तिम्।
त्रतुं लोकानित्ययं त्वादरो मे याञ्च क्लेशो मा त मूदस्य मोघः ॥28॥
ततः स राजा नयने प्रदाय विपद्मपद्माकरतुल्यवक्त्रः॥29॥

पश्वादितिर्यग्गतानामपि दानप्रवृत्तिर्भवति इत्यनेन मनुष्येनापि नैतिकाचरणम् अवगन्तव्यमिति शशजातके अवलोक्यते, यथा–

तिर्यग्गतानामपि सतां महात्मनां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा।
केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात् ॥15॥

एवम् अगस्त्यजातके तपोवनानां सन्यासिनां कृते यथा दानं शौर्यम् अलङ्करणं भवति, तथैव गृहस्थानां कृतेऽपीति, यथा–

तपोवनस्थानाम् अप्यलङ्कारस्त्यागशौर्यं प्रागेव गृहस्थानामिति॥16॥

मैत्रीबलजातके दयालवः परदुःखातुराः स्वसुखं न पश्यन्ति इति विषयाधारितकथा वर्तते, यथा–न परदुःखातुराः स्वसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिकाः।[17] आशयशुद्धिः विचारशुद्धिः वा इति नैतिकसिद्धान्तं बोधयति यज्ञजातकम्। तद्यथा–न कल्याणाशयाः पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम्।[18] तत्रैव सदाचरणं कथं जनानामलङ्करणं भवति? तद्यथा–

भयेन मृत्योः परलोकचिन्तया कुलाभिमानेन यशोऽनुरक्षया।
सुशुक्लभावाच्च विरूढया ह्रिया जनः सशीलामलभूषणोऽभवत्॥[19]

विपत्तिर्वा सुखं वा नैतिकाचरणं सज्जनानां कदापि शैथिल्यं न प्राप्नोतीति शक्रजातके निगदितम्, यथा–आपदपि महात्मनामैश्वर्यसम्पद्वा सत्तवेष्वनुकम्पां न शिथिलीकरोति।[20] तत्रैव ब्राह्मणजातके आत्मलज्जा आत्मसम्मानं वा कारणेन जनाः सत्पुरुषाः भवन्ति, सदाचारिणः भवन्तीति भणति, यथा–आत्मलज्जैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयन्ति।[21] अस्मिन् जातकैव वशीकरणमन्त्रवत् सदाचरणमिति ज्ञायते–

वशीकरणमन्त्र हि नित्यमव्याहता गुणाः।
अपि द्वेषाग्नितप्तानां किं पुनः स्वस्थचेतसाम् ॥[22]

तत्रैव निर्धनता दुःखदायी भवति, अपमानस्य कारणञ्च इति यथा–

परिभवभवनं श्रमास्पदं सुखपरिवर्जितमत्यनूर्जितम्।
व्यसनमिव सदैव शोचनं धनविकलत्वमतीव दारुणम् ॥

16. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 76
17. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 94
18. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 154
19. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 162
20. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 168
21. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 176
22. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 176

उन्मादयन्ती-जातके धैर्य प्रशंसति, येषां जीवने धैर्य भवति, ते कदापि नीचमार्गं न गच्छन्ति, यथा-तीव्रदुःखातुराणामपि सतां नीचमार्गनिष्क्रमणयता भवति स्वधैर्यावष्टम्भात्।[23] अस्मिन् जातके अन्तो नैतिकशिक्षायां धैर्यस्य अभ्यासः कार्य इति उच्यते–

धैर्यधर्माभ्यासे च योगः कार्य इति।[24]

मतस्यजातकमपि शीलवतां पुरुषाणां कार्याणि सर्वत्र सिद्धयन्तीति व्याजेन शीलवतां प्रशंसा अत्र वर्तते। यथा–शीलवतामिहैवाभिप्रायाः कल्याणाः समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति।[25] वर्तकापोतकजातकं सत्यभाषणस्य अभ्यासः करणीयः इति शिक्षयति। यथा–सत्यपरिभावितां वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः।[26] कुम्भजातकं वर्तमानसमयेऽपि तथैव प्रासाङ्गिकं वर्तते। यथा तस्मिन् काले आसीत्। मद्यपानम् अनैतिकं कष्टप्रदं च भवत, साधवः मद्यपानं न कुर्वन्तु इति प्रेरयन्ति। यथा-अनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधवः परमप्यस्माद्वारयन्ति प्रागेवात्मानमिति।[27] मद्यपानस्य दोषान् उद्घाटयति यथा–

शीलं निमीलयति हन्ति यशः प्रसह्य, लज्जां निरस्यति मतिं मलिनीकरोति।
यन्नाम पीतमुपहन्ति गुणांश्च तांस्तां, स्तत्यातुमर्हसि कथं नृप मद्यमद्य ॥[28]

इतोऽपि जातकमिदं मद्यपानस्य दुर्गुणान् आविष्करोति–

अनियतरुदितस्थितविहसितवाग्जडगुरुनयनो ग्रहवशग इव।
परिभवभवनं भवति च नियतं यदुपहतमतिस्तदिदमिह घटे ॥

प्रवयसोऽपि यदाकुलचेतनाः स्वहितमार्गसमाश्रयकातराः।
बहु वदन्त्यमीक्षितनिश्चयं क्रयपथेन गतं तदिदं घटे ॥

यस्या दोषात्पूर्वदिवाः प्रमत्ता लक्ष्मीमोषं देवराजादवाप्य।
त्रणापेक्षास्तोयराशौ ममज्जुस्तस्याः पूर्णं कुम्भमेतं वृणीत ॥

ब्रूयादसत्यमिव प्रतीतः कुर्यादकार्यमपि कार्यमिव प्रहृष्टः।
यस्या गुणेन सदसत्सदसच्च विद्याच्छापस्य मूर्तिरिव सा निहितेह कुम्भे ॥

उन्मादविद्यां व्यसनप्रतिष्ठां साक्षादलक्ष्मीं जननीमघानाम्।
अद्वैतसिद्धां कलिपद्धतिं तां क्रीणीत घोरां मनसस्तमिस्राम् ॥

परिमुषितमतिर्यया निहन्यादपि पितरं जननीमनागसं वा।
अविगणितसुखायतिर्यतिं वा क्रयविधिना नृपतामितो गृहाण ॥

एवंविधं मद्यमिदे नरेन्द्र सुरेति लोके प्रथितं सुराभ।
न पक्षपातोऽस्ति गुणेषु यस्य स क्रेतुमुद्योगमिदं करोतु ॥[29]

23. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 184
24. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 202
25. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 218
26. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 226
27. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 230
28. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 240
29. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 238

विसजातके वैराग्यभावसम्बन्धिनी कथा वर्तते, येषां जीवने विवेकीभावः वैराग्यभावः वा विद्यते, तेषु कामनाः प्रतिकूलाः भवन्ति।[30] तेषु कामनाः प्रतिकूलाः अवलोक्यन्ते, यथा–प्रविवेकसुखरसज्ञानां विडम्बनेव च कामाः प्रतिकूलाः भवन्ति।[30] तिलमुट्ठिजातके[31] क्रोधस्य निन्दा, कुण्डककुच्छिसिन्धवजातके[32] निर्धनावस्थायामपि एका वृद्धा कथं दानं करोतीति, संकप्पजातके[33] उद्विग्नचेतसः भिक्षुकस्य अधोगतेः विषये, मन्धाता-जातके[34] कामस्य तृष्णायाश्च निन्दा, तृष्णायाः नाशस्य प्रंशसा च, पदुमजातके वाक्चातुर्यम्, खुरप्पजातके[35] आसक्तेः निन्दा, कक्कटजातके[36] शीलसम्पन्ननार्याः प्रंशसा, सुजाता-जातके[37] मधुरं कोमलम् अनुद्धतभाषणस्य च वैशिष्ट्यम्, उदयानदूसजातके[38] स्वच्छतायाः प्रंशसा वर्तते, अत्र नित्योपयोगिनां जलाशयानां मलत्यागेन प्रदूषणेन वा अस्वच्छता न भवेत् इति नैतिकमूल्यस्य स्थापना दृश्यते।

लोलजातके[39] कामासक्तेः निन्दा, महिषजातके[40] अनाचारस्य प्रतिकारस्य, सतपत्तजातके[41] दुराग्रहत्यागस्य, सेय्यजातके[42] पैशुनस्य निन्दा, सुपत्तजातके[43] सहृदयतायाः प्रंशसा, समुद्दजातके[44] असन्तुष्टताया असन्तोषस्य वा दोषाः, महोअस्सारोहजातके[45] उपकारस्य प्रंशसा, जवसकुणजातके[46] अकृतज्ञतायाः निन्दा, छवकजातके[47] अनाचरणेन आजीविकोपार्जनस्य निन्दा, गोधजातके[48] मिथ्याचरणस्य पाखण्डस्य निन्दा, कोकालिकजातके[49] वाण्याः सदुपयोगविषये, रथलट्ठिजातके[50] विचारपूर्वकं कार्यकरणेन यशः कीर्तिश्च भवतीति, जम्बुकजातके[51] अभिमानेन व्यक्तेः नाशः सूचितः च।

एवं प्रकारेण जातकेषु नैतिकमूल्यानां शैक्षिकविचाराणां प्रतिष्ठापना विद्यते।

30. आर्यशूर-कृत जातकमाला, पृष्ठसंख्या 250
31. जातक (खण्ड 3), भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1956, पृष्ठसंख्या 07-13
32. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 17-23
33. जातक (खण्ड 3, पृष्ठसंख्या 01-07
34. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 42-46
35. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 68-70
36. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 74-78
37. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 80-85
38. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 88-90
39. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 96-100
40. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 119-122
41. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 122-126
42. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 136-140
43. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 174-177
44. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 183-185
45. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 204-208
46. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 225-226
47. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 227-230
48. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 293-295
49. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 312-315
50. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 315-317
51. जातक (खण्ड 3), पृष्ठसंख्या 324-328

उपसंहारः

भगवान् बुद्धः स्वकीयान् शिष्यान् सामान्यजनान् वा जातककथामाध्यमेन उपादिशत्। वस्तुतः बालान् निरक्षरजनान् मन्दमतीश्च कथामाध्यमेन शिक्षणम् उपदेशकरणं च सरलमार्गः भवति। सामाजिकव्यवहारस्य नैतिकाचरणस्य च ज्ञानं सर्वेषां सर्वासां वा कृते अनिवार्यत्वात् कथा माध्यमः प्रथमं सोपानं भवति। जातकसाहित्येऽपि भगवता बुद्धेन स्वकीयेषु व्याख्यानेषु उपदेशेषु वा अस्य प्रयोगः विहितः। जातकसाहित्यं सर्वम् आलोडनेन ज्ञायते यत् भारतीयशिक्षायां राष्ट्रीयशैक्षिकानुसन्धानम् एवं प्रशिक्षणपरिषद् (NCERT) इत्यनया संस्थया मानवीयमूल्यानाम् एका सूची निर्मिता वर्तते, तत्र चतुराशीतिः नैतिकमूल्यानि परिगणितानि सन्ति, तेषु प्रायशः सर्वाणीपि मानवीयनैतिकमूल्यानि जातकसाहित्ये अस्माभिः द्रष्टुं शक्यन्ते।

बौद्धदर्शनस्य मूल्यमीमांसायाः चरमलक्ष्यं शान्तिः, हृदयस्य निर्मलता, करुणा, अहिंसेत्यादिषु गुणेषु परिलक्षितं भवति। महात्मनः बुद्धस्य सर्वदा आग्रहः भवति स्म–

'चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं'[52]

बहुजनहिताय बहुजनसुखाय इत्ययं मानवीयमूल्यानाम् आवश्यकता भवति, नैतिकाचरणेन विना न सम्भवति लोकहितं लोकसुखं च। अत एव सम्यक् दृष्टिः, सम्यक् वाणी, शुद्धचिन्तनं, सत्यम्, अहिंसा, करुणा, सन्तोषः, धैर्यं, क्षमा, शीलं, परोपकारः, दया, दानम्, अष्टाङ्गमार्गादीनि च मानवीयानि नैतिकमूल्यानि जनसामान्येषु मनुष्येषु वा प्रतिष्ठापनाय जातकसाहित्यम् एतेषां गुणानां विशदं व्याख्यानं निरीक्षणं परीक्षणं च करोतीति।

52. विनयपिटक, महावग्ग

19

जातकमाला का शास्त्रीय विवेचन

डॉ. सुशील प्रसाद
(सहायक प्रवक्ता)
श्री रघुनाथ कीर्ति आदर्श संस्कृत महाविद्यालय,
देवप्रयाग (उत्तराखण्ड)

मानव अपने सत्कर्मों एवं पुण्यार्जन के द्वारा जब अपने को देवत्त्व की ओर ले जाता है, तो वह अपने अतीत एवं भविष्य में होने वाली घटनाओं का आभास पाने लगता है। बुद्ध सर्वज्ञ थे। वे अपने पूर्वजन्म में हुयी घटनाओं को भी जानते थे। सम्बोधि प्राप्ति के समय उन्हें 'पुब्बेनिवासानुसति' का ज्ञान हुआ था, यानि उन्होंने अपने पूर्व-भवों (पूर्व-जन्मों) का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसी ज्ञान के आधार पर उन्होंने अपने पूर्वजन्मों की कथाएँ अवसर आने पर अपने शिष्यों या अग्रश्रावकों को बताई। सुत्त-पिटक के तहत खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत जातक नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ की अट्ठकथा 'जातकट्ठकथा' या 'जातक-अट्ठकथा' के नाम से जानी जाती है। जातकट्ठकथा ग्रन्थ के अनुसार, जब-जब ऐसा प्रसंग आता कि किसी को कोई शिक्षा उसके चित्त की अवस्था के अनुरूप देना हो, तब वे प्रसंगानुसार अपने पूर्वजन्म की कथाएँ बताकर नैतिक शिक्षाओं का उपदेश करते थे।

इन्हीं जातक-कथाओं के आधार पर महाकवि आर्यशूर ने जातकमाला का प्रणयन किया। तदनुसार जातकमाला में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ उपवर्णित हैं। निश्चित ही वे कई जन्मों के सत्कर्मों से प्राप्त पुण्यों से बुद्धत्व को प्राप्त हुए।

इसी सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश श्रीमद् भगवद् गीता में भी प्राप्त होते हैं। तद्यथा–

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तपः॥[1]

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि चैतन्यता प्राप्त जीव जिस योनि में जाता है, पूर्वजन्मों के संस्कार उसमें विद्यमान रहते ही हैं।

तद्यथा–

एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदिः।
जन्म परमं प्राप्यं प्रागजन्मनुशिक्षितम्॥[2]

1. श्रीमद्भगवद्गीता04/05
2. श्रीमद्भागवत्-महापुराण08/03/01

बुद्ध ने बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए अनेक जन्मों तक भगीरथ प्रयास किये, जिससे उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुयी, यद्यपि मैक्समूलर एवं स्पेयर इन जातकों को बुद्ध के पूर्वजन्म के वास्तविक वृत्तान्त न मानकर उपदेश-प्रद कथाएँ ही मानते हैं। इस प्रकार की कथाओं की परम्परा तथागत बुद्ध से पहले से ही भारत में आ चुकी थी। बुद्ध और बौद्ध मतावलम्बी आचार्यों ने भिक्षु-संघ और जनता को उपदेश प्रदान करने के लिए इन कथाओं का उपयोग किया। जातक-कथाएँ बुद्ध के पूर्वजन्म की सच्ची घटनाएँ हो या काल्पनिक, किन्तु इनका उपदेश दिव्यता-पूर्ण है। बोधिसत्व के जीवन का प्रधान लक्ष्य जीव-मात्र का कल्याण है–

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

दयालु व्यक्ति अपने भारी दुःखों में भी धैर्य धारण करते हैं और दूसरे के हल्के दुःख से भी विचलित हो जाते हैं। यह आश्चर्य है–

सविद्यमाने सकले शरीरेकस्मात्परस्मान्मृगयामिमांसम्।
यादृच्छिकीतस्य हि लाभसम्पत् कार्यात्ययःस्य यच्च तथा ममायम्॥[3]

निरकृते मेदिनिसारहीने दुःखे कृतघ्ने शतता शुतौ च।
देहे परस्मायुपयुज्यमाने न प्रीतिमान्यो न विचक्षणः स्यात्॥[4]

पालि-जातक ग्रन्थों में सब प्रकार की कथाएँ हैं। अधिकांश तो हितोपदेश और पंचतन्त्र की तरह नीतिपरक एवं मनोरंजक है और कुछ बौद्धधर्म के आध्यात्मिक-उपदेशों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं–

न कश्चिद् दुर्लभा वृत्तिः सन्तोषनियतातमनाम्।
कुत्र नाम न विद्यन्ते तृणपर्णजलाशयाः॥

अविस्मयः श्रुतवतां समृद्धानाममत्सरः।
सन्तोषश्च वनस्थानां गुणशोभाविधिः परः॥

जनस्य हि प्रियार्हस्य विप्रियाख्यानवह्निना।
उपेत्य मनसस्तापः सघ्रणेन सुदुष्करः॥[5]

पालि-जातकों में मस्तिष्क और हृदय दोनों के ही गुणों के दृष्टान्त है, किन्तु संस्कृत के जातक मुख्यतः हृदय के सद्गुणों के दृष्टान्त है। पालि-जातकों में भले-बुरे लोक-व्यवहार और अधम्म-उत्तम नीति की जितनी झलक मिलती है, उतनी हृदय के सद्गुणों की नहीं, किन्तु संस्कृत-जातकों में हृदय को मृदु और उदार बनाने वाले तत्वों की प्रधानता है।

जातक-माला के सभी जातको के प्रधान-पात्र बोधिसत्व ही हैं। भगवान बुद्ध पूर्वजन्मों में भी सभी प्राणियों से अकारण ही स्नेह किया करते थे, जैसे-भूखी बाघिन जो अपने ही नवजात शिशुओं को हिंसक भाव से देख रही थी, उसे देख वोधिसत्व का हृदय करुणा के वशीभूत हो गया और वे विचारने लगे-

सत्यां च शक्तौ मम यद्युपेक्षास्यादाततायिन्यपि दुःखमग्ने।
कृत्वेव पापं मम तेन चित्तं दह्येत् कक्षं महताग्निनेव॥[6]

3. जातकमाला-व्याघ्रीजातकश्लोक सं.-17
4. वहीश्लोक संख्या-2105
5. विश्वन्तरजातकश्लोक सं.-82
6. वहीश्लोक सं.-24

उन बोधिसत्व ने अनेक दुष्कर कार्यों को भी किया, याचक द्वारा उनके नेत्र मागने पर उन्होंने उसे अपने दोनों ही नेत्र अर्पण कर दिये–

अथ स राजा नीलोत्पलदलसकलरुचिरकान्तिनयनमेकं वैद्यपरिविष्टेन विधिना शनकैरक्षतमुत्पाठ्य परया प्रीत्या च चक्षुर्याचनकाय प्रायच्छत्।

दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारणं, दानमत्सरलोभदोपरजसः प्रक्षालनं चेतसः॥

संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनम्।
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यान्तिकम्॥[7]

धर्म का मार्ग यद्यपि बड़ा ही कष्टप्रद है, किन्तु श्रेष्ठ-जन उसी मार्ग का अनुसरण करते हैं–

सुखानुलोभे गुणवाधिनिक्रमे गुणानुकूले च सुखोपरोधिनी।
न रोपितावत् गुणपक्षसंश्रयाद्विराजते किम्वघतिर्यगाकृतिः॥[8]

जीवन क्षणभंगुर है, उसका परोपकार में अधिकाधिक प्रयोग करना ही श्रेष्ठ उपाय है–

दानेन शीलाभरणेन तस्मात् पुण्याणि संवर्धयितुं यतध्वम्।
विवर्तमानस्य हि जन्म दुर्गे लोकस्य पुण्याणि परा प्रतिष्ठा॥[9]

यत् सम्प्रयोगा विरहावसानाः समुच्छयापातविरूपनिष्ठाः।
विद्युल्लता भंगुरलोलमायुस्तेनैव कार्यो दृढमप्रमादाः॥[10]

यही बात श्रीमद्भागवत् में कही गयी है–

सर्वे क्षयान्ता निचयापतनान्ता समुश्रयाः।
संयोगस्य वियोगान्ताजीवितं मरणावधिः॥[11]

शशक योनि में बोधिसत्व ने दान और पुण्यकर्म नहीं त्यागा और भूखे अभ्यागत के लिए अपना शरीर उपस्थित कर दिया–

न सन्ति मुद्गा तिला न तण्डुनावने विवृधस्य शशस्य केचन।
शरीरमेतत्वनलाभिसंस्कृतं ममोपयुज्याद्य तपोवने वसः॥

मानव का धर्म दया, दान, परोपकार है। दूसरों के दुःख में अत्यन्त दुःखी होने वाले मनुष्य अपने सुख की परवाह नहीं किया करते–

धर्मप्रियत्वात् करुणावशाद्वा, त्यज न प्रियार्थे प्रियमात्मदेहम्।
द्वेषाग्निदग्धान्यापि मानसानि प्रसादसौवर्ण्यनवानि कुर्यात्॥[12]

बोधिसत्व मांसीक्षी यक्षों को अपने ही शरीर का मांस खिलाकर उन क्रूर हृदयों में भी करुणा का संचार करने में समर्थ होते हैं, वे आसक्त हो जाने पर आत्मचिन्तन से शीघ्र ही अनासक्त होकर प्रजा का कल्याण करते हैं।

7. कुल्मासपिण्डीजातकश्लोक सं.-21
8 शशकजातकम्श्लोक सं.-04
9. वहीश्लोक सं.-08
10. वहीश्लोक सं.-07
11. वहीश्लोक सं.-29
12. मैत्रीबल जातकश्लोक सं.-47

कर्मणैव हिसंसिद्धि मा स्थिता जनकादयाः।[13]

बोधिसत्व का जीवन अलौकिक एवं आदर्श है, जीवमात्र से स्नेह की शिक्षा ही जातक-माला का ध्येय है।

जातक-माला का दूसरा नाम 'बोधिसत्वावदान-माला' है। अवदान का अर्थ सुकर्म है। इस प्रकार 'बोधिसत्वावदान-माला' का अर्थ हुआ "सुकर्मों का संग्रह।" जिनका संग्रह बोधिसत्व द्वारा अनेक जन्मों में किया गया।

जातक-माला की शैली उदात्त, ओजस्वी और अलंकृत है। अश्वघोष की रचनाओं की तरह जातक-माला भी एक कलाकार की कृति है। जातक-माला के गद्य-वाक्य समास-युक्त हैं, किन्तु उनका अर्थ स्पष्ठ है। जातक-माला की भापा पाणिनीय व्याकरण की अनुगामिनी है। जातक-माला की पाण्डुलिपियां तथा उसके चीनी अनुवाद में ग्रन्थ प्रणेता का नाम आर्यशूर ही है। व्याघ्री जातक के आरम्भ में उन्होंने अपने गुरु का उल्लेख मात्र किया है।

ग्रन्थारम्भ में उन्होंने अपनी काव्य-कृति का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि–

श्रीमन्ति सद्गुणपरिग्रहणमङ्गलानि क्रीत्यास्पदान्यनवगीतमनोहराणि।
पूर्वप्रजन्म सुमनेश्चरितादृभुतानि भक्त्या स्वकाव्यकुसुमाञ्जलिनार्चयिष्ये॥[14]

जॉनस्टन ने वुद्धचरित के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि जातक-माला की दो व्याख्याएँ विद्यमान हैं और दोनों व्याख्याएँ तिब्वती भापा में सुरक्षित हैं।[15] केर्न के द्वारा सम्पादित जातक-माला अमेरिका की हार्वर्ड प्राच्य माला के प्रथम ग्रन्थ के रूप में 1890 ई. हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस से मुद्रित हुयी तथा स्पेयरकृत अंग्रेजी अनुवाद आक्सफोर्ड की बौद्धधर्म ग्रन्थ माला के प्रथम ग्रन्थ के रूप में 1895 में प्रकाशित हुआ।

इन जातकों में प्रधानतः क्षमाशीलता, परोपकारिता, कर्तव्यपरायणता, दया एवं मानवीयता के आदर्श चित्रित हैं। विपत्तियों में पड़े प्राणियों को देखकर बोधिसत्व द्रवित हो उठते हैं। उपकृत प्राणी कृतघ्नता या विश्वासघात करते भी है, तो बोधिसत्व दयापूर्वक उनका उपकार ही करते हैं। जगत् अनित्य है, मृत्यु अवश्यम्भावी है और धर्म ही एकमात्र शरण है–यह सोचकर बोधिसत्व ने तरुणावस्था में ही तपोवन जाकर तप ध्यान किया और अन्त में ब्रह्मलोक चले गये।

मुक्तोऽपि तावद् विमृयत्स्वदेहमारब्धमशनन्नभिमानशून्यः।
तयानुभूतं प्रतियातनिन्द्रः किन्त्वन्यदेहाय गुणान्नवृगृते॥[16]

❦

13. श्रीमद्भगवद्गीता03/20
14. व्याघ्रीजातकश्लोक सं.-01
15. पी.कोर्डियर कासूचीपत्र,भाग03पृ0-417 व 513
16. श्रीमद्भागवत्महापुराण05/01/16

20

महाकवेः हर्षवर्द्धनस्य संस्कृतवाङ्मये भारतीयसंस्कृतौ च अवदानम्

देवेन्द्रप्रसादः
शोधच्छात्रः (साहित्यविभागः)
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः,
देवप्रयागः (उत्तराखण्डः)

विश्वस्मिन् विश्वे बहुविधासु तासु-तासु भापासु खलु नैकविधं साहित्यं समुपलभ्यते। एतत्साहित्यनिधौ संस्कृतसाहित्यं सर्वाधिकं प्राचीनं विपुलञ्च विद्यते। अस्मिन्नपि साहित्ये बहुविधं बहुविधाश्रितं च साहित्यं प्रणीतं जातम्। अत्र वेदादिपुरातनसाहित्यं वर्तते, तर्हि आधुनिकं विविधविधाश्रितं साहित्यमपि विराजते। अत्र सनातनपरम्परामङ्गीकृत्य साहित्यं रचितं जातम्, तु जैन-बौद्धादिधर्माणां साहित्यमपि प्रणीतमभूत्। विशेपतः विज्ञाप्यमिदं वर्तते यद् अस्मिन् संस्कृतसाहित्ये बौद्धकवीनां महद् अवदानं वर्तते। तेपां योगदानं संस्कृतवाङ्मये भारतीयसंस्कृतौ च महत्त्वपूर्णं विशिष्टं चासीत्। बौद्धकविपु बौद्धधर्ममनुसरणकर्तृपु च सम्राड् हर्पवर्द्धनो वर्तते अन्यतमः विद्वान्। सः संस्कृतसाहित्येऽपि आसीत् अंगुलिगण्येपु विद्वत्सु एकः। तस्य संस्कृतसाहित्ये त्रयः ग्रन्थाः प्राप्यन्ते–प्रियदर्शिका, रत्नावली नागानन्दश्च। हर्पवर्द्धनः भारतीयसंस्कृतेः परिपोपकः तन्निर्वाहकः कलाप्रेमी साहित्यप्रेमी चासीत्। धर्माणां विपये तेन उदारनीतेः अनुसरणं कृतम्। तेन भारतीयाः विद्वांसः सम्पोपिताः, तु वैदेशिकयात्रिणां स्वागतं सम्मानञ्चापि कृतम्।

हर्पवर्द्धनस्य परिचयः

हर्पवर्द्धनस्य पितुः नाम प्रभाकरवर्द्धनः आसीत्, राजवर्द्धनः अस्य ज्येष्ठः भ्राता अपि च राज्यश्रीः अस्य ज्येष्ठा भगिनी अभूदिति। प्रभाकरवर्द्धनस्य मृत्योपरान्तं राजवर्द्धनः राज्यासने आरुढः अभवत्, परञ्च कालान्तरेण सः मृत्युमवाप्नोत्। हर्पवर्द्धनेन 606 ई. तमे वर्पे राज्यासनमलङ्कृतमिति। अयं कविः हर्पः प्रारम्भिक-जीवनकाले दुःखग्रस्तःकालम् अपश्यत्। अस्य माता पत्युः स्वर्गवासान्तरं सरस्वती-नद्याः तीरे स्वशरीरम् अग्निना दग्ध्वा मृतवती। अस्य ज्येष्ठ-भ्रातरं गौडदेशीयो राजा शशाङ्कः हतवान्। अथ च सः राजा शशाङ्को बौद्धधर्मस्य अपमानं हानिं च कृतवान्। हर्पवर्द्धनस्य भगिन्याः राज्यश्री-त्याख्याः अभाग्यपूर्णा कथा तु सर्वविदिता वर्तते।

हर्पवर्द्धनस्य पिता प्रभाकरवर्द्धनः सूर्योपासकः आसीत्। ज्येष्ठभ्राता भगिनी च बौद्धोपासकौ आस्ताम्। स्वयं तु हर्पवर्द्धनः बौद्धोपासकः, परञ्च स्वपूर्वजपरम्परां निर्वहन् शिवसूर्ययोः पूजां करोति स्म।

सम्राट् हर्षवर्द्धनः महान् विजेता आसीत्। सम्राट् हर्षवर्द्धनः महान् विद्याप्रेमी आसीत्। सः प्राचीनस्य नालन्दाविश्वविद्यालयस्य संरक्षकश्चासीत्। तत्र तेन एकः बुद्धविहारः अपि च कांस्यमन्दिरं निर्मितम् आसीत्। स्वजीवनारम्भकाले हर्षवर्द्धनः हीनयान बौद्धधर्मस्य साम्मितीयसम्प्रदायस्य अनुयायी आसीत्; किन्तु कालान्तरेण युआन-च्वाङ्गस्य प्रभावस्वरूपं महायानं प्रति गतः। हर्षवर्द्धनः राजा आसीत्, परञ्च सः कश्चित् महाकविः काव्यप्रणेता अपि अभूत्।

ऐतिहासिकदृशा पश्यामश्चेत् अनेके हर्षनाम्नः कवयः सञ्जाताः आसन् पुरातने काले। ते च वर्तन्ते–

1. स्थाण्वीश्वरस्य (थानेश्वरस्य) राजा, यस्य जीवनविषये बाणभट्टेन हर्षचरितम् गद्यकाव्यं लिखितम्।
2. धारा नगर्याः राजा मुञ्जस्य पिता एवञ्च भोजराज्ञः पितामहः।
3. नैषधचरितमहाकाव्यस्य रचयिता।
4. काव्यप्रदीपस्य रचयिता गोविन्दठक्कुरस्य अनुजभ्राता।

विविधप्रमाणबलेन ज्ञायते यत् यस्य जीवनविषये बाणभट्टेन हर्षचरितम् गद्यकाव्यं लिखितम्, सः एव थानेश्वरमहाराजः हर्षवर्द्धनः नागानन्दस्य कर्ता अस्ति।

अस्य समर्थने चीनीयात्री इत्सिङ्गस्य प्रबलतमं प्रमाणमस्ति। तद्यथा–

"King Shiladitya (i.e. Harsa) versified the story of Bodhi Sattva Jimuta Vahana (Lit Cloud-borne) who surrendered himself in place of a Naga. this version was set to music (Lit string and pipe) He had performed it by a band accompanied by dancing and acting and thus popularised it in his time."

(Records of the Buddhist Religion Page 163-164 Translated by Takakusu)

अर्थात् सम्राट् शीलादित्येन (हर्षवर्द्धन) जीमूतवाहनस्य (बोधिसत्त्वस्य) कथायाः पद्यानुवादः कृतः आसीत्, येन जीमूतवाहनेन नागानां स्थाने स्वशरीरसमर्पणं कृतमासीत्।

तेन राज्ञा तन्नाटकं सङ्गीताभिनयादिभिः प्रदर्श्य स्वजीवनकाले एव तस्य प्रसिद्धिः कारिता आसीत्। अनेन संस्कृते त्रयः ग्रन्थाः लिखिता–प्रियदर्शिका, रत्नावली नागानन्दश्च। एषु त्रिष्वपि 'नागानन्द'-नाटकं वर्तते; द्वे नाटिके स्त। एतेषां त्रयाणाम् उल्लेखः धनञ्जयस्य दशरूपके अभवत्। आनन्दवर्द्धनाचार्यस्य ध्वन्यालोके रत्नावलीनागानन्दयोः उल्लेखो वर्तते।

कवि जयदेवेन स्वनाटके प्रसन्नराघवस्य प्रस्तावनायां श्रीहर्षवर्द्धनाय कविताकामिन्याः हर्षः इत्युक्तः–

यस्याश्चौरश्चिकुर-निकुरः कर्णपूरो मयूरो,
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषां कथय कविताकामिनीकौतुकाय॥

राजशेखरेण वाग्देव्याः प्रभावः उक्तः–

अहो! प्रभावो वाग्देव्याः यन्मातङ्ग-दिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥

श्रूयते यत् कवयः स्वान्तःसुखाय अपि काव्यरचनां कुर्वन्ति स्म। यथा खलु तुलसीदासेनोक्तम्–

'स्वान्तसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' इति।

तत्र तासु तासु रचनासु तत्तत्कवीनां मनोगतभावानां परिचयो दृश्यते। कवेः काव्यादेव तस्य प्रकृतिविषये ज्ञातुं शक्यते। कविः स्वकाव्येषु स्वहृदयस्य भावनां प्रकटयति। एतदाधारीकृत्य हर्षवर्द्धनविषये विचारयामः चेत् नागानन्दं नाटकम् अनुशीलनीयम्।

हर्षवर्द्धनस्य प्रसिद्धं नाटकं नागानन्दं पश्यामश्चेत् तत्र नागानन्दाख्ये नाटके पञ्च अङ्काः सन्ति। नागानन्दनाटके वर्णितवृत्तस्य मूलस्रोतः ईसायाः प्रथमशताब्देः कविगुणाढ्येन विरचितस्य पैशाचीप्राकृतस्य बृहत्कथाग्रन्थोऽस्ति। नागानन्द-नाटकं एकं विशिष्टं नाटकं वर्तते; यतोहि सामान्येन नाटके नायकनायिकानां वर्णनं भवति। अपि च तत्र काचित् लोकप्रसिद्धा घटना भवति उपवर्णिता आहोस्वित् पौराणिकी काचित् कथा। परञ्च नागानन्द-नाटकम् एकं तादृशं नाटकमस्ति; यस्मिन् नाटके विशिष्टं तत्त्वं नायकस्य औदार्यं दृश्यते। तत्र आस्तिक-नास्तिकदर्शनानां तत्त्वसारः वर्तते, अहं तु इति मन्ये यथा कालिदासस्य सर्वस्वम् अभिज्ञानशाकुन्तलं तथैव हर्षवर्द्धनस्य सर्वस्वं नागानन्दं नाटकम् इति। नागानन्द-नाटके जीमूतवाहनः नायकः वर्तते। स च नागानां रक्षायै स्वशरीरत्यागं समर्पणञ्च करोति।

नागानन्दस्य कथानकबौद्धधमदिव उद्धृतोऽस्ति। बौद्धजातकेषु नागानन्दस्य कथा वर्णिता दृश्यते। अस्य नाटकस्य नायकः जीमूतवाहनः स्वादर्शचरित्राय प्रसिद्धोऽस्ति, परोपकाराय आत्मत्यागभावनायाः पूर्णपरिपाकः अत्र अस्मिन्नाटके दृश्यते।

अस्य नाटकस्य मङ्गलाचरणम्–

ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं
पश्यानङ्गशरातुरं जनमिमं त्राताऽपि नो रक्षसि।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यः पुमान्
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितोबोधौ जिनः पातु वः॥

अस्य नाटकस्य मङ्गलाचरणे तथागतस्य भगवतो बुद्धस्य नामाङ्कितं वर्तते 'बोधौ जिनः पातु वः' अर्थात् सः भगवान् बुद्धः युष्मान् रक्षतु इत्यर्थः।

अनेन ज्ञायते हर्षवर्द्धनः परमबौद्धः अनुयायी आसीत्। अस्य नाटकस्य नायकः जीमूतवाहनः जीमूतकेतोः पुत्रः वर्तते। जीमूतवाहनस्य पितरौ प्रति समर्पणभक्तिः एतावती वर्तते यत् समृद्धराज्यमपि विहाय सः तपोवने पितृभ्यां सह निवासं कृत्वा तयोः सेवायाम् स्वजीवनस्य सार्थकतां स्वीकरोति।

स्वभावे उदारता तु वसुधैव कुटुम्बकमिव वर्तते संसारस्य दरिद्रतामपहाय कल्पवृक्षस्यापि दानं करोतीति। त्यागस्य भावना तु एतादृशी बलवती यत् नागमिव तुच्छप्राणिरक्षायै गरुडाय स्वशरीरसमर्पणं करोतीति।

पुनः सः प्रत्येकं जन्मनि मानवशरीरधारणाय कामना करोति, येन एतादृशं त्यागं कर्तुं सः क्षमो भवेदिति। तद्यथा–

संरक्षता पन्नगमद्य पुण्यं मयार्जितं यत् स्वशरीरदानात्।
भवे भवे तेन ममैव भूयात् परोपकाराय शरीरलाभः॥ (4.26)

जीमूतवाहनः गरुडं मांसभक्षणकाले कथयति यत्-

शिरामुखै स्यदन्त एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणं त्वं विरतो गरुत्मन्॥

तुच्छशरीराय जीवहिंसा तु अस्यदृष्टौ महामूर्खता वर्तते–

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते॥

अस्मिन्नाटके सर्वत्र बौद्धधर्मस्य अहिंसा-दया-करुणा-शान्ति-मैत्र्यादि विचाराणां नायकस्य व्यवहारे आचरणं दृश्यते। एततु नायकस्य न, अपितु साक्षाद् हर्षवर्द्धनस्य चरित्रम् अपि च हर्षवर्द्धनस्य भावना नाटकेऽपि वयं तत्र द्रष्टुं शक्नुमः। धैर्य-क्षमा-विनय-दानशीलता-सत्य-करुणा-त्यागादयः सद्गुणाः हर्षनायकयोः परिलक्षिताः भवन्ति इति। एतत्सर्वं विज्ञाय वयं वक्तुं शक्नुमः एतदस्मभ्यम् अस्मत्संस्कृत्यै च विशिष्टावदानं वर्तत इति। हिंसायाः विरोधी तु हर्षवर्द्धनः पूर्वमेवासीदेव। तेन विचारितं यद् युद्धस्थाने शान्तिपूर्वकं कार्यं भवेत् चेदुचितमेव।

न केवलमिदमेव अपितु धावक-बाणभट्ट-मयूर-दिवाकर-मातङ्ग-राजकवयः आसन्। हर्षवर्द्धनस्य उदारचरितं वीक्ष्य तु कवयः विद्वांसश्च सहजतया तस्य साहचर्ये सान्निध्ये च निवसन्ति स्म।

अस्मिन्नाटके बौद्धवैदिकयोः सम्मिश्रणेन अस्योपयोगिता संस्कृतसाहित्ये नित्यं वर्धत एव।

21

नागानन्द नाटक में बुद्ध-प्रतिपादित करुणा-भाव

दीपचन्द्र चौरसिया
शोधच्छात्र, संस्कृतविभाग,
कलासंकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी
दूरभाप : 9670124072
e-mail-deepchUndra250293@gmail.com

बौद्धकाव्य कृतियों को हम भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्त्व एवं उनके धर्म का साकार स्वरूप मानते हैं, क्योंकि दोनों ही इनमें पूर्ण प्रतिफलित हुये हैं। प्रायः समस्त बौद्ध कृतियाँ बुद्ध-विचारों एवं सिद्धान्तों का स्वरूप हैं। इन कृतियों से यदि तथागत बुद्ध को पृथक् कर उनका परिशीलन करना चाहें, तो सम्भवतः ये वैसे ही प्राणहीन प्रतीत होंगी, जैसे ईसा-मसीह से पृथक् बाइबिल अथवा ईसाई-साहित्य। इन बौद्ध कृतियों के सर्वांगीण आकलन, समीक्षण तथा इनके महत्त्व के निमित्त इन्हें सांस्कृतिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के निकष पर उतारकर परीक्षण करना होगा, जिसके लिये अपेक्षित है–बुद्ध-वाणी, बौद्धधर्म के यथार्थ स्वरूप का विश्लेषण, भगवान् बुद्ध के अद्वितीय व्यक्तित्त्व तथा उनके मानवेतर वैशिष्ट्यों का सम्यक् परिज्ञान।

भगवान् बुद्ध के अप्रतिम तथा विद्याचरण सम्पन्न व्यक्तित्त्व से लोक-जीवन श्रद्धान्वित हो उठा था। इसी कारण बुद्धवचनों ने परवर्ती संस्कृत-साहित्य पर व्यापक प्रभाव डाला। यद्यपि भगवान् बुद्ध ने अपने प्रवचन जनभाषा पालि में दिये, किन्तु परवर्ती बौद्धों ने दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन के लिये संस्कृत का आश्रय लिया। विशेष-रूप से बौद्धधर्म की महायान-परम्परा ने संस्कृत को अंगीकार किया। जिसके फलस्वरूप संस्कृत के माध्यम से विपुल साहित्य की रचना हुयी। वस्तुतः बौद्धधर्म का मूल सन्देश अहिंसा एवं करुणा है, जिसके प्रचार के लिये बौद्ध-मतानुयायियों ने सरस साहित्य का आश्रय लिया, चूँकि शास्त्र 'कटुकौषधिवत्' होता है, जिसका आस्वादन साहित्य द्वारा सम्भव हो पाता है।

इस क्रम में राजा हर्ष, जो कि परवर्ती काल में बौद्धमत में दीक्षित हो गये थे, इन्होंने बुद्ध के करुणा सिद्धान्त को आधार बनाकर 'नागानन्द' नामक नाटक की रचना की। यद्यपि इसको हर्ष का स्वीकार करने में कुछ विद्वान् आपत्ति भी करते हैं। जिनमें आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश के 'काव्य-प्रयोजन' की वृत्ति ही 'हषदिर्धावकादीनामिव धनम्' के अनुसार राजा हर्ष ने धावक नामक कवि को धन देकर ग्रन्थ लिखवाया था। किन्तु अधिकांश विद्वान् इसे हर्ष का स्वीकार करते हैं।

ग्रन्थ में बुद्ध-प्रतिपादित करुणा पर विचार करने से पूर्व मूल कथानक का परिज्ञान अत्यावश्यक है, जिसके अनुसार 'नागानन्द' पाँच अंकों का नाटक है, जिसके रचनाकार महाकवि हर्षवर्धन हैं। इसमें

महाकवि हर्षवर्धन ने विद्याधरराज के सुपुत्र जीमूतवाहन की प्रणयकथा तथा त्यागमय जीवन का उल्लेख किया है। इस नाटक का स्रोत बौद्धकथा है, जिसका मूल बृहत्कथा एवं 'वेतालपञ्चविंशतिका' में प्राप्त होता है।

मूलकथा इस प्रकार है–

'प्रथम अंक में, विद्याधरराज जीमूतकेतु वृद्ध होने पर वानप्रस्थ ग्रहण करते हैं। वे इस विचार से वन की ओर प्रस्थान करते हैं कि उनके पुत्र जीमूतवाहन का राज्याभिषेक हो जाये, परन्तु पितृभक्त जीमूतवाहन राज्य का त्याग कर पितृसेवा हेतु अपने मित्र आत्रेय के साथ वन-प्रस्थान करता है। वह पिता को खोजता हुआ मलय-पर्वत पर पहुँचता है, जहाँ देवी गौरी के मन्दिर में पूजा करती हुयी उसे मलयवती दिखायी पड़ती है। दोनों मित्र गौरी देवी के मन्दिर में जाते हैं एवं मलयवती के साथ उनका साक्षात्कार होता है। स्वप्न में देवी गौरी मलयवती को उसका भावी पति जीमूतवाहन को बतलाती हैं। जब वह स्वप्न-वृतान्त को अपनी सखी से कहती है उसी समय जीमूतवाहन कुंज में छिपकर उनकी बातें सुन लेता है। विदूषक दोनों को मिलाना चाहता है, किन्तु एक संन्यासी के आने से उनका मिलन सम्पन्न नहीं होता।

द्वितीय अंक में, मलयवती कामातुरावस्था में दिखायी गयी है। जीमूतवाहन भी कामातुर है। इसी बीच मित्रावसु आता है तथा अपनी बहन मलयवती की मनोव्यथा को जानकर वह उसका विवाह किसी अन्य राजा से करना चाहता है। मलयवती को जब यह पता चलता है, तब वह प्राण-त्याग करना चाहती है, किन्तु सखियों द्वारा उसको रोक लिया जाता है। तत्पश्चात् जीमूतवाहन और मलयवती का विवाह सम्पन्न हो जाता है।

तृतीय एवं चतुर्थ अंक में, नाटक के कथानक में परिवर्तन होता है। एक दिन घूमते हुये जीमूतवाहन तथा मित्रावसु समुद्रतट पर पहुँच जाते हैं, जहाँ उन्हें तत्काल वध किये गये सर्पों की अस्थियों का ढेर दिखायी पड़ता है; जिससे ज्ञात होता है कि ये अस्थियाँ गरुड़ के प्रतिदिन भोजन के रूप में खाये गये सर्पों की हैं। इस वृतान्त को जानकर जीमूतवाहन अत्यन्त दुःखित होता है तथा अपने मित्र को अकेला छोड़कर वह बलि-स्थल पर जाता है, जहाँ शंखचूड़ की माता विलाप कर रही हैं, क्योंकि उस दिन उनके पुत्र की बलि होने वाली है। जीमूतवाहन प्रतिज्ञा करता है कि वह स्वयं अपना प्राण देकर इस हत्या को रोकेगा।

महाकवि हर्षवर्धन कहते हैं-

दृष्टः सिद्धैः प्रसक्तस्तुतिमुखरमुखैरस्तमप्येष गच्छन्।
एकः श्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः॥[1]

इसका भावार्थ यह है कि संसार में सहस्रों लोग जन्म लेते हैं तथा मरते हैं, लेकिन बहुत कम ही लोगों की श्लाघा के पात्र बनते हैं। सूर्य भगवान् ही एकमात्र संसार के श्रद्धाभाजन बने हुये हैं, इसका कारण यही है कि अपने क्लेशों की चिन्ता न करते हुये वे आ-दिवस संसार के कल्याण में ही लगे रहते हैं। निद्रा में प्रसुप्त जगत् को जगाकर अपनी किरणों से सभी को प्रसन्न कर देते हैं तथा नित्य नव-जीवन प्रदान करते रहते हैं। इसीलिये सम्पूर्ण जगत् प्रातःकाल उठकर नित्य-प्रति अंजलिबद्ध होकर भगवान् भास्कर की स्तुति करता है। इस प्रकार जगत् में सराहनीय जीवन उसी का है, जो परोपकार करता है, जिससे किसी का भला होता है तथा जो स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ को महत्त्व देता है।

1. चन्द्र, डॉ. संसार, नागानन्द नाटक (3/18), मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, 1986, पृ. 121

इसी कड़ी में आगे भी कह रहे हैं–

सर्वाऽशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते॥[2]

भावार्थ यह है कि जगत् में अज्ञानता के वशीभूत होकर लोग शरीर को ही महत्त्व देते हुये पाये जाते हैं। "मेरा पेट भर जाय, बाकी जायें रसातल को" इस भावना को लेकर अहर्निश स्वार्थ में सन्नद्ध आये दिन जो प्राणियों पर अत्याचार ढाये रहते हैं। वस्तुतः वे महान् मूर्ख हैं। उनको इतना भी समझ नहीं है कि जिस शरीर के लिये हम इतना पाप कर रहे हैं, वह शरीर मलमूत्रादि मलिन वस्तुओं का आगार है, यह शरीर कृतघ्नी है, क्योंकि इसको खिलाओ-पिलाओ तथा बनाओ-संवारों, किन्तु अन्त में यह साथ छोड़ देता है, यह विनाशवान् भी है, आज है–तो कल नहीं। इस प्रकार मलिन, वंचक तथा क्षणभंगुर शरीर के लिये पाप करना–कितनी मूर्खता की बात है। कुछ दिन स्थिर वाले शरीर से बुद्धिमान् लोग तो उपकार एवं पुण्य-सम्पादन किया करते हैं, लेकिन अज्ञानी लोग अपकार तथा पाप ही अर्जित करते हैं–यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

पंचम अंक में, जीमूतवाहन प्रतिज्ञानुसार बलि-स्थल पर जाता है, जिसे गरुड़ अपनी चोंच से पकड़कर मलय-पर्वत पर ले जाता है। जीमूतवाहन को लौटा हुआ न देखकर उसके परिवार के लोग उद्विग्न हो जाते हैं। इसी बीच रक्त एवं मांस से आप्लावित जीमूतवाहन की चूड़ामणि उसके पिता के समीप गिर पड़ती है और सभी लोग चिन्तित होकर उसकी खोज में निकल पड़ते हैं। मार्ग में जीमूत-वाहन के लिये रोता हुआ शंखचूड़ मिलता है तथा सम्पूर्ण वृत्तान्त बतलाता है। यह जानकर सभी लोग गरुड़ के पास पहुँचते हैं। गरुड़ जीमूतवाहन को खाते-खाते उसका अद्भुत धैर्य देखकर उससे परिचय पूँछता है तथा चकित हो जाता है। इसी बीच शंखचूड़ के साथ जीमूत-वाहन के माता-पिता पहुँचते हैं तथा शंखचूड़ गरुड़ को अपना दोष बतलाता है।

गरुड़ अत्यधिक पश्चात्ताप करते हुये आत्महत्या करना चाहता है, पर जीमूतवाहन के उपदेश से भविष्य में हिंसा न करने का संकल्प करता है। जीमूतवाहन घायल होने के कारण मृत-प्राय हो जाता है तथा गरुड़ उसे जीवित करने के लिये अमृत लाने चला जाता है। उसी समय देवी गौरी प्रकट होकर जीमूत-वाहन को स्वस्थ बना देती हैं तथा वह विद्याधरों का चक्रवर्ती बना दिया जाता है। फिर गरुड़ आकर वहाँ अमृत की वर्षा करता है। इसके फलस्वरूप सभी सर्प जीवित हो उठते हैं। अन्त में, सभी आनन्दित हो जाते हैं और भरतवाक्य के साथ प्रस्तुत नाटक की समाप्ति हो जाती है। नाटक का भरतवाक्य इस प्रकार है–

शिवमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः॥[3]

यह भरतवाक्य, नाटक की अन्तिम प्रार्थना है–'जगत् के सभी प्राणियों का कल्याण हो, किसी का भी किसी प्रकार अनिष्ट न हो। प्राणी स्वार्थ को त्यागकर, परोपकार में ही जीवन को लगायें। हमारी बुराइयाँ दूर हों तथा हम सब दुर्लभ मानव जन्म पाकर पुण्यों का संचय करें; जिससे कि जीवन सफल बने। जगत् में कहीं भी किसी को दुःख न मिले, सदा सब सुखी रहें।

2. चन्द्र, डॉ. संसार, नागानन्द नाटक (4/7), मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, 1986, पृ. 131
3. चन्द्र, डॉ. संसार, नागानन्द नाटक (5/41), मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, 1986, पृ. 223

प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रखना, सभी को सुखी देखना एवं सबका कल्याण चाहना बौद्ध परम्परा की महत्तम विशेषता है, जो इस भरतवाक्य के माध्यम से प्रस्तुत की गयी है। इस नाटक की नान्दी में बुद्ध का आवाहन तथा बुद्धचरित की घटनाओं का समावेश किया गया है।

यद्यपि यह नाटक अनेक रसों से आप्लावित है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रकरणानुसार भिन्न-भिन्न रसों का प्रयोग हुआ है, किन्तु इस नाटक का समापन करुणा भाव में हो रहा है। यद्यपि करुणा-भाव विभिन्न धर्मों का मूलभूत तत्त्व है, चूँकि ग्रन्थ का शुभारम्भ बुद्ध-वन्दना से हुआ है। स्वयं रचनाकार महाकवि हर्षवर्धन भी बौद्ध-मत के अनुयायी हैं और 'नागानन्द' नाटक के बीज भी जातक कथाओं में उपलब्ध होते हैं, इसीलिये यह ग्रन्थ बौद्धधम्म के उत्स या उपजीव्य वस्तु 'त्रिपिटक' से प्रभावित है।

निश्चित ही नागानन्द नाटक विश्व में मैत्री-भाव तथा लोक-मंगल का लोक-सन्देश प्रदान करता है। वर्तमान युग के लिए इस नाटक में उपस्थापित की गयी शिक्षाएँ अत्यन्त प्रासंगिक हैं।

22

शूद्रकविरचिते मृच्छकटिके बौद्धदर्शनस्य साहित्यशास्त्रीयं मूल्याङ्कनम्

प्रतीकदत्तः
शोधच्छात्रः
कर्नाटकसंस्कृतविश्वविद्यालयः, बेङ्गलुरु

पश्पशा–

महाकविशूद्रकविरचितं मृच्छकटिकमिति प्रकरणं[1] संस्कृतरूपकसाहित्ये विशिष्टं स्थानं भजते। प्रकरणस्य वृत्तं तु लौकिकं कविकल्पितं लोकवृत्ताश्रितं च भवति[2]। मृच्छकटिकस्य कथानकं तु लोकप्रसिद्धं चारुदत्त- वसन्तसेनयोः प्रेमवृत्तान्तमाधारीकृत्य कविकल्पितं वृत्तं भवति। अस्मिन् प्रकरणे रूपककारेण प्राचीनभारतस्य जनजीवनस्य चरित्र-चित्रणं शोभनरीत्या विवृणीतम्। विशेषतः तात्कालिके समाजे मध्यमवर्गस्य तथा निम्नमध्यमवर्गस्य जनानां सामाजिकी राजनैतिकी धार्मिकी च स्थितिः कीदृशी आसीदिति अस्य प्रकरणस्य पठनेन सम्यक् ज्ञायते। राज्ञः पालकस्य तथा तस्य श्यालकस्य च व्यभिचारवृत्तान्तः, ब्राह्मणगणिकयोर्मध्ये प्रेमसम्बन्धः, हिन्दुबौद्धप्रभृतीनां धर्मावलम्बीनां च सामाजिकी स्थितिरित्येतान् सामाजिकविषयानधिकृत्य प्रकरणमिदं रचितम्।

मृच्छकटिकस्य रचनाकालः क इति विषयमधिकृत्य विद्वत्सु मतानैक्यं विद्यते। अस्य प्रकरणस्य भाषाशैलीं तथा विविधपक्षान् विचार्य अनुमातुं शक्यते यत् क्रैस्ताब्दे पञ्चमशतके मृच्छकटिकं शूद्रकेण विरचितमिति।

अस्मिन्प्रकरणे भिक्षोः संवाहकस्य वर्णनाप्रसङ्गे रूपककारेण तात्कालिके समाजे बौद्धधर्मावलम्बीनां स्थितिः प्रस्ताविता। भिक्षुः संवाहकस्तु अस्य प्रकरणस्य कश्चन प्रमुखं पात्रमस्ति। द्वितीये अङ्के द्यूतक्रीडायाः

---

1. धनञ्जयस्य नये प्रकरणस्य लक्षणम्
भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्॥
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।
नायिका कुलजा, क्वापि वेश्या क्वापि क्वचिद् द्वयम्॥दशरूपकम्
2. तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदतृतीयकः।
कितवद्यूतकारादिविटचेटसङ्कुलः॥ साहित्यदर्पणम्

वर्णनाप्रसङ्गे संवाहकस्य वृत्तान्तं कविना उपस्थापितम्। अस्मिन् प्रकरणे संवाहकः कश्चन धृतव्रतः सत्याश्रयी कर्मपरायणो धीरः पुरुषः चास्ति। अस्य प्रकरणस्य अष्टमेऽङ्के पुनः भिक्षोः संवाहकस्य उल्लेखः प्राप्यते। किञ्च कृतज्ञस्य नीतिपरायणस्य भिक्षोः संवाहकस्य विपत्तिकाले निर्णयकारणादेव प्रकरणस्य परिसमाप्तिः सुष्ठु सम्पन्ना भवति।

अस्मिन् शोधपत्रे मृच्छकटिकप्रकरणे वर्णितस्य बौद्धदर्शनस्य साहित्यशास्त्रीयं मूल्याङ्कनं तन्नैतिकशिक्षायाः विविधाः पक्षाश्च उपस्थाप्यन्ते।

मृच्छकटिकस्य रचयिता तथा रचनाकालः–

मृच्छकटिकमित्यस्य प्रकरणस्य रचयिता राजा शूद्रकोऽस्तीति प्रकरणस्य भूमिकाभागे ज्ञायते। ततः ज्ञायते यत् राजा शूद्रकः क्षत्रियेषु श्रेष्ठतमः कविः बभूव[3]। सः शर्वप्रसादात् ऋग्वेदं सामवेदं गणितं वैशिकिं कलां हस्तिशिक्षां च ज्ञात्वा मृच्छकटिकमिति प्रकरणं व्यरचत्[4]। तत्रैव वर्ण्यते यत् शूद्रकः शतायुरभवत् तथा सोऽसौ कविः सततसमरव्यसनी, प्रमादशून्यः, मल्लयुद्धे पारङ्गमः क्षितिपालः च बभूव इति[5]।

वस्तुतः मृच्छकटिकस्य रचयिता शूद्रकः अस्ति न वेति विषये विद्वत्सु मतानैक्यं विद्यते। प्रथमे अङ्के शूद्रकस्य परिचयप्रदानकाले सर्वत्र लिट् लकारस्य यथा 'किल', 'चकार', 'बभूव' इत्येतादयः प्रयोगाः दृश्यन्ते। अपि च शूद्रकः शताब्दं यावदायुं प्राप्तवानिति कविपरिचयप्रदानकाले कथं कविना स्वयमुल्लिख्यते इति शङ्का उत्पन्ना भवति। बहुभिः पण्डितैः मन्यन्ते यत् शूद्रकः इति नामाभिधेयः कोऽपि कविः नासीदपि तु अन्येन केनापि कविना शूद्रकस्य नामोल्लेखं विधाय प्रकरणमिदं रचितमिति[6]।

स्कन्दपुराणे राज्ञः शूद्रकस्य उल्लेखः प्राप्यते। केचन प्रतिपादयन्ति यत् शूद्रकः वस्तुतः आन्ध्रदेशीयः राजा सिशुकः सिमुखो वा आसीदिति। अपरे चिन्तयन्ति यत् आभीरवंशस्य राज्ञः शिवदत्तस्य अपरं नाम शूद्रक असीदिति। वेतालपञ्चविंशतिरिति ग्रन्थे तथा कल्हणविरचिते राजतरङ्गिणी इत्यत्र इतिहासग्रन्थे, कथासरित्सागरे च शूद्रकस्य उल्लेखः प्राप्यते। आन्ध्रवंशस्य 'वासिष्ठिपुत्र-पुलमावि' इत्यस्य नामाभिधेयस्य राज्ञः अपरं नाम शूद्रक आसीदिति ज्ञायते। हर्षचरिते तथा कादम्बरी इति काव्ये च शूद्रकस्य उल्लेखः प्राप्यते।

---

3. एतत् कविः किल
   द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च।
   द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः ॥ मृ.क. 1।3
4. ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
   ज्ञात्वा शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुपी चोपलभ्य।
   राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
   लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥ मृ.क. 1।4
5. समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदो वेदविदां तपोधनश्च।
   परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥ मृ.क. 1।5
6. दृष्टव्यम्आचार्य जगदीशचन्द्रमिश्रेण सम्पादितम् मृच्छकटिकम्, भूमिका पृ. 9 (चौखाम्बा सुरभारती प्रकाशनम् 1996)
7. तत्रैव, पृ. 9

पण्डितप्रवरस्य डा. पिशेलवर्यस्य मतानुसारं मृच्छकटिकस्य रचयिता दण्डी अस्तीति। 'त्रयी दण्डिप्रबन्धाश्च' इति कथनानुसारं तेन प्रतिपादितं यत् दण्डिनः तृतीया कृतिरस्ति मृच्छकटिकमिति प्रकरणम्[7]।

मृच्छकटिकमित्यस्य प्रकरणस्य मुख्यं प्रतिपाद्यं भवति चारुदत्तवसन्तसेनयोर्प्रेमवृत्तान्तमिति। इदं वृत्तं तु भासविरचितस्य 'दरिद्रचारुदत्तम्' इति नाटकस्य उपजीव्यं भवति। अत्र कविना नवीनकथानकस्य तथा नूतनपात्राणामुपस्थापनं विहितम्। मृच्छकटिकं तु मुख्यतः शृङ्गारपरकं प्रकरणमस्ति। क्रैस्ताब्दे पञ्चमशतके भारतीयसमाजस्य संरचना कीशी आसीदिति अस्य प्रकरणस्य पठनेन सम्यक् ज्ञायते। अस्य भाषाशैली तु विलक्षणा अस्ति। संस्कतभाषामतिरिच्य अत्र शौरसेनी, मागधी, प्राच्या, अवन्तिका प्रभृतीनां प्राकृतभाषाणां तथा शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की प्रभृतीनां विभाषाणाम् उल्लेखः प्राप्यते[8]।

भिक्षोः संवाहकस्य सामान्यपरिचयः–

शाक्यश्रमणव्रताचरणात्प्राक् भिक्षुः संवाहकरूपेण समाजे प्रतिष्ठितो जातः। सः स्थिरनिश्चयः सत्याश्रयी कर्मपरायणः कश्चन धीरः पुरुषः अस्ति। विपरीतकाले तस्य मतिः विभ्रान्ता न भवति। द्वितीये अङ्के वसन्तसेनया सह तस्य सम्भाषणप्रसङ्गे भिक्षोः संवाहकस्य व्यक्तित्वस्य परिचयं प्राप्यते। संवाहकः पूर्वं पाटलिपुत्रस्य कश्चन सभ्यो नागरिक आसीत्। भाग्यविपर्ययात् सः उज्जयिन्यां सम्प्राप्तः तथा संवाहनकलां ज्ञात्वा चारुदत्तस्य संवाहकरूपेण कार्यमकरोत्। भिक्षुः संवाहकः दैववादी नासीत् अतः भाग्यविपर्ययकारणात् सः निरुत्साहो न जातः अपि तु कर्मपारायणोऽभवत्। परन्तु दैवात् तस्य स्वामी चारुदत्तोऽपि निर्धनो जातः। तदनन्तरं संवाहनवृत्तिं परित्यज्य सः द्यूतक्रीडायां मग्नो जातः। अत्रावधेयमस्ति यत् द्यूतक्रीडायाम् उत्साहितस्य संवाहकस्य आत्मग्लानिः न भवति। एकदा सः द्यूतक्रीडायां पराजितोऽभवत्तथा दण्डाचरणभयात् ततः पलायितः। परन्तु माथुरः द्यूतकारः च तस्य अनुधावनं कुरुतः। तदानीं प्राणरक्षणाय सः वसन्तसेनायाः गेहमुपसर्पति। वसन्तसेना तदा स्वकीयानि स्वर्णाभूषणानि माथुराय द्यूतकाराय च प्रदाय संवाहकस्य प्राणरक्षां करोति। अनया घटनया संवाहकस्य मनसि आत्मग्लानिर्भवति तथा तस्य हृदयपरिवर्तनं भवति। सः प्रव्राजकव्रतं धृत्वा बौद्धश्रमणो भवष्यतीति निर्णयं कृतवान्। अयमेव बौद्धभिक्षुः प्रकरणस्य अन्तिमे भागे मरणापन्नायाः मूर्छितायाः वसन्तसेनायाः जीवनरक्षणं करोति।

अस्मिन् प्रकरणे रूपककारेण भिक्षोः चरित्रचित्रणं विशिष्टरूपेण विहितमस्ति। यदा द्यूतक्रीडायां पराजितः संवाहकः वसन्तसेनायाः शरणापन्नो जातः तदानीं स मिथ्याचारं नाचरति। सः वसन्तसेनायै सर्वं वृत्तान्तं यथावत् विवृणोति। अपि च सः वसन्तसेनायाः निकटे चारुदत्तस्य प्रशंसनं विदधाति। एवञ्च भिक्षुः संवाहकः कश्चित् कृतज्ञो जनः अस्ति। यदा वसन्तसेना अस्य प्राणरक्षां करोति तदानीं सः स्वकीयं कार्तज्ञ्यं प्रकटयितुं वसन्तसेनायाः परिजनजनान् संवाहनकलाम् अनुशिक्षयितुमैच्छत्[9]।

भिक्षुः संवाहकस्तु सदैव दृढप्रतिज्ञस्तथा कृतनिश्चयः अस्ति। वसन्तसेना तं निवारयति श्रमणव्रतधारणाय, परन्तु आत्मग्लानेः कारणात् सः तस्याः वचनं न शृणोत्यपि तु बौद्धभिक्षुकस्य जीवनं यापयति। सः बौद्धधर्मस्य नियमान् नैतिकसिद्धान्तान् श्रद्धया निश्चयेन निष्ठया च पालयति।

बौद्धभिक्षूणां कृते स्त्रीसंस्पर्शनं तु वर्जितमस्ति। भिक्षुः संवाहकोऽपि अस्य नियमस्य अनुपालनं सम्यक् रूपेण करोति। प्रकरणस्य अन्तिमे चरणे सः वसन्तसेनामुद्दिश्य गुल्मलतिकां निक्षिपति यस्याः साहाय्येन सा दण्डायमाना जाता। एवं प्रकारेण सः वसन्तसेनायाः जीवनरक्षणमपि करोति।

---

8. तत्रैव, पृ. 13
9. "संवाहकःआर्ये। यद्येवम्, तदियं कला परिजनहस्तगता क्रियताम्।" इति य मृ.क. (द्वितीयोऽङ्कः)

मृच्छकटिके वर्णितानां बौद्धदर्शनस्य नैतिकधर्माणां विवेचनम्–

आर्यसत्यस्य ज्ञानम्, अष्टाङ्गिकमार्गस्य अनुपालनं, तत्त्वत्रयस्य अनुधावनमिति विविधान् बौद्धदर्शनगर्भितविषयान् प्रसङ्गानुगुणं कविः प्रकरणेऽस्मिन् उपस्थापयति। भिक्षोः संवाहकस्य उल्लेखः मुख्यरूपेण द्वितीये तथा अष्टमे अङ्के प्राप्यते। द्वितीये अङ्के द्यूतक्रीडायां पराजितस्य संवाहकस्य मञ्चे आविर्भावः भवति। त्रस्तः भीतः संवाहकः माथुरहस्तात् प्राणरक्षणार्थं जनविरले कस्मिंश्चित् देवालये देवस्य शरणं गच्छति। परन्तु धूर्तः माथुरः तं प्राप्नोति तथा तस्य ताडनं करोति। तदानीं दर्दुरकस्य साहाय्येन निष्क्रान्तः सः वसन्तसेनायाः गेहमुपसर्पति। अत्र वसन्तसेनया सह तस्य कथोपकथनसन्दर्भे संवाहकस्य नैतिकादर्शस्य परिचयः प्राप्यते। वसन्तसेना यदा संवाहकं धनिकस्य संज्ञां पृच्छति तदानीं सः कथयति–

सत्कारधनः खलु सज्जनः कस्य न भवति चलाचलं धनम्।
यः पूजयितुमपि जानाति स पूजाविशेषमपि जानाति॥[10] इति

अपि च सः अङ्गीकरोति यत्सः चारित्र्यविशेषे द्यूतोपजीवि सञ्जात इति। एवञ्च यदा वसन्तसेना प्रत्युपकारस्य भावनया विना तस्य साहाय्यं कृतवती तदानीं तस्य हृदयपरिवर्तनं जातम्। तदानीमेव सः निश्चयं कृतवान् बौद्धश्रमणरूपेण सः जीवनयापनं करिष्यतीति। वसन्तसेनामुद्दिश्य सः कथयति–".. अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि। तत् संवाहको द्यूतकरः शाक्यश्रमणकः संवृत इति स्मर्तव्यानि आर्यया एतानि अक्षराणि" इति। तदानीं कृतसङ्कल्पेन तेन भणितम्–

द्यूतेन तत् कृतं मे यद्विहस्तं जनस्य सर्वस्य।
इदानीं प्रकटशीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि॥[11] इति

पुनः प्रकरणस्य अष्टमे अङ्के आर्द्रचीवरहस्तस्य भिक्षोः आविर्भावः भवति। अष्टमे अङ्के भिक्षुः कश्चन प्रवुद्धः शाक्यश्रमणकरूपेण आविर्भूतः भवति। तस्य वचनेन स्पष्टं ज्ञायते यत्सः सम्पूर्णरूपेण परिवर्तितो जातः इति। मञ्चे प्रविश्य सः सर्वप्रथमं सर्वानुद्दिश्य वदति–"अज्ञाः ! कुरुत धर्मसञ्चयम्" इति। बौद्धानां जीवनदर्शनं प्रकटयता भिक्षुणा भणितम्–

संयच्छत निजोदरं नित्यं जागृत ध्यानपटहेन।
विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसञ्चितं धर्मम्॥[12] इति

स्वजठरं स्वल्पभोजनादिना नियन्त्रणं कर्तव्यम्य ध्यानपटहेन अर्थात् अवधानरूपढक्कानादेन नित्यं जागरणं कर्तव्यम्य यतो हि विषमाः विषयग्रहणसाधनभूततस्कराः चिरसञ्चितं पुण्यकर्म हरन्ति इति श्लोकस्यार्थः। अत्र बौद्धशीलस्य तथा प्रज्ञायाः सिद्धान्तः कविना उपस्थाप्यते। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे श्लोकद्वयस्य उल्लेखः भवति। किञ्च तेन भणितम्–

पञ्चजना येन मारिताः स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः।
अबलश्च चाण्डालो मारितः अवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते॥[13] इति

10. मृ. क. 2।15
11. मृ.क. 2।17
12. मृ.क. 8।1
13. मृ.क. 8।2

बौद्धदर्शनस्य गूढसिद्धान्तस्य प्रतिपादनमस्मिन् श्लोके प्रतिपाद्यते कविना। अस्य श्लोकस्य अन्वयार्थः एवं क्रियते–

'येन प्रबुद्धजनेन पञ्चजनाः (पञ्चज्ञानेन्द्रियानि) वशीकृताः, यः स्त्रियम् विषयोपभोगस्पृहावर्द्धिनीमविद्यां मारयित्वा स्वनियन्त्रणे कृत्वा य ग्रामः आत्मनिवासभूतं शरीरं रक्षितः परित्रातः य अबलः निर्बलः चाण्डालः अहङ्कारः कामो वा च पुनः मारितः विनाशितः, स नरः अवश्यं सुरलोकं गाहते गच्छति' इति।

अस्मिन्नेव प्रसङ्गे आदर्शभूतस्य श्रमणकस्य लक्षणं विवृणोति कविः–

शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं चित्तं न मुण्डितं किमर्थं मुण्डितम्।
यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम्॥[14] इति

केशानां तथा श्मश्रोः मुण्डनेन कोऽपि श्रमणको न भवति य अपि तु चित्तस्य यदा शुद्धिर्भवति तदानीमेव कश्चन साधुः भवति। अत्र शुद्धिपदेन वाह्यशुद्धिः नाभिधीयतेऽन्तःशुद्धिरेव तात्त्विकी शुद्धिरिति भावः।

भिक्षुः संवाहकः एतादृशानां तत्त्वसिद्धान्तानामनुपालनं स्वयं करोति स्म। अष्टमे अङ्के भिक्षु-शकारयोः संवादप्रसङ्गे जीर्णोद्याने शकारः परिव्राजकं संवाहकम् आक्रोशति तथा तं ताडयति च। परन्तु देहेन मनसा च अहिंसाधर्मस्य पालनं कुर्वन् भिक्षुः न क्रोधितः जातः। भिक्षोः दार्शनिकसिद्धान्तानां परिचयः अत्र प्राप्यते। प्रत्युपकारमतिः सः चिन्तयति यावत्पर्यन्तं वसन्तसेनायाः उपकारं न विदधाति तावत्पर्यन्तं तस्य स्वर्गाभिलाषः न भवेदिति[15]। वसन्तसेनां तत्र मूर्छितां प्राप्य सः सदेव तस्याः साहाय्यं करोति। अपि च वसन्तसेना यदा तस्य परिचयज्ञापने असमर्था अभवत् तदानीं सः अकपटमेव सर्वं पूर्ववृत्तान्तं तां संस्मारयति। अत्रावधेयमस्ति यत् भिक्षुः गणिकां वसन्तसेनां "बुद्धोपासिका" इत्याख्यया सम्बोधयति।

अस्य अङ्कस्य अन्तिमे श्लोके बौद्धधर्मस्य सारतत्त्वं भिक्षुकमुखात् कविना भणितं यथा–

हस्तसंयतो मुखसंयत इन्द्रियसंयतः स खलु मानुषः।
किं करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते निश्चलः॥ 8.47 इति

सः खलु मनुष्यत्वेन मान्यो भवति यः हस्तेन संयतः, मुखेन संयतः तथा इन्द्रियैः संयतः भवति। तथाविधस्य एव जनस्य परलोकः निश्चलः भवति।

अस्मिन् प्रकरणे भिक्षोः चरितस्य अध्ययनेन प्रतिभाति यत् सः बुद्धोपदिष्टस्य मध्यमप्रतिपदः सम्यक् अनुधावनं करोतीति। यद्यपि भिक्षोः संवाहकस्य उल्लेखः प्रकरणे बहुत्र नास्ति, तथापि संवाहकः भिक्षुः अस्मिन् प्रकरणे प्रमुखं स्थानं प्राप्नोति।

उपसंहारः

मृच्छकटिकप्रकरणस्य अध्ययनेन प्रतिभाति यदस्मिन् प्रकरणे नियतिवादस्य प्रभावः सर्वत्र दृश्यते। समाजे हिन्दुधर्मावलम्बीनां जीवनशैली कीदृशी आसीत् तथा बौद्धधर्मस्य प्रभावः कीदृशः अभवदित्यपि सुष्ठु ज्ञायते।

14. मृ.क. 8।3
15. संवाहको भिक्षुः -" ... अथवा अलं ममैतेन स्वर्गेण। यावत्तस्या बुद्धोपासिकायाः प्रत्युपकारं न करोमि, यया दशानां सुवर्णकानां कृते द्यूतकराभ्यां निष्क्रीतः, ततः प्रभृति तया क्रीतमिवात्मानमवगच्छामि।" इति।

शूद्रकः बौद्धधर्मस्य प्रमुखान् सिद्धान्तान् अस्मिन् प्रकरणे सूक्ष्मरूपेण साहित्यिकशैल्या प्रतिपादितवानस्ति। भिक्षुकस्य आदर्शभूतं जीवनं कीदृशं भवेदिति विषयेऽपि अष्टमे अङ्के विशदेन वर्णनं विधीयते। अहिंसायाः आचरणं, प्रत्युपकारस्य चिन्तनं, शीलस्य अनुपालनमित्येतादृशाः विविधाः बौद्धदर्शनस्य सारगर्भितसिद्धान्ताः अत्र प्रतिपादिताः सन्तीति शम्।

सन्दर्भग्रन्थाः–

1. मृच्छकटिकम् (व्याख्याकारः–डा. जगदीशचन्द्रमिश्रः), चौखाम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी,

2. Mrichchakatikam (World View Edition)

3. Two Plays of Ancient India by VUn BuitenUn

शोधप्रबन्धाः

The Little Clay Cart: The Construction of Gender and Emotion in Act V, "The Storm"

By Mohan R Limaye and Kim Price, Sahitya Akademi.

23

बौद्ध-संस्कृत ग्रन्थों तथा पुराणों में सम्राट् अशोक

- सुखबीर सिंह शास्त्री

सहायकाचार्य

राजीव गान्धी-महाविद्यालय,

सहा-अम्बाला (हरियाणा)

एवम् अध्यापक शोधार्थी, रा.सं.सं., नई दिल्ली

दूरभाष–95412 03432

ई-मेल–sukhbir_alp@yahoo.com

सम्राट् अशोक न केवल भारतवर्ष के ही, अपितु सम्पूर्ण विश्वेतिहास के महानतम सम्राटों में अन्यतम विभूति है। यदि यह कहा जाये कि मौर्कस ओरलियस, सम्राट् शार्लमा, सिकन्दर महान् और अकबर के गुणों का समन्वित रूप भी सम्राट् अशोक की समकक्षता को प्राप्त नहीं कर सकता; तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। इस कारण से ही एच.जी. वेल्स महोदय ने अशोक महान् को अद्वितीय सम्राट् माना है। भारतीय साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अद्वितीय मानवीय-सेवा के कारण उन्हें प्रियदर्शी, अशोक, पिय्यदसि, अशोकवर्धन, मौर्यराज–इत्यादि नामों से पुकारा जाता है।

प्रियदर्शी सम्राट् अशोक का जीवन-चरित बहुत ही रोमांचक तथा अप्रत्याशित घटनाओं से परिपूर्ण है। क्योंकि सम्राट् अशोक अपने जीवन के पूर्वार्ध में अत्यन्त निर्दयी एवं क्रूर-दुर्दान्त शासक के रूप में प्रसिद्ध रहे तथा जीवन के अपरार्ध में अहिंसा के परमोपासक के रूप में जीवन व्यतीत किया। ऐसा परिवर्तन केवल और केवल विश्व के प्रकाश भगवान् बुद्ध के धर्म में दीक्षित होने के कारण ही सम्भव हो सकता।

अहिंसक नाम वाले माणवक से डाकू अंगुलिमाल बनने की कथा इतिहास-प्रसिद्ध है। वहीं डाकू 999 अंगुलियां की माला को धारण करने वाला डाकू अंगुलिमाल भगवान् बुद्ध के सम्पर्क में आने पर दया और करुणा की मूर्ति बन जाता है एवं अनुत्तर-अनुपम अर्हत्पद पर प्रतिष्ठित होता है। एक समय चारिका करते हुए, एक गर्भवती स्त्री की प्रसव पीड़ा को देखकर उसके मन में अपार करुणा जागृत होती है। वह उसकी पीड़ा से द्रवित हो उठता है तथा तथागत के समीप जाकर उसकी पीड़ा-मुक्ति के लिए याचना करने लगता है। तब तथागत उस स्त्री के लिए मंगल-मैत्री करने का निर्देश देते हैं। तथागत बुद्ध के निर्देश पर वह अपने सारे पुण्यों के प्रताप से उस स्त्री विरहितता की कामना करता है, जिससे उसकी प्रसव-पीड़ा कम होती है तथा उससे स्वस्थ बालक का जन्म होता है। इसी प्रकार सम्राट् अशोक के हृदय-परिवर्तन की घटना भगवान् बुद्ध के धम्म में ही सम्भव है।

भारतीय साहित्य विशेषतः संस्कृत-साहित्य इतिहास-लेखन की दृष्टि से नहीं लिखा गया। यही कारण है कि अनेक विषयों में आज भी हमें पर्याप्त जानकारियाँ उपलब्ध नहीं हो पायी हैं। अस्तु नाम, भारतीय इतिहास सम्पूर्ण भारतीय इतिहास साहित्य प्रपञ्च में यद्यपि सम्राट् अशोक विषयक सामग्री मात्रा में अल्पीयसि ही उपलब्ध होती हैं; तथापि सम्राट् अशोक के विषय में जानने के लिये इतिहासकार मुख्यतया चार सोपानों का आश्रय लेते हैं–

1. अशोक के अभिलेख,
2. पौराणिक संस्कृत साहित्य,
3. पालि-वंस साहित्य और
4. बौद्ध-संस्कृत साहित्य (मिश्र-संस्कृत-साहित्य)।

उक्त साक्ष्यों के आधार पर सम्राट् अशोक के विषय में इस प्रकार जानकारियाँ प्राप्त होती है–

1. अशोक के अभिलेख–

अशोक महान ने अपने धर्म के सिद्धान्तों एवं राजनैतिक-आदर्शों के लोक-ख्यापन हेतु अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों में अभिलेख लिखवाये थे। ये अभिलेख तात्कालीन भारत के अथवा यों कहें कि मौर्य-साम्राज्य के चतुर्दिक स्थानों से प्राप्त हुये हैं। इनकी संख्या प्रायः 33 है। जिनमें अशोक के चौदह अभिलेख विशेषरूप प्रसिद्ध हैं। प्रियदर्शी अशोक-वर्धन के इन अभिलेखों को हम उसके बौद्धधर्म जीवन-नियामक आदर्शों एवं ऐतिहासिक तथ्यों का नवनीत रूप मान सकते हैं। सम्राट्-अशोक की मनोभावनाएँ कितनी पवित्र एवं उदात्त थी, ये उसके अभिलेखों में यत्र-तत्र सुगुम्फित है।

एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

"देवानं पिये पियदसि लाजा सवता इछति सवपासंड वसेतु। सवेहिते ते सयमं भावसुधि चा इछति। जाने चु उचावुच छन्दे उचादुचलागे। ते सवं एकदेसंपि कछंति। विपुले पि चु दाने असा नयि समये भावसुधि किटनाता दिडभतिता चा निचे वाडं।"[1]

अशोक के अभिलेखों से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि पर्यावरण-संरक्षण, शिल्प-कलाओं के विकास तथा अनेक विज्ञानों के संरक्षण एवं पोषण में सम्राट् अशोक की महती भूमिका सिद्ध हो चुकी है। चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में उसकी भूमिका प्रशंसनीय रही।

'उसने न केवल मानवों के हित में, अपितु पशुओं के हित-सुख के लिए भी औषधालयों की स्थापना की थी।' वस्तुतः भारतवर्ष में पशु-चिकित्सालय निर्माण का श्रेय सम्राट्-अशोक को ही जाता है।

इस प्रसंग में तो सम्राट् अशोक भवभूति के नायक मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी के वचनों का अनुसरण करते हुये प्रतीत होते हैं–

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥[2]

1. चतुर्दश शिलालेख (कालसी) सप्तम लेख।
2. उत्तररामचरितम्, भवभूति

इसी सन्दर्भ में उपर्युक्त अभिलेख में ही सम्राट अशोक ने लिखवाया है–

"सवता विजतसि देवानं पियस पियदसिसा लाजिने ये च अन्ता अथा चोडा पंडिया सातियपुतो केतलपुतो तंवपनि अन्तयोग नाम योनहाजा ये चा अन्ते तसा अंतियोगसा सामन्ता लाजानो सवता देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने दुवे चिकिसका कटा मनसुचिकिसा पसुचिकिसा चा आसेधीनि मनुसापेगानि चा पसापेमानि चा अतता तथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा एवमेवा मुलानि चा फलानि चा अतता तथि सवता हालपिता एवमेवा मुलानि चा फलानि चा अतता तथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा। मगसे लुखानि लोपितानि उदुयानानि खानापितानि पटिभोगाये पसुमुनिसानं।"[3]

2. पौराणिक संस्कृत साहित्य–

पुराणों में सम्राट् अशोक के विषय में उपलब्ध वर्णन–

संस्कृत में लिखित पुराण-साहित्य में अनेक सम्राटों तथा महापुरुषों का वर्णन प्राप्त होता है। इसी तारतम्य में पौराणिक ग्रन्थों में सम्राट अशोक विषयक विभिन्न तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होता है। सम्राट् अशोक के सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व बिन्दुसार ने 25 वर्षों तक शासन किया था–

भविता नन्दसारस्तु पञ्चविंशत् समा नृपः।[4]

पौराणिक सामग्री और ऐतिहासिक स्रोतों में बहुत अनेक साम्य तथा तारतम्यता प्राप्त होती हैं। सम्राट अशोक के अभिलेखों में वर्णित बहुत सारे स्थल पुराणों में निर्दिष्ट नामों से प्रकारान्तर से सिद्ध होते हैं।

यथा–साहबाजगढी अभिलेख में निर्दिष्ट तथ्य महाभारत के एक श्लोक से सिद्ध हो जाता है। महाभारत में वर्णित है कि–

'कर्णं राजपुरं गत्वा कम्बोजा निर्जितास्तथा।'[5]

ब्रह्म-पुराण में सम्राट् अशोक द्वारा आख्यायित 'नाभिकपुर' का वर्णन मिलता है। इसी तरह वायुपुराण में पुलिन्दों का निवास-स्थल 'विन्ध्याचल' बताया गया हैं। इस अभिलेखीय वाक्य को निर्दिष्ट करता है–

पुलिन्दा विन्ध्यमलिका वैदर्भा दण्डकैः सह।[6]

युगपुराण में मौर्य-साम्राज्य के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान् जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। मौर्य सम्राट् अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) की नगर-व्यवस्था वर्णन युगपुराण में इस प्रकार मिलता है–

ततः पुष्पपुरे प्राप्ते प्रथिते हिते।[7]

3. चतुर्दश शिलालेख (कालसी) द्वितीय आलेख
4. वायुपुराण 99/332
5. महाभारत
6. वायुपुराण 55/126
7. गार्गी संहिता (युगपुराण, 17)

इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड-पुराण और वायु-पुराण में अशोक के सम्राट् के सुपुष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। उनके विषय में जानकारी इस प्रकार से प्राप्त होती है–

चतुर्विंशत् समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति।
भविता भद्रसारस्तु पञ्चविंशत् समा नृपः॥
षट्त्रिंशत् तु समा राजा अशोको भविता नृषु॥[8]

अशोक ने मौर्यसाम्राज्य का शासन 36 वर्षों तक किया था उसके पश्चात् अशोक के उत्तराध्किारियो ने मगध्साम्राज्य पर शासन किया था–

षट्त्रिंशत् तु समा राजा अशोको भविता नृषु॥
तस्य पुत्रः कुनालस्तु वर्षाण्यष्टौ भविष्यति।
कुनालसूनुरष्टौ च भोक्ता वै बन्धुपालितः॥

बन्धुपालितदायादो दश भावीन्द्रपालितः।
भविता सप्तवर्षाणि देववर्मा नृपाधिपः॥

राजा शतधनुश्चाष्टौ तस्य पुत्रो भविष्यति।
बृहद्रथश्च वर्षाणि सप्त वै भविता नृपः॥

इत्येते नव मौर्या वै भोक्ष्यन्ति च वसुन्धराम्।[9]

यदि उपर्युक्त पौराणिक अनुश्रुति को सत्य माने तो ज्ञात होता है कि अशोक एवं उसके उत्तराधिकारियों ने लगभग 137 वर्षों तक भारतवर्ष पर राज्य किया।

यहाँ प्रसङ्गवशात् ये भी समझना अनिवार्य हो जाता है कि ब्रह्माण्ड-पुराण एवं वायु-पुराण ने नौ मौर्य-सम्राटों की सत्ता स्वीकार की गई है, किन्तु मत्स्य-पुराण एवं विष्णु-पुराण में यह संख्या दस हो जाती है।[10]

पुराणों में मौर्यवंशीय सम्राटों का क्रमिक वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु ब्राह्मणेत्तर वर्ण एवं क्षत्रियेत्तर होने के कारण पुराणों में अशोक महान् का उतना महिमा-मण्डन नहीं किया गया है जैसा कि बौद्ध-संस्कृत साहित्य में उसकी महत्ता दिखाई पड़ती है।

3. पालि-वंस साहित्य–

पालि-भाषा में सुमहत् वंस-साहित्य की प्राप्ति होती है। यह साहित्य विशेष रूप से इतिहास लेखन के क्रम में लिखा गया है। पालि-साहित्य के अन्तर्गत श्रीलंका में विरचित दीपवंस तथा महावंस ग्रन्थों से सम्राट् अशोक के जीवन की विशेष झांकी प्राप्त होती है।

4. बौद्ध-संस्कृत साहित्य (मिश्र-संस्कृत-साहित्य)–

बौद्धसाहित्य में सम्राट् अशोक का अत्यधिक सम्मानजनक स्थान है। बौद्धसाहित्य में सम्राट् अशोक का अत्यधिक सम्मानजनक स्थान है। बौद्ध संस्कृत-साहित्य के द्वारा ही हम सम्राट् अशोक के विषय में

8. ब्रह्माण्ड 74/144-45 एवं वायुपुराण 99/331-32
9. ब्रह्माण्ड-पुराण 74/144-149, वायुपुराण 99/331-336
10. मत्स्य पुराण272/22-26 तथा विष्णुपुराणअध्याय24

पूर्णता से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अशोक विषयक सामग्री से ओत-प्रोत अवदान साहित्य बौद्ध संस्कृत-साहित्य का आधरभूत तत्त्व है। दिव्यावदान नामक ग्रन्थ में अशोक के जीवन के घटना-क्रमों का सूक्ष्म एवं सटीक वर्णन उपलब्ध होता है, किन्तु कुछ इतिहासकारों के मत में अवदान साहित्य के वर्णनों को कपोल-कल्पना और नितान्त अतिरंजना माना गया है।[11]

फिर भी अशोक महान् के जीवन को व्याख्यायित करने वाले मुख्य दिव्यावदान के अंगभूत ग्रन्थ-रत्न (अवदान संख्या–26, 27, 28 एवं 29) निम्नवत् हैं–

1. **पांशुप्रदानावदानम्**
2. **वीतशोकावदानम्**
3. **कुणालावदानम्**
4. **अशोकावदानम्**

अवदान साहित्य में अशोक का जीवन-चरित एक बहु आयामी व्यक्तित्त्व के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। जो सम्राट् अशोक अति महत्त्वाकांक्षा से ग्रस्त होकर कलिंग युद्ध के भीषण रक्तपात का कारण बनता है वही भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रवर्तित अष्टाङ्गिक-मार्ग का अनुसरण करते हुये वीतरागी और परम अहिंसक जीवमात्र का उद्धारक बन जाता है तथा सत्य-मार्ग पर आजीवन चलता है। इस दौरान वह बौद्ध-तीर्थों की यात्रा पर निकल पड़ता है–

यदा मया शत्रुगणान्निहत्य प्राप्ता समुद्राभरणा सशैल।
एकातपत्रा पृथिवी तदा मे प्रीतिर्न सा या स्थविरंनिरीक्ष्य॥
त्वद्दर्शनान्मे द्विगुणः प्रसारः सञ्जायतेक्रस्मिन् वरशासनाग्रे।
त्वद्दर्शनाच्चैव परोक्रपि शुद्ध्याद्वन्टो मयाथाप्रतिमः स्वयम्भूः॥12

वस्तुतः बौद्ध संस्कृत-ग्रन्थों के अनुशीलन से ही यह तथ्य ज्ञात होता है कि जो अशोक कलिंग युद्ध के भीषण रक्त-पात का कारण बना वह कैसे शस्त्र-विजय को त्यागकर शास्त्र-विजय अथवा धर्म-विजय के लिये निकल पडा?

अशोक द्वारा बौद्ध-संगीति का आयोजन, संघ के प्रति समर्पण, 84, 000 स्तूपों का निर्माण, बौद्ध-तीर्थों की यात्राओं का वर्णन हमें बौद्ध संस्कृत-साहित्य के द्वारा ही होता है।[13] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सम्राट् अशोक विषयक तथ्यों के परिशीलन हेतु हमें बौद्ध ससंकृत-साहित्य रूपी रत्नाकर का अवगाहन करना ही होगा, जिससे 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' का चमत्कृत रूप सुधीजनों के समक्ष प्रकट हो सके।

सम्राट् अशोक के जीवन और कर्तृत्व के विषय में तिब्बती और चीनी इत्यादि भाषाओं में भी सूत्र अवश्य प्राप्त होते हैं। श्रीलंका, वर्मा, थाइलैण्ड, जापान, मंगोलिया इत्यादि देशों में भगवान् बुद्ध के इस अनन्य अनुयायी की उसकी मानववादी शिक्षाओं के प्रचार तथा अद्वितीय मानवीय-सेवा के लिए पूजा-आराधना होती है।

11. नन्द मौर्ययुगीन भारतपृ. 6/242, डॉ. के.ए. नीलकण्ठ शास्त्री
12. दिव्यावदान पृ. 38
13. दिव्यावदानम्, पृ.-405

24

महाबोधिद्रुमविजयस्य ऐतिहासिकः सन्देशः

पङ्कजः
साहित्याचार्यप्रथमवर्षच्छात्रः
श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः,
देवप्रयागः (उत्तराखण्डः)

भारतदेशस्य इतिहासः अत्यन्तं प्राचीनः वर्तते। यतोहि अस्य देशस्य संस्कृतिः अत्यन्तं प्राचीना वर्तते। इतिहासस्य संस्कृतेश्च पारस्परिकः सम्बन्धो भवति। भारतदेशस्य संस्कृतिः अत्यन्तम् उन्नता विकसिता च आसीत्। तस्माद् अयं च इतिहासः अत्यन्तं गौरवमयः आसीत्। दुर्भाग्यात् इतिहासस्य ज्ञानार्थं स्रोतसामग्र्यः अल्पाः एव सन्ति। प्रायः इतिहासज्ञानार्थं स्रोतःसामग्रीरूपेण अभिलेखानां पुरातात्त्विकसामग्रीणां च प्रयोगः क्रियते। एतन्मध्ये तात्कालिकसाहित्यमपि स्रोतःसामग्र्याः कार्यं करोति। भारतीयेतिहासः ज्ञातव्यश्चेत् अत्र प्राचीनाः भारतीयाः भाषाः विशेषमुल्लेखमर्हन्ति। अत्रापि पालि-प्राकृत-संस्कृतभाषाः महत्त्वपूर्णाः सन्ति इतिहासज्ञानार्थम्। दुर्भाग्यात् पालि-प्राकृतयोः भाषयोः अपेक्षया संस्कृते इतिहासः न्यूनः एव विद्यते। अस्मिन् साहित्ये यत् पाऽराणिकं साहित्यं लभ्यते, तदपि इतिहासनाम्ना अस्माभिः व्यवह्रियते। किन्तु तथा न भवतिकाव्यं भिन्नवस्तुजातं वर्तते इतिहासश्च भिन्नो विषयः। कल्पितकाव्यं कदापि इतिहासः भवितुं नार्हति।

भारतदेशस्य सन्दर्भे पश्यामश्चेत् इतिहासस्तु समेषां भवति, किन्तु केषाञ्चित् प्राप्यते, अन्येषां विलुप्तं च भवति। तदपि भुवि मुख्यं स्थानं इतिहास एव भजते। प्राचीनकाले राजतरंगिणी-सदृशानि काव्यानि लिखितानि अभवन्, येषाम् आश्रयेण अद्य इतिहासकाराः इतिहासस्य विषये ज्ञातुं प्रभवन्ति। तथैव चरितकाव्यानि अपि कदाचित् इतिहासस्य स्रोतःसामग्रीरूपेण कार्यं कुर्वन्ति। बुद्धचरितं सौन्दरनन्दं प्रभृतिकाव्यानि भगवतो बुद्धस्य बौद्धधर्मस्य च विषये पर्याप्ताम् इतिहाससामग्रीम् अस्माकं दृक्पथमानयन्ति। संस्कृते एतादृशानि नैकानि काव्यानि सन्ति। तत्र पालिभाषायां तु वंससाहित्यं प्रामुख्येन इतिहासस्य एव [illegible] करोति। महावंस-दीपवंसयोः प्रभुता इतिहाससामग्री विद्यते।

आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये डॉ. प्रफुल्लगडपालविरचितं खण्डकाव्यं महाबोधिद्रुमविजयम् इतिहासग्रन्थश्च आगच्छति। ग्रन्थोऽयम् ऐतिहासिकघटनानाम् उपस्थानं करोति।

खण्डकाव्येषु प्रमुखं स्थानं कालिदासप्रणीतस्य मेघदूतस्य वर्त्तते। तस्मिन् मेघदूते पूर्वमेघः उत्तरमेघश्च भागद्वयं प्राप्यते। तथाऽत्र अस्मिन् महाबोधिद्रुमविजय-खण्डकाव्येऽपि भागद्वयमस्ति। कस्यापि ग्रन्थस्य मुख्यभागो भवति मुखपृष्ठम्। ग्रन्थस्य मुखपृष्ठमाकर्षकं स्यादिति विदुषामाशयः। ये कलाकोविदाः सन्ति, कलाविज्ञाः सन्ति, कलापरीक्षकाः सन्ति–तेषामिदम् अभिमतं यत् मुखपृष्ठं सर्वदा आकर्षकं भवेदिति।

मुखपृष्ठं दृष्ट्वा सहृदयानां पाठकानां मनः तत्र अवश्यं रमते। तद्दृष्ट्या अस्य खण्डकाव्यस्य मुखपृष्ठमपि आकर्षकमस्ति।[1] अस्मिन् मुखपृष्ठे भगवतो बुद्धस्य सम्बोधिप्राप्तिकालस्य चित्रं विलसति। भगवान् बुद्धः ग्रन्थस्य वर्ण्य-विषयस्य महाबोधिद्रुमस्य अधः उपविश्य ध्यान-साधनायां लीनो दृश्यते। पृष्ठभागात् चन्द्रमसः प्रकाशः मन्द-मन्दमागच्छति।

अस्मिन् विषये किञ्चिद् विचारयामः–

मुखपृष्ठे भगवतो बुद्धस्य यत् छायाचित्रं दृश्यते। तत्र बुद्धः यस्य वृक्षस्य तले उपविष्टः दृश्यते। तस्मिन् विषये अत्र प्रश्नः उदेति भगवतो बुद्धस्य सम्बन्धः केन वृक्षेण वर्त्तते। अस्योत्तरं प्रायः सर्वेऽपि जानन्ति–बोधिवृक्षेण बुद्धस्य सम्बन्धः। अस्य मुखपृष्टदर्शनेन अत्र एतद् प्रमाणीभवति यत्–अस्मिन् खण्डकाव्ये वृक्षस्य कथा वर्णिताऽस्ति। अतः प्रथमं सोपानं प्रशंसनीयमस्ति। एवमेव ग्रन्थस्य पृष्ठभागे लेखकपरिचयः प्राप्यते। तत्र सर्वतः आकर्षकमस्ति लेखकस्य छायाचित्रम्। कीदृशं छायाचित्रमिति विचारणीयम्–लेखकः बौद्धधर्मस्य विहारस्य पुरस्तात् दृश्यते, निश्चयेन स्थानमेतद् बोधगयास्थितं बौद्धकेन्द्रं वर्तते। अयमेव विहारः महाबोधि-विहारः कथ्यते साम्प्रतम्, पुरा अपि अनेनैव नाम्ना अस्य व्यवहारो जायते स्म।

कविना ग्रन्थे सर्वादौ पालिभाषया महाबोधिवृक्षस्य वन्दनं विहितम्। इदं च वन्दनम् अनेन पालिवन्दनाग्रन्थात् स्वीकृतं वर्तते। इयं गाथा पालिसाहित्ये अतीव प्रसिद्धा वर्तते।

तथागतः बुद्धः न कस्यचित् गुरोः ज्ञानेन बुद्धो जातः। कस्यचित् वाग्मिनः उपदेशेन तस्य ज्ञानं नैव जागृतम्। सः स्वयं जागृतो जातः। स्व-परिश्रमेण, स्वस्य पारमिताभिः स्वस्य पुण्यार्जनेन...। परञ्च यदा सः सम्बोधिं प्राप्तवान्, तदा तन्मनसि आश्रयीभूतस्य तस्य वृक्षस्य विषये श्रद्धा जागृता अभवत्। स च तदा तत्र तं महावृक्षं वन्दते। तस्मिन् विषये इयं गाथा गीता वर्तते, पालिस्तव-साहित्ये–

यस्स मूले निसिन्नो व सब्बारिं विजयं अका,
पत्तो सब्बञ्ञूतं सत्था वन्दे तं बोधिपादपं।

इमे हेते महाबोधिं लोकनाथेन पूजिता,
अहंपि ते नमस्सामि बोधिराजा नमत्थु ते॥[2]

अस्याः गाथायाः अयं भावार्थः–

'यस्य वृक्षस्य अधः उपविश्य भगवता बुद्धेन चित्तस्य संस्काररूपिण्यां मारसेनायां विजयः प्राप्तः आसीत्। तदनन्तरं च सः शास्ता जातः, बुद्धः सञ्जातः। तं बोधिपादपम् अहं नमामि। अयं च बोधिवृक्षः सः एव वर्तते, यः सर्वज्ञेन बुद्धेन बोधिप्राप्त्यन्तरं पूजितो जातः। अहम् अपि तं बोधिराजं महावृक्षं नमामि। हे बोधिराज! ते नमोऽस्तु इति।'

इत्येवं तस्मिन् पुरातने स्तवे अयं महाबोधिद्रुमविजयकारः अपि महाबोधिद्रुमं प्रति स्वस्य स्तुतिं प्रस्तौति–नूनम् अयम् अस्य काव्यस्य किञ्चन विनूतनः प्रयोगः वर्तते।

तदनन्तरम् आयाति समर्पणस्य विषयः। महाबोधिद्रुमकारः डॉ. प्रफुल्लगडपालः ग्रन्थं कस्मै समर्पयतीति जिज्ञासायां सत्यां कथ्यते अग्रे।

---

1. मुखपृष्ठम्महाबोधिद्रुमविजयम्
2. महाबोधिवृक्षवन्दनम्महाबोधिद्रुमविजयम्

अस्मिन् विषये कविः वक्ति-

सप्तदश्यां तिथौ मासि सितम्बरे मिते ध्रुवम्।
त्रयोदशोत्तरे काले खिष्टाब्दे द्विसहस्रके॥

धर्मपालजयन्त्यां च शुभेऽह्नि शुभे मते।
काव्यं शुभं मयारब्धं महाबोधिद्रुमस्मृतौ॥

समर्प्यते मयेदं वै तस्मै सद्धर्मदर्शिने।
अर्हते धर्मपालाय सौगताय वराय च॥[3]

(अर्थात् 17 सितम्बर, 2013 को अनागारिक धर्मपाल जयन्ती के अवसर पर सम्पूर्ण विश्व में अत्यन्त शुभ माने गये इस मंगलकारी दिवस पर उनके मंगल-मय कर्मों से पुनः पल्लवित महाबोधिवृक्ष की पावन स्मृति में मैंने इस शुभ काव्य का आरम्भ किया।

इस काव्य को मैं सद्धर्म के उसी महान् दृष्टा, अर्हत्, सौगतिक (बुद्ध-पुत्र) तथा विश्व की महान् विभूति अनागारिक धम्मपाल को ही सादर समर्पित करता हूँ।)

एतदनन्तरं प्रकाशकीयं प्रकाशितमस्ति, यत्र शान्तिस्वरूपबौद्धस्य विचाराः उल्लिखिताः वर्तन्ते।

एवमेव ग्रन्थस्य भूमिकायामपि ऐतिहासिकानि तथ्यानि अस्माकं पुरस्तात् प्रस्तौति स्वयं कविः। भूमिकायाः प्रारम्भे कवेः कवित्वं दृष्टिपथमायाति। तत्र च उल्लेखः दृश्यते–

"7 जुलाई, 2013! एक काला दिवस! भारत के बिहार प्रान्त के विश्व-प्रसिद्ध महाबोधि महाविहार तथा महाबोधि महावृक्ष के समीप 9 सीरियल बम ब्लास्ट! एक आतंकी हमला! महाबोधि महावृक्ष की कुछ शाखाओं को ही हानि, किन्तु विश्व के करोड़ों लोगों के दिलों पर नश्तर की चोट! भारत की शान्तिपूर्ण देश की छवि को करारा झटका! महाकरुणा के स्रोत के साये में हृदय विदारक विस्फोट!"[4]

कविना त्रिंशदधिकपृष्ठेषु भूमिकायां यथार्थतत्त्वानां वर्णनं कृतम्, येन बौद्धधर्मस्य मुख्यकेन्द्रस्य बोधिद्रुमस्य कथावस्तु समेषां पुरस्तादुपस्थितं भवति। ग्रन्थेऽस्मिन् 285 श्लोकाः प्राप्यन्ते। श्लोकद्वयं वसन्ततिलकायाम् अन्ये समेऽपि श्लोकाः अनुष्टुप्-छन्दसि वर्त्तन्ते।

कविः गडपालः ग्रन्थस्य मङ्गलाचरणे बुद्धस्य स्मरणं करोति–

**बुद्धं नमामि सर्वज्ञं शुभां बुद्धपरम्पराम्।
महाबोधिद्रुमं दिव्यं गयाभूमिं महत्तराम्॥**[5]

अनेन मङ्गलाचरणेन ग्रन्थकारः बुद्धं, बुद्धपरम्परां, महाबोधिद्रुमं बोधगयाभूमिं च युगपदेव प्रणमति। ततः परं ग्रन्थेऽस्मिन् बौद्धपरम्परा-प्रख्यापनम् प्राप्यते। तद्यथा–

**सुसमृद्धा सुदीर्घा च महतीयं परम्परा।
सुगतवचनैर्युक्ता त्रात्री वैतानिकी सदा॥**[6]

3. समर्पणम्महाबोधिद्रुमविजयम्
4. भूमिकामहाबोधिद्रुमविजयम्
5. मङ्गलाचरणम्महाबोधिद्रुमविजयम्
6. महाबोधिद्रुमविजयम्1.2

इतः परं बुद्धशिक्षोपस्थापनं ग्रन्थे प्राप्यते यत्र कविः वक्ति-

**त्रिकालज्ञस्स सम्बुद्धः कारुणिकस्तथागतः।
पाठयामास शीलानि शुभङ्कराणि पञ्च वै॥
आष्टाङ्गिकस्तथा मार्गो लोके तेन च देशितः।
वहन्ति जीवनं सम्यक् तदाचरणतो जनाः॥**[7]

एवमेव तदनन्तरं सम्बोधिप्रकरणं ग्रन्थेऽस्मिन् प्राप्यते। तद्यथा–

**उरुविल्वे प्रसिद्धो हि सुरम्ये च वने रणे।
बोधिद्रुमे पवित्रे च बुद्धो ज्ञानोदयो महान्॥**[8]

पुनः आधुनिककाले बोधिवृक्षः कुत्रास्ति तस्मिन् विषये-

**आधुनिके विहारे च गयाक्षेत्रे सुमण्डले।
नैरञ्जरानदीतीरे सुरम्ये भाति भूपदः॥**

अयं ग्रन्थः महाबोधिद्रुमस्य सम्पूर्णम् ऐतिह्यं प्रस्तौति। अस्मिन् ग्रन्थे चीनीयात्रिकस्य ह्वेनसाङ्गस्य वर्णनमपि आगतम्। तद्यथा–

**भारतमागतश्चीनो ह्वेनसाङ्गोऽलिखन्नरः।
बोधिवृक्षं प्रशंसञ्ज्ञः सोऽद्वितीयो महाद्रुमः॥

प्रतिष्ठितं हि विश्वस्य शीर्षेऽतिपावनं मतम्।
मध्ये पृथ्वी च मूलस्तु नद्धमरेण पारजा॥

सर्जनं भद्रकल्पे हि सृष्ट्यादौ ह्यभिजायते।
ध्रुवं महीधरं तद्धि वज्रासनं प्रजायते॥

लिलेख ह्वेनसाङ्गस्तु यात्रिकश्चीनको वरः।
महिमानं महिष्ठं वै द्रुमेन्द्रस्य सुशोभनम्॥**[9]

सार्धमिव कविः महावृक्षं इतिहासकेन्द्ररूपेणापि ग्रन्थेऽस्मिन् प्रतिपादयति। तद्यथा–

**भव्यं वृत्तं द्रुमेन्द्रस्य विद्यते गाऽरवान्वितम्।
इतिहासस्य केन्द्रं हि यन्मानितं सुपूजितम्॥**

अनेन सहैव अशोकोपाख्यानमपि ग्रन्थेऽस्मिन् प्राप्यते। वस्तुतः प्रियदर्शिनः महाराजस्य अशोकस्य विषये संस्कृते साहित्यसामग्री अतीव अल्पीयसी एव विद्यते। तादृशस्य महतो राज्ञः विषये संस्कृतेन साहित्यस्य अप्रणयनं नूनं संस्कृतज्ञानां कृते संस्कृतस्य च कृते दुर्भाग्यस्य विषयः। अस्तु नाम, प्रसन्नतायाः अयं विषयः यत् अस्मिन् काव्ये तस्य विश्वसम्राजः अशोकस्य विषये पर्याप्ता साहित्यिकी सामग्री समुपलभ्यते। तद्यथा–

**बोधिप्राप्तिनिमित्तेनाशोकेन हि विहारकः।
ज्ञानोदयस्मृतौ पश्चात् कारितोऽभूतपूर्वकः॥**

7. महाबोधिद्रुमविजयम्1.12
8. महाबोधिद्रुमविजयम्1.17
9. महाबोधिद्रुमविजयम्-1.74-1.76, 1.79

नराधिपो निराशस्सन् संग्रामके कलिङ्गके।
स्वीचकार स सद्धर्मं शान्तिदं करुणाकरम्॥[10]

अग्रे च महाबोधिद्रुमं प्रति सम्राजः अशोकस्य प्रीतिः अपि प्रस्तुता वर्तते ग्रन्थे। महाबोधिद्रुमस्य स्मृतौ सम्राजा अशोकेन प्रथमतया महाविहारः संस्थापितः आसीत्। अयं च विहारः अत्यन्तं भव्यतया निर्मितमासीत्। अशोकानन्तरमपि नैके राजानः महाबोधिद्रुमं प्रति प्रीतिं स्थापितवन्तः। महाबोधिविहारस्य भव्यताम् इतोऽपि वर्धितवन्तश्चेति। एवम्प्रकारेण अस्मिन् ग्रन्थे महाबोधिद्रुमस्य विषये ऐतिहासिकानि तथ्यानि समुपलभ्यन्ते।

यथा पूर्वमेव उल्लिखितं यत् अस्मिन् महाबोधिद्रुमविजयकाव्ये भागद्वयं वर्तत इति। तत्र ग्रन्थस्याध्ययनेन ज्ञायते यत् प्रथमे भागे बोधिवृक्षस्य उत्कर्षकालस्य तथा च द्वितीयभागे बोधिद्रुमविध्वंसस्य च वर्णनं प्राप्यते। अतः प्रथमो भागः उत्कर्षो भागः तथा च द्वितीयो भाग अपकर्षो भागः कथयितुं शक्यते।

कविमतानुसारेण–

बौद्धपर्यटकाभावात्काननातद्विपुलात्ततः।
आक्रमणाच्च शैवानां विहारोऽधोगतिं गतः॥[11]

इत्येवं ज्ञायते यत् कालान्तरेण पर्यटकानाम् अभावे सति विपुलकानने कोऽपि न आगच्छति स्म। तदा केचन शैवानुयायिनः गिरि-सम्प्रदायिनः अत्र आगत्य स्वीयम् आधिपत्यं स्थापितवन्तः। एवम्प्रकारेण शनैः शनैः अयं महाविहारः दुरावस्थां प्राप्तः।

ग्रन्थाध्ययनेन ज्ञायते यत् अयं महाबोधिद्रुमः नैकधा विविधेभ्यः कारणेभ्यः नाशितः। कश्चित् राजा शशाङ्कः एतं महावृक्षं कर्तयित्वा अस्मिन् अग्निं संस्थाप्य ज्वालितवान्। अनन्तरं सम्राजोऽशोकस्य पुत्र्या संघमित्रया श्रीलङ्कादेशे रोपितस्य शाखाम् आनीय पुनः सः रोपितः। कालान्तरेण बख्तियारखिलजी इति दुष्टः शासकः पुनरपि एतं नाशितवान्। पुनरपि अयं वृक्षः दूरदेशात् आनीय रोपितः स च वृद्धिंगतः, प्रकृतिप्रकोपात् स च वृक्षः नष्टः। पुनः श्रावस्तीतः आनन्दबोधिवृक्षस्य शाखा अत्र आनीय रोपिता अभवत्। स च वृक्षः साम्प्रतं बोधगयायां विराजते। सम्पूर्णस्यापि विश्वस्य श्रद्धाभाग्वर्तते इति।

महाबोधिद्रुमस्य वर्णने प्रणीतेऽस्मिन् ग्रन्थे अनागारिक-धर्मपालेन महाबोधि सोसाइटी ऑफ इण्डिया इत्यस्याः संस्थायाः स्थापना कृता आसीद् इत्यस्मिन् विषयेऽपि अत्र वर्णनं प्राप्यते। एतस्याः संस्थायाः माध्यमेन श्रीलङ्कास्थः महान् बुद्धानुयायी अनागारिकः धर्मपालः महाबोधि-विहारस्य संरक्षणार्थं प्रायतत्। तद्यथा–

संस्थापयन्महाबोधिं संस्थां विहाररक्षणे।
पत्रिकां च महाबोधिं प्रकाशयत्प्रचारणे॥

अधिकारस्तु बौद्धानां विहारे स्याद् दृढस्सदा।
जातः पाटलिपुत्रे हि सभायां निर्णयो महान्॥[12]

अनेन वर्णनेनास्य केन्द्रस्य रक्षणाय कानि कार्याणि कथञ्चाभवन् इत्येत्सर्वं स्पष्टं भवति। पश्चात् च काव्ये, आतङ्कवादिनाम् आक्रमणात्परं कथं ब्रह्मदेशवासिनः महाबोधिविहारस्य उपरिभागं सुवर्णमयं कृतवन्तः इति वर्णितमस्ति।

10. महाबोधिद्रुमविजयम्2.93-2.94
11. महाबोधिद्रुमविजयम्2.27
12. महाबोधिद्रुमविजयम्2.102,2.103

अस्मिन् काव्ये आंग्लविदुषां प्रशंसा अपि कृता दृश्यते कविना केषुचित् प्रसङ्गेषु। वस्तुतः कैश्चित् सहृदयैः आंग्लैः अस्य देशस्य गौरवः वर्धितः। तेषु कनिंघमः प्रमुखो वर्तते। काव्ये कनिंघमोपाख्यानम् एतस्मिन् विषये एव वर्तते। कनिंघमस्य विषये काव्ये एवं प्रकारेण वर्णितं दृश्यते–

सैन्यमुख्यः पुरातत्त्वे दक्षः कनिंघमः परम्।
दशामालोक्य तस्याऽऽख्यां प्रैषयत्स सुधीः पुनः॥

प्राच्येतिहासविज्ञाता पुरातत्त्वस्य शोधकः।
श्रमाधिक्येन मालीवापोषयद्देशसम्पदम्॥

कल्पमूर्तिः पुरातत्त्वे पुराविदां प्रतिष्ठितः।
कार्यसङ्कल्पशीलश्च कार्यपरो विचक्षणः॥

पुरातत्त्वस्य संस्थाया निदेशको गयापुरम्।
प्राप्याऽऽख्यां वज्रशब्दैर्हि लिलेख मठतारकीम्॥

नूनं तात्कालिक सैन्यप्रमुख पुरातत्त्वविषये च दक्षताप्राप्तः कनिंघम-नामकः आंग्लविद्वान् भारतदेशस्य संस्कृतिरक्षायै बहु प्रयत्नान् अकरोत्। सः भारतीयसंस्कृतेः रक्षां माली इव अकरोत्।

अन्ते च महाबोधि-प्रणामना-सत्फलं कथितं वर्तते कविना। तद्यथा–

महाबोधिं जनः कश्चित्प्रणामं कुरुते यदि।
नूनं शान्तिं परां याति बुद्धिरायुश्च वर्धते॥

ततश्च काव्याध्ययनफले कविना संसारस्य कृते मङ्गलकामना कृता दृश्यते। तद्यथा–

ग्रन्थाधीत्या व्यथाः दूरे कार्यजातं च सिध्यतु।
स्फीतो भवतु संसारस्सुखितं तु महीतलम्॥

सर्वान्ते, कविना एवं प्रकारेण उपसंहृतिः कृता–

वन्दामि सुद्रुमवरं सुगतस्वरूपम्
मैत्रीबलेन सुखितोऽस्तु समग्रलोकः।
सर्वत्र यस्य गुरुता वियुनक्ति शान्तिं
सर्वे प्रयान्तु ससुखं करुणां विहारम्॥

काव्यस्यास्य पुष्पिकायां ग्रन्थप्रणयनविषये स्पष्टा सूचना लभ्यते। तद्यथा–'प्रफुल्लगडपालेन विरचितं महाबोधिद्रुमविजयं स्वोपज्ञ-'सम्बोधि'-हिन्दीव्याख्योपेतं खण्डकाव्यं 07 अप्रैल, 2014 दिनाङ्के सम्राट्-अशोकजयन्त्युत्सवावसरे सम्पूर्णं परिसमाप्तम्' इति।

अत्रेदम् अवधेयं वर्तते यत् 17 सितम्बर, 2013 काव्यप्रणयनारम्भो जातः; 07 अप्रैल, 2014 दिनाङ्के च ग्रन्थः पूर्णतां गतः। इत्येवम् आहत्य 202 दिनेषु काव्यमिदं निर्मितमभवत्।

महाबोधिद्रुमस्य समीक्षणम्–

'महाबोधिद्रुमविजयम्' इत्यस्य ग्रन्थस्य शीर्षकं वर्तते। अत्र शब्दद्वयमस्ति 'महाबोधिद्रुम + विजयम्।' प्रथमशब्देन बोधिवृक्षस्य बोधः जायते, पुनः विजयं किमर्थं योजितमिति विचारणीयं भवेत्–

बहुवारं बोधिवृक्षस्योपरि आक्रमणमभवत्, विस्फोटोऽप्यजायत्, तथापि वृक्षोऽद्यापि स्थिरः दृश्यते, अत एव वृक्षस्य विजयगाथा अस्मिन् ग्रन्थे वर्णिता वर्तते। तद्यथा–

प्रयासैः बहुभिस्तस्माद् बौद्धानां हस्तयोस्तदा।
समागच्छद् विहारं च यत्नानि फलितानि हि॥[13]

अस्य भाषाशैली सरला सुबोधगम्या च वर्त्तते। हिन्दीभाषयापि श्लोकानां व्याख्यानमस्मिन् ग्रन्थे प्राप्यते। तत् सम्बोधि-व्याख्या-नाम्ना लिखिता दृश्यते काव्ये साक्षात्। हिन्दीभावार्थसन्दभे पश्यामश्चेत् मध्ये क्वचित् भिक्षुस्थाने भिक्खुपालिशब्दस्य वर्णनं प्राप्यते, अनेन अस्मिन् पालिभाषायाः प्रभावः साक्षात् दृष्टिगोचरं भवति कवेश्च पालिप्रेम स्पष्टं भवति।

यद्यपीदं काव्यमस्ति तदपि अस्मिन् कल्पना दृष्टिगोचरं न भवति। अस्मिन् यत्किमपि लिखितं तत्सर्वमैतिहासिकमस्ति। पुनश्च इतिहासेऽपि तादृशमेव विवरणं प्राप्यते, यादृशमस्मिन्नस्ति। अतः एतं काव्यं वास्तविककाव्यं यथार्थकाव्यं वा कथयितुं शक्यते। अत्र अस्य युवकवेः सृजनात्मकता आश्चर्यमुत्पादयति। केवलमेकस्य वृक्षस्य वर्णनं सम्पूर्णेऽपि काव्ये अद्भुतमस्ति।

परिशिष्टभागे शब्दकोशः, चतुर्विंशतिः बोधिवृक्षाः, महापदानसुत्तानुसारं बोधिवृक्षः, डाकटिकटमध्ये कुत्र कुत्र बोधिवृक्षः दृश्यते तस्य चित्राण्यपि प्रकाशितानि।

बौद्धधर्मस्य केन्द्रभूतबोधिवृक्षस्य कथां ग्रन्थोऽयं वक्ति। क्वचित् क्वचित् अस्य वृक्षस्य मानवीकरणमपि दृश्यते। वृक्षः एव साक्षात् स्वीयाम् अनुभूतिं प्रकटयति।

अतः ग्रन्थस्यास्यावदानमैतिहासिकमस्तीति मे विश्वासः।

महाबोधिद्रुमस्य ऐतिहासिकसन्देशः

महाबोधिं जनः कश्चित्प्रमाणं कुरुते यदि।
नूनं शान्तिं परां याति बुद्धिरायुश्च वर्धते॥

ग्रन्थाधीत्य व्यथाः दूरे कार्यजातं च सिध्यतु।
स्फीतो भवतु संसारस्सुखितं तु महीतलम्॥

वन्दामि सुद्रुमवरं सुगतस्वरूपम्
मैत्रीबलेन सुखितोऽस्तु समग्रलोकः।
सर्वत्र यस्य गुरुता वियुनक्ति शान्तिं
सर्वे प्रयान्तु ससुखं करुणां विहारम्॥[14]

निष्कर्षः–

निष्कर्षतया एवं वक्तुं शक्यते–

ग्रन्थोऽयं केवलं खण्डकाव्यमेव नास्ति, अपितु एतद् आजीवनं कृतस्य शोधकार्यस्य परिणामः दृश्यते। यादृशाणि युक्तियुक्तानि तथ्यानि शोधप्रबन्धे भवन्ति तादृशाणि अस्मिन् ग्रन्थेऽपि प्राप्यन्ते। अस्य ग्रन्थस्य विषयवस्तु यावत् उपयोगी वर्त्तते तावदेव भूमिकापि। एवं प्रकारेण यः बौद्धधर्मस्य विषये ज्ञातुं वाञ्छति सः एनं ग्रन्थं नूनमेव पठेत्। महाबोधिद्रुमस्य व्याजेन अस्मिन् काव्ये बौद्धधर्मस्य ऐतिहासिकः परिचयः दत्तः वर्तते। अतः पाठकाय ग्रन्थोऽयं नूनम् अयं ग्रन्थः ज्ञानलाभं प्रापयिष्यतीति मुक्तिप्रदश्च भविष्यतीति मे दृढः विश्वासः।

13. महाबोधिद्रुमविजयम्2.111
14. महाबोधिद्रुमविजयम्2.137-2.139

सन्दर्भग्रन्थाः

1. डॉ. गडपालः प्रफुलः, महाबोधिद्रुमविजयम्, सम्यकप्रकाशनम्, नवदेहली, 2014
2. भारतदर्पण, आकाश पब्लिशिंग हाऊस, विजय नगर जालन्धर रोड, रोहतक
3. सिंह कुमार सुनील, सामान्य ज्ञान, लूस.ट पब्लिकेशन, न्यू बाई पास रोड, अशोचक्र पटना (विहार) दसवां प्रकाशन, 2016
4. पाण्डे मनोहर, सामान्य ज्ञान, अरिहन्त प्रकाशन (रामछाया) 4577/15, अग्रवाल रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 2016

25

आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये बोधिसत्त्वनाटकस्य वैशिष्ट्यं महत्त्वं च

हरीशमोहनः
साहित्याचार्ये प्रथमवर्षीयच्छात्रः
श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः,
देवप्रयागः (उत्तराखण्डः)

संस्कृतसाहित्ये वैदिकयुगात् नाटकानां प्रणयनपरम्पराप्रवाहः दृश्यते। नाटक-शब्दोऽयं 'नट्'-धातोः निष्पन्नो वर्तते। अस्य नाटकशब्दस्य अपरपर्यायो शब्दो वर्तते–नाट्यमिति। नाटकस्य अन्ये केचन इमे अर्थाः अपि सन्ति–नृत्यम्, अभिनयः, अनुकरणञ्चेति। लोके विद्यमानानाम् इतिवृत्तानां घटनानां वा चित्रणमेव नाटकं नाट्यं वा। नाट्यं नाम दृश्यं काव्यम्। श्रोत्रेण चक्षुसा च यद् आश्वदयितुं शक्यते तन्नाट्यम्। नाम वयं नाटकं दृष्टुं शक्नुमः श्रोतुं चापि शक्नुम इति। अत एव संस्कृतसाहित्ये नाट्यसाहित्यम् अतीव प्रसिद्धं वर्तते।

'नाटकान्तं हि साहित्यम्' इति लोके प्रसिद्धिः। महाकविना कालिदासेनापि उक्तम्–'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।' नाटकं रूपकस्य एका विधा वर्तते। संस्कृतसाहित्ये रूपकाणि दश सन्ति, अथ च अष्टादश उपरूपकाणि वर्तन्ते।

संस्कृतसाहित्ये नाटकस्य महत्त्वम्–

नाटकं साहित्यस्य महत्त्वपूर्णमङ्गं वर्तते। येन प्रकारेण चित्रस्य भिन्नवर्णाः सहृदयस्य चित्ते वर्णस्य आनन्दस्य चानुभूतिं कारयन्ति; तेनैव प्रकारेण नाटके प्रयुक्तनायकादीनां वेशभूषा-नेपथ्य-अभिनयादयः दर्शकस्य हृदये विशिष्टं प्रभावम् उत्पादयन्ति आनन्दसृष्टिञ्च कुर्वन्ति। ज्ञानार्थं लोके तादृशं किमपि ज्ञानं, शिल्पं, विद्या, कला, योगः वा नास्ति, यन्नाटके न दृश्यते।

भरतमुनिनापि प्रोक्तं स्व-नाट्यशास्त्रे–

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

अर्थात् संस्कृतसाहित्ये नाटकस्य स्थानम् अद्वितीयं अस्ति। प्राचीनकाले वेदेभ्यः आरभ्य एव नाटकानां परम्परा वर्तते। अनन्तरं लौकिकसंस्कृते तु नैकानि रम्यानि नाटकानि रचितानि अभूवन्। भास-कालिदास-भवभूति-हर्षादीनां नाटकानि तु अत्यन्तं प्रसिद्धानि वर्तन्ते। नाट्यप्रणयनस्य सा परम्परा

अद्यापि जीवति। आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये नैकानि नाटकानि प्रणीतानि अभूवन्। अधुना वयं आधुनिक-संस्कृतसाहित्ये संस्कृत-पालि-मराठी-गुजराती-जर्मन-आंग्लादिभाषाणां महता पण्डितेन विश्वप्रसिद्धेन अनुसन्धात्रा धर्मानन्द-दामोदर-कोसम्बिना मराठीभाषायां प्रणीतस्य संस्कृतेन च अनूदितस्य 'बोधिसत्त्व'-नाटकस्य विषये विमर्शम् उपस्थापयामः।

आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये बोधिसत्त्वनाटकस्य प्रतिपाद्यं महत्त्वं च–

आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये प्रभुततया काव्यानि विरचितानि अभवन्। एषु काव्येषु अपि नाट्यसाहित्यं विशेषम् उल्लेखम् अर्हति। जानन्ति एव विद्वांसः यत् आधुनिकसंस्कृतसाहित्याकाशे बौद्धसाहित्यं प्रामुख्येन विलसति। अत्र अस्मिन् बौद्धसाहित्येऽपि मराठीभाषातः संस्कृतेन अनूदितं 'बोधिसत्त्वनाटकं' विशेषं स्थानं प्राप्नोति। एतं बोधिसत्त्वनाटकम् आचार्यो धम्मानन्ददामोदरकोसम्बिवर्यः मूलतः मराठीभाषायाम् अरचयत्। अस्य महत्त्वपूर्णस्य नाटकस्य संस्कृतानुवादं युवविद्वान् डॉ. प्रफुल्लगडपालः अकरोत्।

अत्र 'बोधिसत्त्वः' इति पदं वर्तते। इदं ज्ञेयं वर्तते यत् 'बोधिः' नाम सम्पूर्णं ज्ञानम्। एतस्य ज्ञानस्य प्राप्त्यै अविश्रान्ततया प्रयत्नशीलः सत्त्वः 'बोधिसत्त्वः' इति कथ्यते। अत्र सत्त्वः नाम प्राणी। यथोक्तं पूर्वं यत् बोधिसत्त्वनाटकस्य रचयिता आचार्यः धम्मानन्द-दामोदर-कोसम्बी अस्ति। मूल-त्रिपिटक-साहित्यस्य संस्कृतवाङ्मयस्य च अध्ययनं विधाय अनेन विदुषा आधुनिकयुगे बौद्धसाहित्ये अद्वितीयं स्थानं प्राप्तम्। कोसम्बिमहोदयः बौद्धसाहित्यस्य अवगाहनं कृत्वा तस्य स्थापनां कर्तुम् आधुनिकयुगे भारतवर्षे प्रथमः एव आचार्यः आसीत्। नूनम् अनेन कारणेन सोऽयं आचार्यः धम्मानन्दकोसम्बी समस्तस्य विद्वत्समाजस्य श्रद्धाभाग्वर्तते। बौद्धसाहित्यस्य अध्ययनेन अभिभूतः सः ऐतिहासिकमहापुरुषस्य सिद्धार्थगौतमबुद्धस्य वास्तविकस्वरूपं ख्यापयितुं नैकान् ग्रन्थान् अरचयत्। एषु ग्रन्थेषु तस्य गभीरा अधीतिः, विवेकवादः, इतिहासबोधः च स्पष्टतया संलक्ष्यते।

आचार्यस्य धर्मानन्दकोसम्बिनः काले पुराणेषु वर्णितं बुद्धचरितं सर्वत्र प्रसिद्धम् आसीत्। तस्मिन् काले सः श्रीलङ्कादेशं गत्वा तत्र तिपिटकस्य अध्ययनम् अनुसन्धानं चाकरोत्। अनेन तस्मिन् विवेकवादस्य बीजः प्रस्फुटितः। ततः सः गौतमं बुद्धं कथमपि कदापि च पौराणिकबुद्धत्वेन नैव स्वीकरोति स्म। सः सम्यक् विचिन्त्य भगवतो बुद्धस्य शिक्षाः अंगीकृतवान्। यदा तदा सः बुद्धजीवनीं पठति स्म, तदा तदा तन्मनसि विचारः आगच्छति स्म यत् कथं वा कश्चित् राजकुमार 29 वर्षाणि यावत् जीवनस्य अवश्यम्भाविघटनाः अपि ज्ञातुं न क्षमो जातः। एतदर्थं सः नैकान् अनुसन्धानयुतान् ग्रन्थान् अरचयत्। ग्रन्थप्रणयनेनापि यदा तस्य पिपासा न शान्ता तदा सः एकं नाटकं रचयितुं विवशीभूतो जातः। ततश्च सः बोधिसत्त्व इति नाटकस्य रचनां मराठीभाषया अकरोत्।

राजकुमारः सिद्धार्थगौतमः वृद्ध-रुग्ण-शव-संन्यासिनः संवीक्ष्य रात्रौ गृहत्यागम् अकरोत् इति घटनां काल्पनिकीं प्रक्षिप्तां वा मत्वा सः त्रिपिटकसम्मतां घटनाम् अनेन नाटकमाध्यमेन उपस्थापयत्। आचार्यः धर्मानन्दकोसम्बी मनुते स्म यत् 'शाक्यकोलियराज्ययोर्मध्ये प्रवाहितायाः रोहिणीनद्याः जलविवाद एव सिद्धार्थाभिनिष्क्रमणस्य ऐतिहासिकं कारणं आसीत्' इति। एतां घटनां सः बहुभिः प्रमाणैः पर्यपुष्यत् अपि। त्रिपिटकस्य-प्रमाणैः परिपुष्टा इयं घटना इतोऽपि स्पष्टतया उपस्थापयितुं खलु सः 'बोधिसत्त्वः' इति चतुः अङ्कात्मकं लघुनाटकं व्यरचयत्।

अस्मिन् चतुःअङ्कात्मके नाटके बोधिसत्त्वः सिद्धार्थः युद्ध-विरोधित्वेन उपस्थापितः। शाक्य-कोलिययोः राज्ययोर्मध्ये रोहिणीनाम्नी नदी प्रवहति स्म। प्रतिवर्षं उभयोः राज्ययोः कृषकाः अस्याः नद्याः जलं क्रमेण स्वीकुरुतः स्म। एकस्मिन् वर्षे नद्याः जलस्य उपयोगः कृषिसिञ्चनार्थं शाक्यदेशीयाः कुर्वन्ति स्म, अपरस्मिन्

च वर्षे कोलियाः नदीजलं स्व-कृषिक्षेत्रं सिञ्चयितुं कुर्वन्ति स्म। नाटकस्य कथावस्तुनः अनुसारेण राजकुमारः सिद्धार्थः यदा 29 वर्षदेशीयो जातः, तदा नदीजलं स्वीकर्तुं शाक्यकोलिययोः श्रमिकेषु विवादो जातः। स च विवादः बहु वर्धितः। श्रमिकाणाम् अयं विवादः राजकीयो विवादः सञ्जातः। शाक्याः कोलियाः च युद्धार्थं सिद्धाः अभूवन्। अत्र दृष्टव्यं वर्तते यत् जलसमस्याकारणेन तस्मिन् कालेऽपि विवादो जातः आसीदिति।

अनन्तरम् अयं विवादः वर्धितः देशे युद्धस्थितिश्च आगता। सिद्धार्थः तदा शाक्यानां संघस्य सदस्यः आसीत्। सः शाक्यानां परिषदि युद्धस्य विरोधं कृतवान्। अनेन परिषदः सदस्याः रुष्टाः अभूवन्। सर्वैः च संघविरुधगतिविधिकारणेन सः संघात् निष्कासितः; देशत्यागस्य दण्डश्च तत्कृते निश्चितः। एवं राजकुमारः सिद्धार्थः गृहत्यागम् अकरोत्।

वस्तुतः इयं घटना तथा अलङ्कारपूर्णा काल्पनिकी च न दृश्यते; अपितु इयं दृश्यते वास्तविकतापूर्णा। बौद्धधर्मे कल्पनायाः कृते बहु महत्त्वं न दीयते, अत्र प्रतिक्षणं वास्तविकतायाः एव दर्शनं क्रियते। अस्मिन् क्षणे यज्जायमानं वर्तते, तस्य ज्ञानं बुद्धशिक्षायां बहु महत्त्वम् अर्हति। तदनुसारेण बोधिसत्त्वनाटकस्य विषयवस्तु नूनम् अतीव महत्त्वपूर्णं वर्तते।

अत्र इदमपि वक्तव्यं यत् कोसम्बिवर्येण उपस्थापिता इयं घटना विश्वस्मिन्नपि विश्वे अत्यन्तं सम्मानिता स्वीकृता च जाता, तथापि इदं 'बोधिसत्त्व'-नाटकं साहित्यदृष्ट्या नाटकत्वं नार्हेत्, चेदपि इतिहासदृष्ट्या अस्य अतीव महत्त्वं वर्तते।

सुदृढैः ऐतिहासिकैः प्रमाणैः तथ्यैश्च विना येन एकं वाक्यमपि लेखनीयमिति वृत्वा आजन्म वक्तव्यस्य लेखनस्य च कार्यमनेन कृतम्। तेनैव कालान्तरेण गौतमबुद्धस्य गृहत्यागस्य प्रव्रज्यास्वीकारस्य च नूतना सयुक्तिकी च उपपत्तिः विचारिता, किन्तु तस्याः उपपत्याः सत्यतायाः तथ्यतायाश्च पर्याप्तं कारणं लब्धेऽपि यदा सा उपपत्तिः अपूर्णा इव आभासते स्मः तदा सः अन्यत् किं वा कुर्यात? अन्ततोगत्वा तेन स्वीया उपपत्तिः नाटकरूपेण प्रस्तुत्य एव सन्तोषः प्राप्तः। नाटकेऽस्मिन् अस्याः उपपतयाः अनन्तरमेव बुद्धस्य उपदेशाः समधिकम् उतमतया वास्तविकतया च अवगन्तुं शक्यन्ते। एतस्य पुरातनं बुद्धचरितं वस्तुतः ऐतिहासिकं सदपि एकं सरसं नाटकमेव अस्ति। अस्य नाटकस्य प्रत्येकं दृश्ये बुद्धकालीनस्य सामाजिकजीवनस्य चित्रणमस्ति। अत एव बुद्धकालीनस्येतिहासम् अवगन्तुं नाटकमिदम् अतीवोपयोगी वर्तते।

नाटकस्थ-संवादाः अतीव प्रवाहपूर्णा प्रभावपूर्णाश्च वर्तन्ते। एकस्मिन् दृश्ये नायको राजकुमारः सिद्धार्थः कथयति–

'कस्मिन्नपि काले अयं सनातनो धर्मो भवितुमेव नार्हति। ब्राह्मणेषु द्रोणसदृशाः योद्धारो जाताः। अद्यापि तादृशाः योद्धारः सन्ति एव ब्राह्मणेषु। क्षत्रियेषु जनकसदृशा ब्रह्मज्ञानिनो जाताः।साम्प्रतमपि सन्ति तादृशाः क्षत्रियाः ज्ञानिनः। महर्षिव्यासः धीवरीपुत्रः आसीत्। तस्य पिता अस्पृश्य एव खलु आसीत्। तर्हि अस्पृश्योपि सः महर्षिपदम् आप्तवान्। मातङ्गर्षिः चाण्डालः आसीत्। अर्थात अद्यत्वे प्रसारितस्य जातिभेदस्य सः कश्चन अङ्गः आसीत्। तर्हि अयं कथं वा सनातनो धर्मो भवितुमर्हति?

वैरः वैरेण न शमति। अवैरेण एव वैरः शान्तो भवति। अयमेव खलु वस्तुतः सनातनो धर्मः।' इति।

एवम्प्रकारेण एतादृशेषु संवादेषु बौद्धधर्मस्य वास्तविक-सन्देशः वर्तते। अतः कथयितुं शक्यते यत् अनेन प्रकारेण अस्मिन् नाटके उपस्थापिताः विचाराः समाज-परिष्काराय एकं विशिष्टं सन्देशं प्रयच्छन्ति इति।

26

बुद्धोदयकाव्यम् : एक अध्ययन

डॉ. प्रियंका घिल्डियाल
अतिथि प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
हे.न.ब.गु. केन्द्रीय वि.वि. श्रीनगर, गढ़वाल (उत्तराखण्ड)
मोबा.-86501 26408
e-mail-ghildiyalpriyanka@rocketmail.com

'बुद्धोदयकाव्यम्' सुगत कविरत्न शान्तिभिक्षु शास्त्री द्वारा रचित एक भक्तिरसात्मक गीतिकाव्य है। यह दस प्रसंगों में गुम्फित काव्य है। इस काव्य में जो विभाग किया गया है, उसे प्रसंग की आख्या दी गई है। इन प्रसंगों का विभाजन तथा प्रबन्धन अत्यन्त सुनियोजित तरीके से किया गया। इसमें प्रत्येक प्रसंग में दस शार्दूलविक्रीडित पद्य तथा तीन गेयपद है। यह ग्रन्थ भगवान् बुद्ध के अवतीर्ण होने से प्रारम्भ होता है तथा बोधिलाभ एवं धर्मदेशना पर परिसमाप्त हो जाता है।

संस्कृत-साहित्य में भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित पर बुद्धचरित, ललितविस्तर सदृश कुछ काव्य लिखे जा चुके हैं, किन्तु इसमें भगवज्जीवन पर एक बहुत छोटे गीतिकाव्य का अभाव था। इस काव्य के रचयिता के अनुसार यह दुःख का विषय था तथा उन्हें खल रहा था। गीत-गोविन्द के पाठक सिंहल बौद्धों की यह उत्कट इच्छा थी कि तथागत के जीवन पर भी कुछ पद्य एवं गेयपद पढ़ने को मिलें। उन्हीं की इच्छा तथा सत्प्रेरणा से शान्तिभिक्षु शास्त्री जी द्वारा प्रस्तुत काव्य का प्रणयन किया गया। इस ग्रन्थ की रचना के विषय में शास्त्री जी ने बुद्धविजय-महाकाव्य में अपने अनुभव साझा किये हैं।

बुद्धोदय-काव्य का उल्लेख 'बुद्धविजय-काव्यम्' में यो हुआ है–

"बुद्धोदयं मया गीतं स्वल्पग्रन्थं मनोरमम्।
तथाप्यतृप्तं चितं में नित्यं बुद्धपरायणम्॥"[1]

ललितपदावली, कवि-कल्पना की उड़ान, अलंकारों की छठा, काव्यरस का अनुपम परिपाक आदि कुछ ऐसे पक्ष हैं, जिनके कारण यह काव्य संस्कृत के प्रायः सभी गीति-काव्यों को बहुत पीछे छोड़ देता है। भगवान् बुद्ध के प्रति भक्ति के दर्शन इस काव्य में किये जा सकते हैं। वस्तुतः भक्तिरस के चित्रण में महाकवि शान्तिभिक्षु बेजोड़ हैं।

1. श्लोक, सर्ग-14, बुद्धविजय काव्य।

तद्यथा–

"मैत्री-ज्ञान-विराग-गुणानां धर्माणां त्वं धाता।
जय जय नाथ त्वमनाथानामसि सौभाग्यविधाता॥
शरणमेमि भगवन्तम्।
अगुणवन्तमपि विगुणविहीनं सदा सकलगुणवन्तम्॥" श्लोक 95/पृ. 101

जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कविप्रवर शान्तिभिक्षु शास्त्री ने इस काव्य-प्रबन्धन में अत्यन्त चातुर्य और विद्वत्ता का परिचय दिया है। महाकवि ने इस पूरे काव्य को दस प्रसंगों में बांट रखा है। वे इस प्रकार हैं–

प्रथमः प्रसङ्गः	-	जन्ममङ्गलम्
द्वितीयः प्रसङ्गः	-	असितागमनम्
तृतीयः प्रसङ्गः	-	गोपा परिग्रहः
चतुर्थः प्रसङ्गः	-	निमित्त-दर्शन्
पञ्चमः प्रसङ्गः	-	वनविहार
षष्ठः प्रसङ्गः	-	अभिनिश्क्रमणम्
सप्तमः प्रसङ्गः	-	तपश्चरणम्
अष्टमः प्रसङ्गः	-	माराविजयः
नवमः प्रसङ्गः	-	संघप्रतिष्ठापनम्
दशमः प्रसङ्गः	-	बुद्धकायलक्षणम्

पूरे काव्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द में रचे हुये 100 श्लोक, तीस गीत और 240 गेयपद हैं। प्रत्येक प्रसंग में दस-दस श्लोक (शार्दूलविक्रीडित-छन्द वाले) हैं और उनके बीच में तीन-तीन गीत पिराये गये हैं। कवि ने प्रत्येक गीत का अत्यन्त उपयुक्त शीर्षक दिया है और उन गीतों को आठ-आठ की संख्या में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ–के क्रम में रखा है। इस प्रकार काव्य को बड़े वैज्ञानिक विधि (Scientific Method) में सुनियोजित तरीके से प्रस्तुत किया गया है। महाकवि ने यही वैज्ञानिक क्रमबद्धता अपने अन्य काव्य, बुद्धविजयकाव्य जो एक महाकाव्य है–में भी अपनाई है।

बुद्धोदय-काव्य की विशेषताएँ–

महाकवि शान्तिभिक्षु शास्त्री ने अपने इस काव्य के कथानक को बौद्ध वाङ्मय से चुनकर राजकुमार सिद्धार्थ के जीवन के नौ प्रसंगों को अपने काव्य का आधार बनाया है। ये सभी प्रसंग सदियों से चर्चा के विषय रहे हैं। शास्त्री जी की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने उन्हीं चर्चित विषयों को इस प्रकार नये और नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है कि वे नये प्रतीत होते हैं।

इस काव्य के प्रस्तुतीकरण में कवि ने बौद्धमतानुसार विवेक-नय का प्रयोग किया है। उन्होंने काव्य में अन्यत्र कहें गये विषयों को छोड़ते हुए धैर्यपूर्वक इस काव्य की प्रस्तुति की है। ललितविस्तर, जातकनिदान आदि ग्रन्थों में देवगण खुलकर अपनी भूमिका अदा करते हुए दिखाये गये हैं, कवि ने बोधिसत्त्व-जननी देवी माया के उस प्रसिद्ध सपने को छोड़ दिया है, जिसमें वे (मायादेवी) इन्द्र के श्वेत ऐरावत हाथी को आकाश मार्ग से आते हुए और आकर उनके कोख की दाईं ओर से घुमते हुए देखती है। माया देवी सुबह स्वप्न की बात राजा शुद्धोदन (अपने पति) से बताती है और राजा राज- परिवार के दस्तूर के मुताबिक दैवज्ञों और ज्योतिषियों से राय-मशविरा करते हैं। महाकवि ने बोधिसत्त्व के पैदा होते ही डग चलने की बात को भी छोड़ दिया है। मायादेवी बोधिसत्त्व के पैदा होने के सातवें दिन गुजर जाती है, जातकनिदान आदि में अंकित यह घटना भी यहाँ छोड़ दी गई है।

इस काव्य के तीसरे प्रसंग में गोपापरिग्रह वर्णित है। यहाँ पर कवि ने बोधिसत्त्व सिद्धार्थ की पत्नी और राहुल की माता नाम गोपा लिखा है। कहीं-कहीं गोपा के विशेषण-वाचक पद यशोधरा को भी नाम के (संज्ञापद) के रूप में प्रयुक्त किया गया है। यों तो यह बात सर्वविदित है कि यशोधरा नाम बहुत बाद में पड़ा, सम्भवतः कवियों ने दिया, क्योंकि तिपिटक में यह नाम संज्ञापद के रूप में नहीं मिलता। तिपिटक में जो नाम प्रायः मिलते हैं, वे हैं–गोपा, भद्दकच्चाना, कच्चाना और राहुलमाता। कवि ने गोपा नाम को ही अपने काव्य के लिए क्यों चुना, यह स्पष्ट नहीं है।

चार निमित्तों के विषय में कवि ने पुरानी परम्परा के प्रति सहमति भी दिखाई है और आंशिक रूप में असहमति भी। भगवान् बुद्ध पृथ्वी पर जन्म ले धर्म की वर्षा कर दुःखी लोगों को दुःखों से पार ले जाने का रास्ता बतायें, सिखायें आदि बातों में देवगण बड़ी रुचि दिखाते हैं। यहाँ तक कि बोधिसत्त्व के अभिनिष्क्रमण में भी सहायक बनते हैं। पर इस काव्य में उन सब बातों को छोड़ दिया गया है। यहाँ पर शास्त्र के परम मर्मज्ञ कवि शास्त्री जी निमित्तों की बात को आगमेतर जानते हुए भी उसको अपने काव्य में गुम्फित करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि अश्वघोष आदि की तरह महाकवि शान्तिभिक्षु शास्त्री ने भी उस कथानक को कवित्त्व के लिये अत्यन्त उपयुक्त समझा। अतः अपने काव्य में स्थान दिया।

निमित्तदर्शन के सन्दर्भ में कवि ने एक और नई उद्भावना की है। किसी अनजान यति के दर्शन के बाद और उससे अत्यधिक प्रभावित होने पर कुमार सिद्धार्थ रास्ते में गीत गाती हुई कृशा गौतमी को देख जाते हैं। वह कुमार के रूप से प्रभावित होती है और उसमें कुमार के प्रति प्रसाद-भाव उत्पन्न होता है। वह गाती है-**"निब्बुता नूनं सा माता"** यह कथा जातक अट्ठकथा में आई है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि यह कृशा गौतमी प्रसिद्ध भिक्षुणी कृशा गौतमी से भिन्न है, जिसको तथागत ने सरसों (सर्षप) के एक दाने के प्रयोग से स्वस्थ किया था। बोधिसत्त्व सिद्धार्थ का अभिनिष्क्रमण बड़ा ही विवादित विषय है। सिद्धार्थ ने भरी जवानी में पत्नी व बेटे को छोड़ा, राजपाट जो प्रायः हासिल था–उसे ठुकरा दिया, आदि बातों का मूल कारण क्या रहा होगा; इस पर विद्वानों ने गम्भीर मनन-चिन्तन किया है। धर्मानन्द कोसम्बी, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, बाबासाहब डॉ. भीमराव आम्बेडकर आदि विद्वान् और चिन्तक निमित्त-दर्शन की घटनाओं को सिरे से खारिज कर देते हैं। किन्तु उन्हीं की परम्परा के विद्वान् और कवि शास्त्री जी व उसे अपने कवित्व के लिये चुनते हैं, इसमें आश्चर्य होता है।

मार पर विजय पाने की कथा को कवि ने वहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया है; किन्तु संक्षिप्त होने पर भी उसमें वही काव्यगुण आ गये हैं, जो बुद्धविजय के छत्तीसवें और सैत्तीसवें सर्गों में मिलते हैं। छत्तीसवें सर्ग का अंतिम श्लोक मार-पराजय का बड़ा सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है–

"उदीर्य चैवं रतिरागतस्मृतिं स्मरं गृहीत्वा सबला विनिर्ययौ।
मुनेर्जयं वीक्ष्य जगाम भानुमान् रुरोह चन्द्रो विजयाभिनन्दनः॥"

(ऐसा कहकर होश में आये हुये काम को पकड़कर रतिसेना के साथ चली गई। सूर्य शाक्यमुनि की विजय को देखकर (जिस बात को देखने के लिये वे अब तक आकाश में स्थित थे और बाद में आश्वस्त होकर चले गये और विजय का अभिनन्दन करने वाले चन्द्रमा (आकाश में) चढ़ आये।)

महाकवि ने संघप्रतिष्ठापन की घटना को बहुत ही सीमित करके रखा है। संघ की स्थापना वस्तुतः यश और उसके चौवन साथियों के बुद्ध-शिष्यत्व स्वीकार करने पर होती है, जब बुद्ध को जोड़कर एकसठ

अर्हत् सदस्य हुये थे। कवि ने छः सदस्यता वाले भिक्षुओं के समूह को ही संघ की संज्ञा दे दी है। बौद्ध-धर्म में त्रिकाय का सिद्धान्त कालान्तर में उद्भूत हुआ। यह महायान बौद्धधर्म की विशेषता के रूप में जाना जाता है। हमारे प्रस्तुत महाकवि शास्त्री जी भगवान बुद्ध को निर्माणकाय, सम्भोगकाय और धर्मकाय के रूप में देखते हैं, यह महायानी दृष्टि है।

यह गीतिकाव्य ऐसे तो संस्कृत भाषा में रचा गया है। संस्कृत में होने के बावजूद भी इस काव्य में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जो संस्कृतेतर बौद्ध मूल के हैं। वे प्रायः पारिभाषिक पद के रूप में हैं। महाकवि शान्तिभिक्षु शास्त्री ने अपने संस्कृत-लेखन में बौद्ध परम्परा का पूर्णतः पालन किया है। संस्कृत को सरल, सुपट, सुगम और सुबोध बनाने का आन्दोलन सदियों पहले सबसे पहले बौद्धों ने चलाया था। शास्त्री जी ने उसे अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने प्रायः सारे ग्रन्थों में लिपिकर परम्परा का निर्वाह किया है। फलतः कवि ने शब्दों के मध्य में नकार (न् ध्वनि) को छोड़कर अन्य सभी नासिक ध्वनियों के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किया है (जैसे गङ्गा के स्थान पर गंगा, चञ्चु के स्थान पर चंचु, दण्ड के स्थान पर दंड आदि)। महाकवि ने बौद्धों की युगों पुरानी संकर संस्कृत की परम्परा का निर्वाह भी किया है और पाणिनीय संस्कृत की व्याकरण-परम्परा का भी आदर भी किया है। इस विषय में कवि का एकमात्र उद्देश्य यही कहा जा सकता है कि वे भाषा को ज्यादा से ज्यादा सरल और सुगम बनाना चाहते थे।

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

1. बुद्धोदयकाव्य, आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री, राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्, जनकपुरी, नई दिल्ली, 2009

27

पालि एवं बौद्ध संस्कृत साहित्य में बोधिसत्त्व-संकल्पना

डॉ. जयवन्त खण्डारे
वरिष्ठ शोध अध्येता, पालि अध्ययन केन्द्र
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानितविश्वविद्यालय),
लखनऊ परिसर, लखनऊ (उत्तर-प्रदेश)

बौद्ध-मत में बोधिसत्त्व का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। सम्पूर्ण बौद्ध-मत की यह मूल भित्ति है। बोधिसत्त्व संकल्पना का उदय पालि साहित्य में हुआ; किन्तु वहाँ उसको उतनी महत्ता नहीं मिली जितनी महायानी साहित्य में दिखती है। संस्कृत बौद्ध साहित्य में अर्थात् महायानी-साहित्य में इसे महती प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। महायानी-साहित्य के अनुसार, बोधिसत्त्व दूसरे के लिए जीता है। जहाँ स्थविरवाद में अर्हत् स्वयं मुक्त हुए बिना औरों को मुक्त करने के प्रयास को अधूरा मानता है, तो वहीं महायान का बोधिसत्त्व अपनी मुक्ति की चिन्ता किए बगैर दूसरों की मुक्ति के लिए आत्म-विसर्जन कर देता है।

महायान का बोधिसत्त्व कहता हुआ दिखाई है कि–'दूसरों का दुःख मुक्त करने का आनन्द जहाँ मेरे हृदय में समुद्र की तरह लहराता है, वहाँ मैं उस नीरस मुक्ति को लेकर क्या करूँ?'

स्थविरवाद का अर्हत् एक ऐसा उच्च आदर्श है, जो व्यक्ति को लोक-कल्याण के लिए योग्यता प्रदान करता है। कोई भी व्यक्ति स्वयं दुःख-मुक्ति या निर्वाण पाए, बिना दूसरों को उसका उपदेश कैसे दे सकता है? जो स्वयं का उद्धार नहीं कर सकता, वह दूसरों का उद्धार कैसे कर सकता है? गुड़ खाये बिना उसकी मिठास का अनुभव और व्याख्यान नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः अर्हत् तथा बोधिसत्त्व के आदर्श में कोई विरोध नहीं है और ये दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। अर्हत् पद की प्राप्ति आन्तरिक साधना है और लोक कल्याण बाह्य साधना। बाह्य साधना आन्तरिक साधना पर निर्भर है। महायान में अर्हत्त्व साधना की उपेक्षा कर बाह्य साधना पर जोर दिखाई देता है। स्थविरवाद में अर्हत्त्व साधना के साथ बोधिसत्त्व आदर्श का समन्वय किया गया है। उसकी उपेक्षा नहीं की गई। स्थविरवादी पालि साहित्य में स्वयं कल्याण और पर-कल्याण में, ध्यान और सेवा में उचित समन्वय है।

जातकपालि की निदान कथा में हम बोधिसत्त्व की अमरवाणी सुनते हैं कि मुझ शक्तिशाली पुरुष के लिए अकेले तर जाने से क्या लाभ? मैं तो सर्वज्ञता प्राप्त कर देवताओं सहित इस सारे लोक को ही तारूँगा–

"किं मे एकेन तिण्णेन, पुरिसेन थामदस्सिना।
सब्बञ्ञुतं पापुणित्वा सन्तारेस्सं सदेवकं"॥[1]

बोधिसत्त्व का भी यही आदर्श है। पालि साहित्य में भी पाई जाने वाली सद्धा (श्रद्धा) तथा भत्ति (भक्ति) का संस्कृत महायान साहित्य में पूर्ण विकास हुआ है। यह उसकी अपनी विशेषता है। लोकप्रियता के कारण इसका विश्व-साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। संस्कृत में 'बोधिचर्यावतार' ग्रन्थ आचार्य शान्तिदेव ने लिखा। यूरोप में प्रसिद्ध 'ईसप' की कथा पर जातकों के बोधिसत्त्व के आदर्श का प्रभाव है। ईसाईयों का 'बर्लरमि एण्ड योसफत', अरबी साहित्य की 'अलिफ-लैला' की अनेक कथाएँ भी इस बोधिसत्त्व के प्रभाव से सर्वथा प्रभावित है। अरबी साहित्य में प्रायः 'युदसफ' का उल्लेख आता है। कहीं कहीं 'बुदसफा' और फारसी में 'बोदासफ' आया है। बोधिसत्त्व शब्द के ही 'बोसत', 'युदसफ', 'बुदसफ', बोदसफ' और 'जोसफ' ये भिन्न-भिन्न रूप हैं।[2] पंचतंत्र और हितोपदेश के बारे में भी यही कहा जा सकता है।[3]

महायान के कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पालि में उपलब्ध हैं। जैसे–नागार्जुन का शून्यवाद दृष्टव्य है। 'सुञ्ञो लोके सुञ्ञो लोको, ति वुच्चति कित्तावता नु खो भन्ते सुञ्ञा लोको ति वुच्चति ति'।[4] ऐसा उल्लेख आता है–मज्झिम निकाय भाग-3 के चूलसुञ्ञतसुत्तं (21) और महासुञ्ञतसुत्त (22) में।

महायानियों ने (स्वयं को बोधिसत्त्वयान एवं) स्थविरवाद को श्रावकयान कहा है। यह 'यान' संकल्पना पालि साहित्य में ब्रह्मयान, धम्मयान रूप में पाई जाती है।[5] तथागत भगवान् बुद्ध का भिक्षुओं को धर्मोपदेश 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, अत्थाय, कल्याणाय....'[6] बोधिसत्त्व का भी आदर्श है। पालि में बोधिसत्त्व का आधार गौतम बुद्ध का ऐतिहासिक जीवन है; जिसकी विभिन्न गुणों की अभिव्यक्ति बोधिसत्त्व सिद्धान्त के प्रतीकों के रूप में की गई है। पालि में अर्हत् सिद्धान्त के आधार पर महायान परम्परा में बोधिसत्त्व सिद्धान्त का विकास किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि महायान में बोधिसत्त्व सिद्धान्त को कुछ हद तक अर्हत् सिद्धान्त की अपेक्षा श्रेष्ठतर दर्शाने के लिए भी प्रतिपादित किया गया है। उन्होंने सारिपुत्र एवं मोग्गल्लान को भी, जो कि अर्हत् थे, बोधिसत्त्व के रूप में प्रदर्शित किया है।

दीघनिकाय के महापदान-सुत्त एवं मज्झिम-निकाय के अच्छरिय अब्भुतधम्म सुत्त जैसे अनेक सुत्तों में 'बोधिसत्त्व' के सन्दर्भ पाये जाते हैं। तद्यथा–'बुद्ध होने के पूर्व मैं बोधिसत्त्व ही था।' यहाँ बोधिसत्त्व शब्द का अर्थ 'बोधि के लिए प्रयत्नशील प्राणी' है। भगवान् बुद्ध अपने पूर्वजन्मों में बुद्धत्व प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील थे। इसीलिए वे 'बोधिसत्त्व' कहलाये। जातक की कथाएँ भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की कहानियाँ हैं। इससे स्पष्ट होता है कि बोधिसत्त्व संकल्पना पालि साहित्य में भी सुप्रतिष्ठित है। चर्यापिटक में, बोधिसत्त्व की दसों पारमिताओं का विस्तार से वर्णन है। इसी प्रकार बुद्धवंस में भी अनेक स्थलों पर बोधिसत्त्व के सन्दर्भ में उल्लेख मिलते हैं।

---

1. बुद्धवंस, 2. सुमेधपत्थनाकथा, पृ. 56, वि.वि.वि. ईगतपुरी, नाशिक
2. Tr. By G.R. Woodword, Barlaam and Ioasaph, डॉ. भरतसिंह उपाध्याय, पालिसाहित्य का इतिहास, पृ. 375-376
3. डॉ. भरतसिंह उपाध्याय, पालिसाहित्य का इतिहास, पृ. 375-376
4. संयुत्तनिकाय-सळायतनवग्गो-सुञ्ञलोक
5. सं.नि. भाग-4, महावग्गो, मग्गसंयुत्त-3
6. दीघनिकाय-महावग्ग, 1. महापदानसुत्तं

दृष्टव्य है–

'या पुब्बे बोधिसत्त्वानं पल्लङ्कवरमाभुजे।
निमित्तानि पदिस्सन्ति तानि अज्ज पदिस्सरे'।[7]

सुत्तनिपात में उन्ह. बुद्ध-वीजांकुर कहा गया।

'इदं सुत्वान वचनं, असमस्स महेसिनो।
आमोदिता नरमरु बुद्धबीजं किर अयं'।[8]

बोधिसत्त्व चर्या को प्रकट करनेवाली मनः प्रणिधि, वाक् प्रणिधि और नियत-विवरण या व्याकरण का वर्णन भी पालि-साहित्य में साधक चैतसिक संकल्प कहा गया है। इसमें 'मैं बुद्ध होऊँगा' ऐसा साधक अपने मन में संकल्प करता है। वाक् प्रणिधि में यही संकल्प वाणी से करता है। इसके बाद उसका यह संकल्प पूर्ण होगा–ऐसी भविष्यवाणी जीवित बुद्ध द्वारा की जाती है; जिसको स्वयं बोधिसत्त्व भी सुनता है। इस कथन को नियत विवरण कहा जाता है। सुमेध बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में ऐसा कथन दीपंकर बुद्ध द्वारा किया गया था।[9]

बुद्धत्व-प्राप्ति के अधिष्ठान (संकल्प) के बाद बोधिसत्त्व बुद्धत्व कारक साधना में लग जाता है, अर्थात् पारमिताओं एवं बोधिपक्षीय धर्मों का अभ्यास करता है। पासरासिसुत्त में बोधिसत्त्व की पर्येषणा का वर्णन है (म.नि.-1), अंगुत्तर निकाय-2, भयभेरवसुत्त (म.नि.-1) में चार ध्यानों एवं संगारवसुत्त (म.नि.-1) में चर्या का उल्लेख है। महापदानसुत्त (दी.नि.) में बुद्ध ने कहा है कि मेरे पूर्व अनेक कल्पों में भी 6 बुद्ध हुए तथा विभिन्न कल्पों में बुद्धत्व की क्षमता वाले असंख्य सत्त्व होते हैं। इसी सिद्धान्त पर महायान सम्प्रदाय में असंख्य बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों को मान्यता का विकास हुआ। बुद्ध बनने से पूर्व स्वयं राजकुमार सिद्धार्थ गौतम ने अपने आपको एवं दूसरों को भी बोधिसत्त्व नाम से सम्बोधित किया था। उनकी शिक्षा का भी उल्लेख किया है। इस क्रम में 'धम्मपद' की एक प्रसिद्ध गाथा–'सब्ब पापस्स अकरणं... बुद्धान सासनं'–[10] से भी स्पष्ट होता है कि यह किसी एक बुद्ध की शिक्षा न होकर अनेक बुद्धों की शिक्षा है। इसी प्रकार 'आमगन्धसुत्त' में वर्णित शिक्षा भी गौतम बुद्ध द्वारा नहीं, बल्कि उनके पूर्व के काश्यप बुद्ध की शिक्षा है। अच्छरियअब्भुतधम्म सुत्त (म.नी.), महागोविन्द सुत्त (दी.नी.), महासुदस्सन सुत्त (दी.नि.) और महादेव सुत्त (म.नि.) में जातकों के सन्दर्भ दिए हैं। उनके अनुसार बुद्ध पूर्वजन्म में बोधिसत्त्व थे। बाद में अट्ठकथा साहित्य में बोधिसत्त्व सिद्धान्त का विकास होता हुआ दिखाई देता है।[11] कथावस्तु में बोधिसत्त्व की चर्या सम्बन्धी कुछ प्रश्नोत्तर भी मिलते हैं।

महायान परम्परा में भक्ति सिद्धान्त–

सामान्य स्त्री-पुरुषों को मानवीय-व्यक्तित्व में अलौकिकता अधिक आकर्षित और प्रभावित करती है और वे उसी अलौकिकता की इच्छा-पूर्वक पूजा-आराधना करते हैं। जैसे–सन्त पूजा, फकीर और सेन्ट को मानने की परम्परा जैसे प्रचलन में आयी, उसी प्रकार महायान में भी बोधिसत्त्वों की पूजा का विश्वास बढ़ा। सामान्य जनता बुद्धत्व की अपेक्षा सौख्य और सम्पत्ति में अधिक रुचि रखती है। इसी प्रकार श्रद्धालु

---

7. बुद्धवंस-अट्ठकथा, पृ. 110, वि.वि.वि., ईगतपुरी, 1998
8. बुद्धवंस-अट्ठकथा, पृ. 109, वि.वि.वि. ईगतपुरी, 1998
9. डॉ. महेश तिवारी, निदानकथा, जातक-अट्ठकथा, 33
10. ताराराम, खु.नि., धम्मपद, यमकवग्गो, पृ. 82
11. एन. दत्त- एसेक्टस् आफ महायान एण्ड इटस् रिलेशन टू हीनयान, लन्दन, पृ. 3-4

बौद्धों द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए भक्ति योग्य बोधिसत्त्व को चुना गया। भक्ति के कुछ सिद्धान्त पालि साहित्य में भी मिलते हैं। श्रद्धा ही भक्ति का पूर्व रूप है। जिसके प्रति श्रद्धा की जाती है; उससे कुछ याचना नहीं की जाती और भक्ति में भी यही भाव रहता है। किन्तु अविवेकी भक्ति अन्धश्रद्धा का रूप ले लेती है और उसमें याचना की कामना आ जाती है। स्थविरवादी परम्परा के साथ यही हुआ, महायान के माध्यम से बोधिसत्त्वों की भक्ति शुरू हो गई।

इस भक्ति की जो प्रवृत्ति थी; उसी के विकास के फलस्वरूप बोधिसत्त्व की भक्ति का विकास हुआ। बुद्ध की शिक्षा में प्रज्ञा एवं करुणा दोनों का समावेश है। महायान पन्थ के आचार्य शान्तिदेव ने अपनी संस्कृत रचना 'बोधिचर्यावतार' में प्रज्ञा की अपेक्षा करुणा को अधिक महत्त्व प्रदान किया। समग्र महायान साहित्य परम्परा में बोधिसत्त्व की साधना का आदर्श व लोक-कल्याण की भावना का चरमोत्कर्ष उपलब्ध होता है।

मूल पालि साहित्य में यह तीन क्रमिक अवस्थाओं में विकसित हुआ है–1. निकायों के सुत्तों 2. बुद्धवंस एवं चर्यापिटक तथा 3. अट्ठकथाओं विशेषतः जातक अट्ठकथा के द्वारा इसे समझाया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Editor- In-chief, A. K.Narain, The Journal of the International Association of Buddhist Studies, USA, Vol- 6, 1983
2. Hardayal, The Bodhisatta Doctorne in Buddhist Sanskrit literature, Motilal Banarasidas, 1932
3. www-tipitaka-org CSCD-3 , (VRI, Igatpuri, Nashik, Maharashtra)
4. Tr. By G.R. Woodword, Barlaam and Ioasaph, Loeb classical library, London, 1914
5. अनु. डा. भिक्षु धर्मरक्षित, धम्मपद, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 2010
6. पालि वाङ्मय में बोधिसत्त्व सिद्धान्त–डा.भदन्त सावंगी मेधंकर, नागपूर
7. बुद्धवंस अट्ठकथा, वि.वि.वि., धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, ईगतपुरी, 1998
8. शान्ति भिक्षुशास्त्री, बोधिचर्यावतार, रिसालदार पार्क, लखनऊ, 1955
9. ताराराम, धम्मपद गाथा और कथा, सम्यक प्रकाशन, 2010, नई दिल्ली,
10. डॉ. महेश तिवारी, निदानकथा, जातक अट्ठकथा, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, पटना, 1970
11. डॉ. भरतसिंह उपाध्याय, पालिसाहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2013

28

बौद्धदर्शन में अहिंसा तत्त्व एवं आधुनिक-लोकजीवन

विजय गुप्ता

(शोधच्छात्र)

श्रीलालबहादुरशास्त्री रा.सं. विद्यापीठ, नई दिल्ली

e-mail-vijaykesari18@gmail.com

दूरभाष–9716223831, 08726680655

सृष्टि के आदिकाल से ही मानव एवं अन्य-जीवों में एक अनन्य प्रकार का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। मानव अपने विभिन्न क्रिया-कलापों में जीव-जन्तुओं का उपयोग करता रहा है। कल भी करता था और आज भी कर रहा है, लेकिन कल की अपेक्षा मानव की आज की मनोवृत्ति बहुत ही भयावह हो गयी। जो मनुष्य अपने सुखों के लिए अन्य मनुष्य की भी हिंसा कर सकता है, वह अन्य जीव-जन्तुओं की हिंसा करने में तो विचलित भी नहीं हो सकता। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति हिंसा और अहिंसा की परिभाषा अपनी सुविधा के अनुसार बना लेता है। जिस कर्म में उसके अपने मनोवृत्ति की सिद्धि होती है, उसे वह अहिंसा मान लेता है। लेकिन 'न हि भैषजमातुरेच्छानुकारि' अर्थात् रोगी की इच्छा के अनुसार औषधि नहीं दी जा सकती। वह रोग और उसकी प्रकृति के अनुसार वैद्य के विवेक के आधार पर दी जा सकती है; अतः हिंसा एवं अहिंसा के मूलस्वरूप को समझना आवश्यक है।

पातञ्जल-योगसूत्र 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' के भाष्य में अहिंसा शब्द पर भाष्य लिखते हुए स्वयं वेदव्यास कहते हैं कि 'सभी प्रकार से सर्वकाल में सभी प्राणियों के लिए चित्त में भी अर्थात् मन में भी द्रोह न करना ही अहिंसा है।' तद्यथा–

'तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः'

बौद्धधर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने प्रारम्भ से ही अपनी दृष्टि को दुःख के विनाश पर नियन्त्रित कर रखा था। महल से पहली बार निकलते हुए एक राजकुमार के रूप में उन्होंने वृद्ध, रोग, मृत्यु आदि से पीड़ित लोगों को देखने के उपरान्त उनका मन विचलित सा हो गया। वे दुःख को किसी भी रूप में समाप्त करना चाहते थे। उन्होंने आत्मा, जगत्, सृष्टि आदि विषयों पर अपना ध्यान न आकृष्ट करते हुए जन-सामान्य के जीवन से दुःख को नष्ट करने के लिए तपस्या की थी। बुद्धत्व की प्राप्ति के अनन्तर उन्होंने चार आर्यसत्य का उपदेश दिया; जो निश्चित रूप से दुःख के समूलतः विनाश का सिद्धान्त था। बुद्ध ने हिंसा को भी एक प्रकार का दुःख माना; हिंसा से होने वाली पीड़ा पर नियन्त्रण करने के लिए

अहिंसा का मार्ग अपनाया और पञ्चशीलों में अहिंसा को प्रथम स्थान पर रखते हुए सभी जीवों से प्रेम करने का उपदेश दिया।

बुद्ध ने प्रारम्भ से ही अहिंसा को स्वीकार किया है। बौद्धधर्म में भी यज्ञों में होने वाले पशुबलि इत्यादि का सदा से विरोध हुआ है। बौद्धधर्म के सभी उपदेश पालि में रचित ग्रन्थ 'त्रिपिटक' में सन्निहित हैं। त्रिपिटकों में अहिंसा की विस्तृत व्याख्या की गयी है। संयुत्तनिकाय में कहा गया है कि मन, वचन और कर्म से अन्य प्राणियों को कष्ट नहीं देना चाहिए।

धम्मपद नामक ग्रन्थ त्रिपिटकों का सार-संक्षेप ग्रन्थ माना जाता है। इसमें कहा गया है कि 'अहिंसा का पथिक न स्वयं किसी को कष्ट देता है और न अन्य किसी को कष्ट देने के लिए प्रेरित करता है।' विनय-पिटक के अनुसार अहिंसा का पथिक स्थूल-जीवों को ही नहीं, बल्कि पेड़-पौधों को भी कष्ट नहीं पहुँचाता है।

अन्य धर्मों में अहिंसा की मान्यता-

प्राचीन-काल से ही अहिंसा विषय इतना व्यापक रहा है कि प्रायः सभी धर्मों ने इस पर अपना-अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया है। हिन्दूधर्म के आदि-ग्रन्थ वेदों में अहिंसा की विधि करते हुए सर्वत्र शान्ति की कामना की गयी है। वेदों में 'अहिंसन्ती' तथा 'अहिंसन्तीरमानया' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो ऋषियों के द्वारा प्रार्थना करते समय प्रयोग किये गये हैं।

गरुड़पुराण के अनुसार मन, वचन और कर्म से सभी जीवों के प्रति हिंसा निवृत्त होना परम सुखकारी अहिंसा धर्म है–

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
हिंसाविरामको धर्मो ह्यहिंसा परमं सुखम्॥

वेद के नाम पर अन्धाधुन्ध हिंसा करने वालों के लिए महाभारत में कहा गया है कि यज्ञ में पशुबलि आदि प्रकार की हिंसा लोगों की मनमानी का कारण होती है। वेदों में हिंसा की प्रशंसा नहीं की गयी है। हिंसा से किसी प्रकार का हित नहीं हो सकता है। जैनधर्म में कहा गया है कि अन्य जीवों का वध अर्थात् स्वयं का वध है और अन्य जीवों पर दया अर्थात् स्वयं पर दया है। इसलिए स्वयं से अर्थात् आत्मा से प्रेम करने वाला पुरुष सभी जीवों की हिंसा को त्याग देता है। सिक्खधर्म के धर्मग्रन्थ गुरुग्रन्थसाहिब में कहा गया है कि–

जे रत लागे कपड़े, जामा होय पलीत।
जे रत पीवै मांसा, तिन क्यों निर्मल चीत॥

अर्थात् जैसे रक्त लग जाने से वस्त्र मलीन हो जाता है, वैसे ही रक्तयुक्त मांस खाने से मन मैला हो जाता है; इसलिए मांस ग्रहण करना अधर्म है। बाइबिल के नये धर्म-नियम यूहन्ना में स्पष्ट लिखा है कि 'हमें अधिकार नहीं कि हम किसी का प्राण ल.।' यहूदी धर्म में कहा गया है कि 'किसी व्यक्ति के आत्म-सम्मान को चोट न पहुँचाओ। किसी के सामने किसी को अपमानित न करो। उसका अपमान करना उतना ही बड़ा पाप है, जितना कि किसी व्यक्ति का खून करना।'

इस्लाम धर्म के धर्मग्रन्थ कुरआन शरीफ़ में अनेक आयतों में अहिंसा विषयक बात. कही गयी हैं। मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली स्वयं कहते हैं कि "हे मानव! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना।" अर्थात् तू मांस का भक्षण न कर। कर्नाटक के गुलबर्गा में दरवेश हज़रत

शारुक्नुद्दीन की मजार के आगे लिखा है–

"यदि तुमने मांस खाया है, तो मेहरबानी कर अन्दर मत आओ"

इस प्रकार विभिन्न धर्मों एवं उनसे सम्बन्धित ग्रन्थों एवं लेखों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि धर्मग्रन्थों में किसी प्रकार की हिंसा का विधान नहीं किया गया है। आज के कुछ दुष्ट-प्रकृति के धर्मगुरुओं ने ही अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैलाकर हिंसा का विधान कर दिया है।

'अहिंसा परमो धर्मः' इस वचन से मानव के परम धर्म का निर्माण होता है। दूसरे जीवों पर दया करना ही अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकार की होती है–1. मानसिक, 2. वाचिक तथा 3. शारीरिक हिंसा। किसी प्राणि-विशेष के प्रति हिंसा-विषयक चिन्तन करना ही मानसिक हिंसा है। किसी को गाली देना या अभद्र व्यवहार करना वाचिक हिंसा के अन्तर्गत आता है और मारना-पीटना या जान से मारना इत्यादि शारीरिक हिंसा है। इन तीन प्रकार के हिंसाओं से बचना ही पूर्णतः अहिंसा है। इस अहिंसा-धर्म का पालन करना अत्यधिक कठिन नहीं होता है, क्योंकि प्रत्येक प्रकार हिंसा-अहिंसा विषयक क्रिया व्यक्ति की स्वयं की मानसिक प्रवृति या क्रिया होती है। इसके लिए अन्य कोई बाध्य नहीं करता है। मनुष्य यदि मानसिक रूप से स्वयं को अहिंसक बनाने की ठान ले तो वह पूर्ण-रूप से अहिंसाव्रत का पालन कर सकता है।

मनुष्य का जीवन अपेक्षाओं का विस्तृत एवं परिवर्तित रूप है। जबतक जीवन है वह किसी न किसी प्रकार की अपेक्षा से अभिभूत रहता ही है, और होना भी चाहिए। क्योंकि अपेक्षाओं के अभाव में मनुष्य निरीह प्राणी के समान पड़ा रहता है। लेकिन अपेक्षाओं की भी एक सीमा होनी चाहिए, मन की चंचलता के कारण मनुष्य में अनेक प्रकार की अपेक्षाएँ जन्म ले सकती हैं। अपेक्षाएँ ही किसी वस्तु के प्रति राग उत्पन्न करती हैं और अपेक्षाओं से ही किसी से द्वेष हो सकता है, इसलिए भगवान् बुद्ध ने कहा है कि–

नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलो।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा, नत्थि सन्ति परं सुखं॥

धम्मपद में आर्यशब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि प्राणियों का हनन करने वाले को आर्य नहीं कहा जा सकता, जो सभी प्राणियों की हिंसा न करें अर्थात् सभी प्राणियों से प्रेम-भाव रखे, वही आर्य है–

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो ति पवुच्चति॥

मानव का जीवन, दीवार पर चित्रित उस चित्र के समान है; जो अनेक रंगों के समूह से किसी अर्थ का बोधन तो कराता है, लेकिन उसमें से किसी एक रंग का अपना कोई उद्देश्य नजर नहीं आता है। इस प्रकार अनेक रंगों से बने चित्र से सभी रंगों के मिलने से ही किसी अर्थ का बोधन होता है–स्वतन्त्र रूप से किसी एक रंग से नहीं। ठीक इसी प्रकार, मानव का जीवन किसी एक मनोवृत्ति का रूप नहीं है, उसमें अनेक प्रकार की मनोवृत्तियों का समग्र रूप ही मानव है। जैसे- दया, स्नेह, परोपकार आदि।

बुद्ध कहते हैं कि जिसके अन्तःकरण में प्राणियों के प्रति दयाभाव नहीं है, वह वृषल (शूद्र) है–

'यस्स पाणे दया नत्थि तं जञ्ञा वसलो' इति।

बुद्ध ने पशुवध को अनेक रोगों का कारण माना है। वे कहते हैं कि पहले विश्व में केवल तीन ही रोग थे–इच्छा, भूख और वृद्धावस्था। लेकिन पशुवध होने से अब बढ़ते-बढ़ते अट्ठानवे नये रोग पैदा हो गये हैं–

तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनसनं जरा।
पसूनं च समारम्भा अट्ठानवुतिमागमु॥

हिंसा और अहिंसा की दृष्टि से मानव-जीवन के तीन प्रकार हो सकते हैं–

1. हिंसायुक्त जीवन, 2. हिंसा-अहिंसायुक्त जीवन और 3. अहिंसायुक्त जीवन।

हिंसायुक्त जीवन में व्यक्ति हिंसा और अहिंसा के विषय में विवेक नहीं कर पाता और वह स्वार्थवश अन्धाधुन्ध हिंसा करता रहता है। यह कर्म पीड़ादायक है। इसलिए जीवन के किसी न किसी काल में उसे इसका दुर्दान्त पीड़ादायक फल भी मिलता है। जब व्यक्ति हिंसा और अहिंसा का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह धीरे-धीरे अपने कर्मों में हिंसा का अल्पीकरण करने लगता है अर्थात् हिंसा से बचने लगता है और कम से कम हिंसा करने का प्रयत्न करता है। यह अवस्था हिंसा-अहिंसायुक्त जीवन का है। अहिंसा, जीवन की वह चरम अवस्था है जिस स्थिति में व्यक्ति हिंसा और अहिंसा में विवेक करके अहिंसा-युक्त कर्म करने लगता है। वराह-पुराण में अपराधों की गणना करते हुए मांसों का भक्षण करने वाले को अठारहवां अपराधी कहा है।

संयुत्त-निकाय में अनेक स्थानों पर बुद्ध के वचनों के द्वारा हिंसा की निन्दा की गयी है। संयुत्त-निकाय में बुद्ध किसी राजा को उपदेश देते हुए कहते हैं कि–

"हे राजन! अपने मन को सभी दिशाओं में घुमाओ। तुम्ह. अपने से प्यारा कोई भी प्राणी नहीं मिलेगा। जैसे, तुम्ह. अपना जीवन प्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। जो अपनी भलाई चाहते हैं, वे दूसरों को भी कभी नहीं सताते हैं। विश्व के समस्त प्राणियों के समान असीम मैत्री-भावना बढ़ानी चाहिए, अतः तुम सदा मन में यही भावना लाओ कि विश्व के सभी प्राणी सुखी हों।"

राजा प्रसेनजित् द्वारा यज्ञ में किये जा रहे हिंसा को रोकने के लिए बुद्ध स्वयं उनसे कहते हैं कि–

"हे राजन्! यज्ञ में हिंसा करने के फल अच्छे नहीं होते। यदि तुम्ह. यज्ञ ही करना है तो ऐसा यज्ञ करो, जिसमें भेड़-बकरे और गाय. न कटती हों, ऐसा यज्ञ ही सुमार्ग पर ले जाने वाला है।"

इस प्रकार से अपने उपदेशों से अभिभूत करते हुए भगवान् बुद्ध कहते हैं कि-

"यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्त्वा न हनेय्य न घातये॥"

'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' ऋषियों के इस वचन से ज्ञात होता है कि दूसरों को पीड़ा देना महापाप है। वह पीड़ा किसी भी प्रकार की हो सकती है–अर्थात् मानसिक, वाचिक और शारीरिक। पातञ्जलयोगदर्शन 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि ऐसा कर्म जो प्राण को शरीर से वियोग करता है, वह हिंसा कहलाता है। वह हिंसा सभी रूपों में अनर्थ का कारण होती है। उसका अभाव ही अहिंसा है। इस प्रकार हिंसा अकरणीय कर्म है जो किसी भी रूप में अनुगमन करने योग्य नहीं है। इसलिए उसका त्याग करके अहिंसा को धारण कर.।

उपसंहार–

हिंसा एवं अहिंसा में संघर्ष प्राचीन-काल से ही होता चला जा रहा है। हिंसा किसी भी प्रकार से करणीय नहीं है। इसका फल इसके कर्म से घोर दुःख देने वाला होता है। भगवान् बुद्ध ने सदा से अहिंसा का पालन करने का उपदेश दिया है।

यथा–**"जो अपने सुख के लिए दूसरे प्राणियों को मारते हैं, वे मरने के पश्चात् भी सुखी नहीं होते।"**

भगवान् बुद्ध अन्य जीवों में स्वयं को अनुभूत करते थे। इसलिए वो 'तथागत' कहलाये। सभी प्राणियों में चिन्तनशील प्राणी को, मनुष्य को अब इस विषय में चिन्तन करने की आवश्यकता है क्योंकि वह अपने मनुष्यत्व का धीरे-धीरे त्याग करता चला जा रहा है और पशुत्व-वृत्ति अपना रहा है।

अन्त में–

अहिंसा परमो धर्मः सर्वेषामिति सम्मतिः।
ऋषिभिर्बहुधा गीतं सूनृतं तदनन्तरम्॥

29

ऋषिका घोषा एवं थेरी सुभा के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

इन्दु डिमोलिया
शोधच्छात्रा (पीएच.डी.)
संस्कृत एवं प्राच्य-विद्या अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067
ई-मेल–indudemoliya@gmail-com

विश्व साहित्य की प्राचीनतम रचना वेद को माना गया है। वेदों की संख्या चार है–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। भारतवर्ष के इतिहास में ऋग्वैदिक काल का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ऋग्वेद भारत का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। ऋक् का अर्थ है–स्तुतिपरक मन्त्र। इसी तारतम्य में "ऋच्यते स्तूयतेऽनया इति ऋक्" के अनुसार, जिसके द्वारा देवता विशेष की स्तुति की जाती है; उसे 'ऋक्' कहा जाता है। जैमिनीय ने अपने मीमांसा-ग्रन्थ में 'ऋक्' को परिभाषित करते हुए कहा है–'जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था है, उन छन्दोबद्ध मन्त्रों का नाम ही ऋचा या ऋक् है। भाषा, भाव और प्रौढ़ता की दृष्टि से इसे सभी वेदों में प्राचीनतम घोषित किया गया है। जिसके मन्त्र अन्य संहिताओं में भी प्रयुक्त हुए हैं। समस्त वेदों में सहस्र-शीर्ष यज्ञरूपी परमेश्वर से सर्वप्रथम ऋचाओं के आविर्भाव का उल्लेख मिलता है–

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।[1]
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस् तस्माद् अजायत॥

इस वेद में प्रायः देवताओं की स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं। ऋषियों ने इनके प्रति श्रद्धा-भाव का समर्पण करते हुए अभीष्ट की सिद्धि हेतु इन्ह. पुनः-पुनः आमन्त्रित किया है। ऋग्वेदीय ऋषियों में मधुच्छन्दा, मेधातिथि, दीर्घतमा, अगस्त्य, गृत्समद एवं उनके वंशज, विश्वामित्र एवं उनके वंशज, वामदेव एवं उनके वंशज, अत्रि ऋषि एवं उनके वंशज, भरद्वाज एवं उनके वंशज, वशिष्ठ ऋषि एवं उनके वंशज, कण्व, भृगु, अंगिरस, सोम पवमान, त्रित, विमद, इन्द्र, श्रद्धा आदि आते हैं। मन्त्र-दृष्टा ऋषियों के साथ ही नारियाँ भी वैदिक मन्त्रों की दृष्टा थीं; जिन्होंने कई वैदिक ऋचाओं की पूरी रचना की। इन स्त्री ऋषिकाओं द्वारा दृष्ट मंत्र अधिकांशतः दशम मण्डल में प्राप्त होते हैं। इन नारियों को "ऋषिका" अथवा "ब्रह्मवादिनी" कहा जाता है। जिनकी संख्या सम्भवतः सत्ताईस थी। वेदों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि

मन्त्रदृष्टा जिस प्रकार अनेक ऋषि हैं, वैसे ही अनेक ऋषिकाएँ भी हैं। ऋग्वेद में सम्पूर्ण मन्त्रों की ऋषिका "सूर्या-सावित्री" है। ऋग्वेद की ऋषिकाओं की सूची बृहद् देवता के दूसरे अध्याय में इस प्रकार है–

घोषा गोधा विश्वारा, अपालोपनिषन्निषत्।
ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादितिः॥84॥
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती॥85॥
श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक्श्रद्धा मेधा च दक्षिणा।
रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः॥86॥

अर्थात् घोषा, गोधा, विश्वारा, अपाला, उपनिषद्, निषद्, ब्रह्मजाया (जुहू), अगस्त्य की भगिनी, अदिति, इन्द्राणी और इन्द्र की माता, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा और नदियाँ, यमी, शश्वती, श्री, लाक्षा, सार्पराज्ञी, वाक्, श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, रात्री और सूर्या-सावित्री आदि सभी ब्रह्मवादिनी हैं। ऋग्वेद के 10-134, 10-39,40, 10-91, 10-95, 10-107, 10-109, 10-158, 10-159, 10-189, 5-28, 8-91 आदि सूक्तों की मन्त्रदृष्टा ये ऋषिकाएँ हैं।

ऋग्वेद में वर्णित ऋषिकाओं में घोषा का स्थान सर्वश्रेष्ठ था; क्योंकि इनका उल्लेख ऋग्वेद में बार-बार आता है। कन्या होते हुए भी घोषा अपने इच्छानुसार योग्य वर प्राप्त करने में असमर्थ थी, क्योंकि वह श्वेत कुष्ठ रोग से पीड़ित थी। घोषा ने अश्विनी देवों की प्रशंसा में दो ऋचाओं का निर्माण किया। अश्विनी देवों से अपनी कामना प्रकट करती हुई घोषा वर माँगती है–

"मैं उस बात को नहीं जानती, उसे तुम बतला दो, जिसे कि युवा और युवती घरों में रहकर अनुभव करते हैं। मैं स्त्री-प्रिय सुपुष्ट वीर्यवान् तरुण के गृह में जाऊँ। हे अश्विनो, (मेरी) यह (कामना) पूरी करो।"

परिणामस्वरूप उसकी प्रार्थनाओं से प्रसन्न होकर अश्विनी देवों ने उसे रोग मुक्त कर विवाह योग्य बना दिया। उसका विवाह कक्षीवान् जैसे योग्य वर के साथ सम्पन्न हुआ।

इस प्रकार ऋग्वेद में अनेक ऋषिकाओं का वर्णन आया है। इन ऋषिकाओं की पृष्ठभूमि और विचार-भूमि भिन्न-भिन्न है।

इसी प्रकार थेरीगाथा में थेरियों का विस्तृत वर्णन है। थेरीगाथा पालि-त्रिपिटक के अन्तर्गत सुत्त-पिटक के खुद्दक-निकाय का एक महनीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में थेरियों ने; जो अर्हत् भी हुई थीं, अपने जीवन के सत्य को, अपने जीवनानुभव को, अपने भिक्खुणी (भिक्षुणी) होने के पूर्व के जीवन को और भिक्खुणी होने के बाद के जीवन को, जो उन्होंने अनुभव किया, जाना, पहचाना–उसको बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। इस महनीय ग्रन्थ में 552 गाथाओं के माध्यम से 73 भिक्खुणियों ने अपने अनुभव को संगीतात्मक एवं स्वाभिव्यञ्जनात्मक गीति-शैली में अभिव्यक्त किया है। इस ग्रन्थ की हर गाथा जीवन का एक निश्चित सन्देश देती है।

जिस समय भारत में बौद्ध-धर्म प्रतिष्ठित था, उस समय भिक्खुणी-संघों की भरमार थी। इन भिक्खुणी संघों में प्रविष्ट हो जाने पर एक स्त्री एक स्वतन्त्र व्यक्ति बन जाती थी, वह किसी पुरुष की पिछलग्गी मात्र नहीं रह जाती थी।

संस्कृत साहित्य में स्त्रियों के शारीरिक सौन्दर्य का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है, जिससे कि–वे शरीर के सौन्दर्य से विमुक्त न हो पाए। राजगृह के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुल में जन्मी सुभा (शुभा) देखने में बहुत सुन्दर थी और उसकी सुन्दरता के कारण ही उसका नाम 'सुभा' रखा गया था।

थेरी बनने के पश्चात् एक समय जीवक के सुरम्य आम्रवन से गुजरती हुई सुभा थेरी के रास्ते को रोकते हुए एक कुटिल तथा दुश्चरित्र पुरुष उससे काम-याचना करने लगा। वह उसे लुभाने के लिए उसके सौन्दर्य का विभिन्न ढंग से मनोहारी चित्रण करने लगा। तब सुभा ने उससे कहा कि 'जिस शरीर को देखकर वह इतना मन्त्रमुग्ध हो रहा है, वह मांसादि गन्दगी का बना हुआ शव-मात्र तथा क्षणभंगुर है।' तद्यथा–

किं ते इध सारसम्मतं, कुणपपूरम्हि सुसानवड्ढने।
भेदनधम्मे कलेवरे, यं दिस्वा विमनो उदिक्खसि॥

इसके बाद भी वह कामुक पुरुष सुभा थेरी की आँखों की प्रशंसा करते हुए कहता है कि–'हे सुन्दरि! तेरी ये दोनों आँखें हिरणी की आँखों के समान है। ये दोनों आँखें ही मेरी काम-वासना को उद्दीप्त कर रही हैं।'

तब थेरी शुभा उस कामुक पुरुष से कहती है कि–'यह आँखें क्या हैं? दो गड्ढों में स्थित, अश्रुओं से सिंचित, तरल बुदबुद मात्र। पेड़ के खोल में स्थित जैसे एक छोटी सी, एक गोलक, जिसमें से लसदार पदार्थ (पतला कीचड़) निकलता रहता है; इन्हीं आसुँओं, कीचड़ आदि का मिश्रित पिण्ड ही आँखें कहलाता है। इससे अधिक वह कुछ भी नहीं।' यह कहकर शुभा थेरी ने अत्यन्त निर्विकार चित्त से उसी क्षण अपनी आँख को निकालकर उस मनुष्य को देते हुए कहा–"यह मेरी आँखें हैं, ले!"

उप्पाटिय चारुदस्सना, न च पज्जित्थ असङ्गमानसा।
हन्द ते चक्खुं हरस्सु तं", तस्स नरस्स अदासि तावदे॥

यह देखकर उसी क्षण उस मनुष्य की काम-पिपासा समाप्त हो जाती है एवं शुभा थेरी से क्षमा-याचना करते हुए कहता है कि–'हे भिक्खुणी! तेरा मंगल हो। मैं फिर इस प्रकार का बुरा कर्म कभी नहीं करूँगा।'

तस्स च विरमासि तावदे, रागो तत्थ खमापयी च नं।
सोत्थि सिया भिक्खुणी, न पुनो एदिसकं भविस्सति॥

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ऋग्वेद की ऋषिका घोषा; जहाँ कुष्ठ रोग के निवारण के लिए अश्विनी कुमारों की स्तुति करती है, जिससे की वह विवाह-योग्य वर पा सके एवं गृहस्थ-जीवन व्यतीत कर सके; वहीं दूसरी ओर थेरी सुभा अपने सुन्दर शरीर को मांसादि गन्दगी का बना हुआ शव-मात्र तथा क्षणभंगुर कहती है।

अतः ऋग्वेद की ऋषिका घोषा गृहस्थ जीवन की इच्छुक है, इसके विपरित थेरीगाथा की थेरी सुभा आध्यात्मिकता की ओर मुखर दिखाई देती है। ये दोनों मार्ग प्रवृत्ति-निर्वृत्ति के ही द्योतक हैं।

30

बौद्धमिश्रितसंस्कृतसाहित्य-वैदिकसाहित्ययोः मौलिकं साम्यम्

डॉ. शैलेन्द्र-प्रसाद-उनियालः
सहायकाचार्यः (संविदा) वेदविभागः
राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम् (मा.वि.वि.)
श्रीरघुनाथ-कीर्ति-परिसरः,
देवप्रयागः, पौडी-गढवालः (उत्तराखण्डः)

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्नऽआसुव॥

वैदिकहिन्दूधर्मस्य बौद्धधर्मस्य च पृष्ठभूमेरवलोकनेन स्पष्टं प्रतीयते यत् शाक्यमुनिः स्वयं वैदिकधर्मे 563 क्रैस्तपूर्व कपिलवस्तुस्थानं निकषा लुम्बिन्यां नेपाले शुद्धोदनराज्ञः गृहे तद्धर्मपत्न्याः मायादेव्याः कनककुक्षौ जनिं लेभे। तन्माता मायादेवी कौलवंशीया शिशोर्जन्मनः सप्तदिवसानन्तरमनन्ततलन्तद्धामसञ्जगाम। ततो मातृस्वसाप्रजापतिगोतमी जातकं सिद्धार्थ गौतमं सम्पोषितवती। अतो निश्चप्रचञ्यदास्य शिक्षादीक्षा वैदिकधर्मानुकूलेन मूलेन विहितेति, बलदेवोपाध्यायाः सुभाषन्ते। अतोऽनुमीयते यदस्य जीवने वैदिक-प्रभावस्त्ववश्यम्भावीति। विवाहानन्तरमसौ पत्नीं यशोधरां नवजातशिशुं राहुलनामानं, इक्ष्वाकुकुलमतुल-विभवमूलं शूलमिव परित्यज्य जगन्मूलामूल्यं तत्त्वमन्वेष्टुङ्काननानननजगौ।

बौद्धधर्मे दर्शने साहित्ये तेषां सिद्धान्तानां वैदिक तथ्यैः सह तुलनात्मकेनाध्ययनेन बुद्ध्यते यदात्मनो मौलिकासु शिक्षासु औपनिषत्तत्वं गृहीतम्।[1]

बुद्धधर्मः उपनिषदश्च–

जगदुत्पत्तिविषये छान्दोग्योपनिषदि केचनाहुः आरम्भे असद् आसीदिति स एक एवासीत् न द्वितीयः अतः असतः सञ्जात[2] इति आधारेण बौद्धाः उत्पत्तेः प्राक् सर्ववस्त्वसदिति मन्वते। भगवान् शङ्कराचार्यः स्वीयभाष्ये सद्भाव सिद्धान्तः बौद्धानां विशिष्टं मतमिति समुदाजहार। अथ कठोपनिषदि नचिकेतानामर्षिः जागतिकपदार्थानां विषये स्पष्टमुवाच यदिमे पदार्थानैव स्थायिनः इमे सर्वेन्द्रियाणां तेजो जरयन्ति न दीर्घकालिकमिदं जीवनं[3] कथनमिदं बुद्धस्य सर्वं दुःखम्। तथा च सर्वमनित्यमिति कठोपनिषदः बीजानि

1. बौद्धदर्शन मी. 24 परि. 361
2. तद्धि एक एवाहुरसदेवेदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सञ्जायते। (छान्दोग्य.6/1/1)
3. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव, अपिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान् अतिदीर्घे जीविते को रमते। (कठोप.-1/1/26-28)

वाक्यत्वेन प्रतीयन्ते। यतोहि भिक्षुको भूत्वा निवृत्तिमार्गे हि जिजीविषन् शतं समाः इत्येव महल्लक्ष्यमासीत्। बृहदारण्यकोपनिषदि प्राप्यते यद्यः मुमुक्षुः असौ पुत्रवित्तलोकैषणेति एषणात्रयं परित्यज्य भिक्षुचर्यां चरति स्म।[4] अस्यैव सिद्धान्तस्य विशदरूपं बौद्धभिक्षुषु जैनयतिषु दरीदृश्यते।

एषणात्रयं गोस्वामीतुलसीदासोऽनूदितवान्–

सुतवित लोक ईषणातीनि। केहिके मति इन्ह कृतन मलीनी।

बुद्धात्पूर्व भारते भिक्षुणां एका संस्थासीत् अस्याः सञ्ज्ञानं पाणिनेरष्टाध्याय्याः सूत्रद्वये प्राप्यते। पाणिनिमनुसृत्य पाराशर्यः[5] कर्मन्दः[6] भिक्षुसूत्राणां रचनां कृतवन्ताविति। भिक्षुसूत्राणामाशयः तेषामाचारज्ञानाय पर्यवस्यति। बुद्धस्य निवृत्तिमार्गकल्पनेयं वैदिकी आस्ते। कर्म-सिद्धान्तो बुद्धधर्मस्याधारशिलात्वेन विराजते। जीवः स्वीयान्सुकृतदुष्कृतानवश्यमेव भुङ्क्ते। सिद्धान्तोऽयं जागृतः व्यापकश्चास्ते। यदस्य प्रभावेण नापि कश्चिद्विमुक्तः। सिद्धान्तोऽयं विशेषेण बृहदारण्यकोपनिषदि[7] जरत्कारवः याज्ञवल्क्यात् ग्रहातिग्रहविषयिणीं विद्यामधिजगे।

यां विद्यां याज्ञवल्क्यः प्रोक्तवान् सारांशत्वेनेह समाधीयते-

'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति' इत्यमेव कठोपनिषदि समालोच्यते।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्॥[8]

अयं सर्वोपनिषन्मान्यः सिद्धान्त आस्ते। श्रीमद्भागवतेऽपि–

कर्मणा जायते जन्तु कर्मणैव विलियते।
सुखदुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥[9]

कर्मवादस्य सिद्धान्तोऽयं बौद्धधर्मे औपनिषत् सिद्धान्तानेवाधायाध्रियते इति निश्चप्रचम्। अथ वयं दुःखाख्यस्य पदार्थस्य चिन्तनं कुर्मश्चेत् बुद्धात्पूर्वं सांख्यैः[10] विचारितः, सोऽपि विचार उपनिषदा प्रकारान्तरेण शोकमोहादिभिर्मुक्त एकत्वं यः पश्यतीति[11], सुविचारितः। तथा हि गीतायां दुःखालयमशाश्वतं[12] संसारोऽयं दुःखालयः परञ्च शाश्वतं नास्तीति। सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः। यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

---

4. ते हस्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। (बृहदा. 4/4/22)
5. पाराशर्य-शिलाविभ्यां भिक्षनसूत्रयोः (पा. 4/3/11१)
6. कर्मन्दकृशाव्वादिनि (पा. 4/1/111),
7. बृहदारण्यको. 3/2/13,
8. कठोपनि. 2/5/7,
9. श्रीमद्भगवत 1१/24/13
10. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा- (सांख्यकारिका. 1)
11. ईशावास्योपनिषत् -7
12. मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ (गीता 8/15)

तं विद्यादुःखसंयोगं वियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णश्चेतसा॥[13]

एवं बहुधा दुःखस्य शमनोपायाः पूर्वैः विचारिताः। यथा योगसूत्रे[14]–सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः क्लेशानां मूले सति जन्मायुर्भोगानां क्रमो न नश्यति परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः[15]।

सर्वाणि कर्मफलानि दुःखरूपाणि सन्ति इतोऽपि बुद्धस्य सिद्धान्तः साम्यमुपैति।

1. दुःखम्–संसारस्य जीवनं दुःखपूर्णम्।
2. समुदयः–दुःखस्य कारणं विद्यते (सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः) योगदर्शनेऽस्य मूलं विद्यते।
3. निरोधः–अस्माद्दुःखान्मुक्तिः प्राप्यते विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।[16]
4. निरोधगामिनी प्रतिपद्–दुःखानां क्षयाय मार्गः अस्ति।

सर्वथा सर्वदा चैतेभ्यः मुक्तो भवितुं शक्यते। एवमुच्यते यद् एतेषां सत्यानामविष्कारः भगवता बुद्धेन कृतः परञ्चैतिहासिकदृष्ट्या भारतीयाध्यात्मिकवेत्तृभिः पूर्वमेव समुद्घाटिता आसन् उपायाः। माध्यमिक-कारिकावृतौ[15] प्रतिपादितं यदेतानार्यसत्यानि आर्या एव ज्ञातुं शक्नुवन्ति न सामान्याः। दुःखनिरोधिनीप्रतिपन्मार्गः अष्टाङ्गिकः।

अत्र उभयोः मतयोः तुलना–

भगवद्बुद्धतत्त्वानि	**वैदिकज्ञानतत्त्वानि**
1. सम्यग् दृष्टिः	भद्रङ्कर्णेभिः[18] .....
2. सम्यक् सङ्कल्पः	प्रज्ञा तन्मेमनः शिवसङ्कल्प[19] ......
3. सम्यग्वाचा	मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुतस्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥[20] अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदत भद्रया॥[21]

---

13. गीता 6/21-23,
14. यो.सू.-2/13,
15. यो.सू.-2/15,
16. यो.सू.-2/26,
17. ऊर्णा पक्ष्म यथैव हि करतलसंस्थं न विद्यते पुंभिः।
अक्षिगतं तु तदेव जनयत्यरतिं पीडाञ्च॥
करतलसदृशो बालो न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्ष्म।
अक्षिसदृशस्तु विद्वान् तेनैवोद्वेजते गाढम्॥ (चन्द्रकीर्ति पृ. 476)
18. शु.य.25/21,
19. शु.य. 34/1-6,
20. अथर्व. 3/3१/3,
21. अथर्व.3/3१/2,

4. सम्यक्कर्मान्तः देवहितं यदायुः[22]
5. सम्यगाजीविका शीलः मागृधः कस्यस्विद्धनम्[23]
6. सम्यग्व्यायामः कुर्वन्नेवेह[26] ....
7. सम्यक्स्मृतिः मेधाम्मे ....
8. सम्यक्समाधिः समाधिः अग्नेनयसुपथा ....

त्रिरत्नानि नहि प्राणिवधः कार्यः त्रिरत्नं मा परित्यज।
आचार्यस्ते न संत्याज्यः संवरो दुरतिक्रमः॥
प्राणिनश्च न ते घात्याः अदत्तं नैव चाहरेत्।
मा चरेत् काममिथ्या वा मृषानैव हि माषयेत्॥[27]

वज्रयानपरम्परायां प्रज्ञोपाययोः ऐक्यं हि प्रधानं तदेव निर्वाणम्। न प्रज्ञा केवलमात्रेण बुद्धत्वं भवति नाप्युपायमात्रेण; परन्तु यदि पुनः प्रज्ञोपायलक्षणौ समतास्वभावौ भवतः, एतौद्वावभिन्नरूपौ भवतः; तदा मुक्तिर्भवति।

उभयोर्मिलनं यच्च सलिलक्षीरयोरिव।
अद्वयाकारयोगेन प्रज्ञोपायं तदुच्यते॥
चिन्तामणिरिवाशेष जगतः सर्वदा स्थितम्।
मुक्ति मुक्तिप्रदं सम्यक् प्रज्ञोपायः स्वभावतः ॥[28]

निष्कर्षः–

उभयोः बौद्धमिश्रितसंस्कृतसाहित्य-वैदिकसाहित्ययोः तुलनया समभिज्ञायते यद्भगवतः बुद्धस्य व्याहरणे आचरणे चैक्यं समवलोक्यते तस्माल्लोकाः तच्छिष्यत्वं स्वीकुर्वन्ति। तेषामाप्तत्वं यथार्थवक्तृत्वं लोके सिद्ध्यति यद्यप्येते सर्वे धर्माः नियमा वा वैदिकसाहित्ये सम्प्राप्यन्ते, तेषां धर्माणां नियमानां वा पालयितारः विरला एव भवन्ति। यथा भगवाञ्छङ्कराचार्य-कुमारिलभट्टादयः शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायशीलाः सन्तः एव प्रमाणभूताः भवन्ति।

यतोहि–

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥[29]

22. शु.य. 25/21,
23. शु.य. 4१/1,
24. शु.य. 4१/2,
24. शु.य. 32/15,
26. शु.य. 4१/16,
27. ज्ञानसिद्धिः 8/19,
28. बौद्ध द. मी. पृ. 329,
29. श्रीमद्भगवद्गीता.3/21

31

स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थ-प्रकाश में बौद्ध सम्प्रदाय

डॉ. विकाशः
नायब सुबेदार (धर्म-शिक्षक) भारतीय सेना,
तोपखाना केन्द्र, नासिक रोड़ कैम्प, नासिक (महाराष्ट्र)
मोबा.–72067 76466

स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक महान् ग्रन्थ की रचना की है। सत्यार्थ प्रकाश चतुर्दश समुल्लास में सुग्रथित है। इसके अन्तर्गत भारतीय संस्कृति तथा दर्शन से सम्बद्ध विचारों पर महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत स्वामी दयानन्द सरस्वती ने द्वादश समुल्लास में बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में विस्तृत विवरण दिया है। यह समुल्लास चार्वाक-बौद्ध और जैन सम्प्रदायों के विषय में विवरण प्रस्तुत करता है। बौद्ध-दर्शन के विषय में उन्होंने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं। तद्यथा–

कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्तरदर्शनात्॥[1]

अर्थात् कार्यकारण भाव (कार्य के दर्शन से कारण और कारण के दर्शन से कार्यादि) का साक्षात्कार प्रत्यक्ष से, शेष में अनुमान होता है। इसके बिना प्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहार पूर्ण नहीं हो सकते हैं। इस तरह के विभिन्न लक्षणों से अनुमान को अधिक मानकर चार्वाक से भिन्न शाखा बौद्धों की समुत्पन्न हुई। 'बुद्ध्या निर्वर्तते सः बौद्धः' अर्थात् जो बुद्धि से सिद्ध हो जाये। इसी तरह इस ग्रन्थ में बौद्ध-धर्म के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण विपयों का ज्ञान होता है।

सत्यार्थ-प्रकाश के अनुसार, बौद्ध सम्प्रदाय प्रमुखतः चार प्रकार के होते हैं–
1. माध्यमिक, 2. योगाचार, 3. सौत्रान्तिक और 4. वैभाषिक।

प्रथमतः, इनमें से माध्यमिक सम्प्रदाय में सर्वशून्य की मान्यता है; अर्थात् जितने पदार्थ हैं, वे सब शून्य है अर्थात् आदि में नहीं होते, अन्त में नहीं रहते, मध्य में जो प्रतीत होता है–वह भी प्रतीत समय में है, पश्चात् शून्य हो जाता है। जैसे उत्पत्ति के पूर्व घट नहीं था, प्रध्वंश के पश्चात् नहीं रहता और घट-ज्ञान समय में भासता और पदार्थान्तर में ज्ञान जाने से घट-ज्ञान नहीं रहता, इसलिए शून्य ही एक तत्त्व है, ऐसा माना जाता है।

1. सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृष्ठ 357

द्वितीय, योगाचार सम्प्रदाय, बाह्य शून्य को मानता है; अर्थात् जो पदार्थ भीतर ज्ञान में भासते हैं, बाहर नहीं। जैसे घट का ज्ञान आत्मा में है, तभी मनुष्य कहता है कि यह घट है। जो भीतरी ज्ञान न हो तो नहीं कहा सकता, ऐसा मानता है।

तृतीय सौत्रान्तिक सम्प्रदाय, बाहरी अर्थ का अनुमान मानता हैं, क्योंकि बाहर कोई पदार्थ सांगोपांग प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु एकदेश प्रत्यक्ष होने से शेष में अनुमान किया जाता है। यह मत इस सप्रदाय के अन्तर्गत आता है।

चतुर्थ है वैभाषिक सम्प्रदाय। उसके मतानुसार बाहरी पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, भीतर नहीं। जैसे 'अयं नीलो घटः' इस प्रतीति में नील-युक्त घटाकृति बाहर प्रतीत होती है, यह ऐसा मानता है।

यद्यपि गुरु या आचार्य के रूप में सर्वज्ञ तथागत बुद्ध थे। वे विश्व भूत, वर्तमान और भविष्य के विषय में ठीक-ठीक जानते थे। उन्होंने अपने उपदेशों को ठीक से सुनने, धारण करने तथा उसका जीवन में व्यवहार रूप में प्रयोग करने की हिदायत दी तथा आचरण पक्ष की प्रबलता पर जोर दिया।

किन्तु कालान्तर में दार्शनिक उन्नयन के युग में ये चार प्रकार की शाखाओं का उदय हुआ। जैसे सूर्य के अस्त होने में चोर चोर्य-कर्म का तथा विद्वान-जन सत्य का आचरण करते हैं। उसी प्रकार लोग भी एक समय होने पर भी अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार चेष्टा अलग-अलग तरह से करते हैं।

अब इन पूर्वोक्त चारों में माध्यमिक सबको क्षणिक मानता है। अर्थात् क्षण-क्षण में बुद्धि का परिणाम होने से जो पूर्व क्षण में ज्ञात वस्तु था, वैसा ही दूसरे क्षण में नहीं रहता। इसलिए सबको क्षणिक मानना चाहिए, ऐसे मानता है।

दूसरा योगाचार, जो-जो प्रवृत्ति है–सो-सो सब दुःखरूप है; क्योंकि प्राप्ति में सन्तुष्टि नहीं होती। एक की प्राप्ति में दूसरे अप्राप्तों की इच्छा बनी ही रहती है–इस प्रकार मानता है।

तीसरा सौत्रान्तिक, सब पदार्थ अपने-अपने लक्षणों से लक्षित होते है, जैसे गाय के चिह्नों से गाय और घोड़े के चिह्नों से घोड़ा ज्ञात होता है–वैसे लक्षण लक्ष्य में सदा रहते है, ऐसा कहता है।

चौथा वैभाषिक, शून्य को एक पदार्थ मानता है। प्रथम माध्यमिक सबको शून्य मानता था, उसी का पक्ष वैभाषिक का भी है।

इस प्रकार ये चार प्रकार की भावना मानते हैं।

सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थङ्करसम्मतम्।[2]

सब संसार दुःखमय है–यह भगवान् बुद्ध की देशना है और पूर्वोक्त भावना चतुष्टय–अर्थात् चार भावनाओं से सकल वासनाओं की निवृत्ति से शून्यरूप निर्वाण अर्थात् मुक्ति मानते हैं। अपने शिष्यों को योग और आचार का उपदेश करते हैं। गुरु के वचन को प्रमाण स्वीकार करना अनादि बुद्धि में वासना होने से बुद्धि ही अनेकाकार भासती है और चित्तचैत्तात्मक स्कन्ध पाँच प्रकार का मानते हैं।

रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकः।[3]

अर्थात् उनमें से प्रथम स्कन्ध, जो इन्द्रियों से रूपादि विषय ग्रहण किया जाता है। वह रूपस्कन्ध (दूसरा) आलय-विज्ञान प्रवृत्ति अर्थात् जिसमें रूपादि विषय हैं; उनका विज्ञान प्रवृत्ति का जानना रूप व्यवहार को विज्ञान-स्कन्ध होता है।

2. सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृष्ठ 358
3. सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृष्ठ 359

(तीसरा) रूपस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध से उत्पन्न हुआ, सुख-दुःख आदि प्रतीतिरूप व्यवहार को वेदनास्कन्ध (चौथा), गौ आदि संज्ञा का सम्बन्ध नामी के साथ मानते रूप को संज्ञास्कन्ध। (पाँचवा) वेदना स्कन्ध से रागद्वेषादि क्लेश और क्षुधा-तृशादि उपक्लेश, मद, प्रमाद, अभिमान, धर्म और अधर्मरूप व्यवहार को संस्कारस्कन्ध मानते हैं। सब संसार को दुःखरूप, दुःख का घर और दुःख का साधनरूप भावना करके संसार से छूटना, मुक्ति अनुमान और जीव को मानना बौद्ध मानते हैं।

देशना लोकनाथानां स्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोके उपायैर्बहुभिः किल ॥[4]

अर्थात् जो ज्ञानी, विरक्त जीवन्मुक्त लोकों के नाथ, बुद्ध आदि पदार्थों के स्वरूप जानने वाला उपदेशक जो कि भिन्न-भिन्न पदार्थो का है। जिसके बहुत से भेद, बहुत से उपायों से कहा है, उसको मानना।

गम्भीरात्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशनाऽभिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा ॥

अर्थात् बड़े गम्भीर और प्रसिद्ध भेद से कहीं-कहीं मुक्त और प्रकटता से भिन्न-भिन्न गुरुओं के उपदेश; जो कि शून्य लक्षणयुक्त पूर्व कह आये, उसको मानना।

'द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धा मन्यन्ते।'

अर्थानुपाद्य बहुशो द्वादशायतनानि वै।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः॥

अर्थात् जो द्वादशायतन पूजा है। वहीं मोक्ष करने वाली है–उस पूजा के लिये बहुत से द्रव्यादि पदार्थों को प्राप्त हो के द्वादशायतन अर्थात् बारह प्रकार के स्थान विशेष बनाके सब प्रकार से पूजा करनी चाहिये, अन्य की पूजा करने से क्या प्रयोजन है।

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनो बुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः॥[5]

अर्थात् द्वादशायतन पूजा यह है–पाँच ज्ञानेन्द्रिय अर्थात् श्रोत, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका, पाँच कर्मेन्द्रिय अर्थात् वाक्, हस्त, पग, उपस्थ और गुह्य मन और बुद्धि इन ही का सत्कार अर्थात् इनका आनन्द में प्रवृत्त रखना बौद्धों का मत है।

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभंगुरम्।
आर्यसत्त्वाख्यया तत्त्वचतुष्टयमिन्द क्रमात्॥[6]

अर्थात् बौद्धों का सुगतदेव बुद्ध भगवान् पूजनीय देव और जगत् क्षणभंगुर, आर्य पुरुष और आर्यो स्त्री तथा तत्त्वों की आख्या संज्ञादि प्रसिद्धि ये चार तत्त्व बौद्धों में मन्तव्य पदार्थ है।

इस विश्व को 'दुःख' कर घर जाने, तदन्तर 'समुदाय' अर्थात् उन्नति होती है, और 'मार्ग' इनकी व्याख्या क्रम से सुनो।

संसार में दुःख ही है, जो पञ्चस्कन्ध पूर्व कह आये हैं उनको जानना चाहिये।

4. सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृष्ठ 360
5. सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृष्ठ 361
6. सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृष्ठ 361

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, उनके शब्दादि विषय पाँच और मन-बुद्धि अन्तःकरण धर्म का स्थान ये द्वादश है। जो मनुष्यों के हृदय में राग-द्वेषादि समूह की उत्पति होती है। वह 'समुदाय' और जो आत्मा, आत्मा के सम्बन्धी और स्वभाव है; वह आख्या इन्हीं से फिर समुदाय होता है।

सब संस्कार क्षणिक हैं जो यह वासना स्थिर होना, वह बौद्धों का मार्ग है और वही शून्य तत्त्व शून्यरूप हो जाना 'मोक्ष' है।

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा।
चतुः प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः॥[7]

अर्थात् बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते है। चार प्रकार के इनके भेद है– वैभाषिक सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक।

इनमें से वैभाषिक ज्ञान में जो अर्थ है, उसी को विद्यमान मानता हैं। क्योंकि जो ज्ञान में नहीं है, उसको होना वह सिद्ध पुरुष नहीं मान सकता, और 'सौत्रान्तिक' भीतर को प्रत्यक्ष पदार्थ मानता है, बाहर नहीं है।

योगाचार आकार सहित विज्ञान-युक्त बुद्धि को मानता है और माध्यमिक केवल अपने में पदार्थों का ज्ञान-मात्र मानता है, पदार्थ को नहीं मानता है, और रागादि-ज्ञान के प्रवाह की वासना के नाश से उत्पन्न हुई मुक्ति चारों बौद्धों की है।

मृगादि का चमड़ा, कमण्डलु, मुण्ड मुण्डाये, वल्कल वस्त्र धारण, अकेला न रहे, रक्त वस्त्र का धारण, यह सब बौद्धों के साधुओं का वेश है। बौद्ध लोग समय-समय में नवीनपन से आकाश, काल जीव और पुद्गल थे तथा चार द्रव्य मानते हैं।

7. सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृष्ठ 362

32

बौद्ध-संस्कृत साहित्य में वास्तुकला

विनोद पण्डित
पूर्व-प्राध्यापक (इतिहास),
देवप्रयाग (उत्तराखण्ड)
मो.नं.–9411719670

भारत में गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म एक युगान्तरकारी घटना थी। बौद्ध-धर्म की भारतीय संस्कृति को अमूल्य देन है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला एवं जीवन के अनान्य क्षेत्रों में इसमें भारत ही नहीं, अपितु विध्य के जनमानस विशेषकर एशिया-वासियों पर जो अमिट छाप छोड़ी वह आज तक जीवन्त है। वास्तव में बिना किसी राजनीतिक और आर्थिक-स्वार्थ के यह धर्म इतना अधिक प्रचारित हुआ, इसकी मिसाल और कहीं नहीं मिलती। बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता का प्रमुख कारण था, विचारों की स्वतन्त्रता। जैसा कि स्वयं गौतम बुद्ध का कथन था–"अत्तदीपो भव" अर्थात् 'स्वयं अपने दीपक बनो।' किसी का अन्धानुकरण मत करो। आत्मदीप बनकर ही स्वयं की आत्मा को प्रकाशित करो। इस प्रकार बौद्ध-धर्म का बौद्धिक विकास एवं वैचारिक स्वतंत्रता के क्षेत्र में विशेष योगदान है।

गौतम बुद्ध ने इसी लोक में मोक्ष प्राप्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग बतलाया, जिसे वे "मध्यम मार्ग" भी कहते थे। "अहिंसा परमो धर्म" के सिद्धान्त ने सम्राट अशोक तक को प्रभावित किया; जिसे उसने आगे चलकर अपनी शासन प्रणाली का अंग बनाया और इसके प्रचार हेतु देश-विदेश में प्रचारक भेजें। इसी कारण आज भी दक्षिण व दक्षिण पूर्व एशिया तथा एशिया में बौद्ध-धर्म अपना अस्तित्त्व बनाये हुए हैं। बौद्ध मत के साथ एशियाई देशों में भाषा-साहित्य व स्थापत्य-कला तथा मूर्तिकला का भी प्रचार-प्रसार हुआ। एशियाई देशों ने भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का उपभोग किया। उन्होंने भारत को एक पवित्र तीर्थ मानकर इसकी यात्रा करना अपना पुनीत कर्तव्य समझा। जैसा कि इतिहासकार जदुनाथ सरकार ने ठीक ही लिखा है–"बौद्ध-धर्म ने भारत तथा विदेशों के बीच सम्बन्ध स्थापित किया। यह विश्वव्यापी आन्दोलन था, जिसमें जाति का कोई बन्धन नहीं था। अतः सभी प्राचीन पूर्वी एशियाई देशों ने इसे स्वतन्त्रतापूर्वक अपना लिया।"

गौतम बुद्ध अपने समय में अपनी लोकप्रियता व सम्मान के कारण हर जगह और समाज के सभी वर्गों में समुचित आतिथ्य-सत्कार पाते थे। बौद्ध-धर्म न मानने वाले भी उत्साह के साथ उनके अतिथेय बनते थे और इसका श्रेय बुद्ध की मानवीयता है कि लोगों ने जाति और धर्म से ऊपर उठकर विश्वजनीन रूप में उसे अंगीकार किया था।[1]

1. मुकर्जी, राधाकुमुद "प्राचीन भारतीय विचार एवं विभूतियाँगौतम बुद्ध" राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1958, पृष्ठ सं.-94

इस सम्बन्ध में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है–"बुद्ध उन थोड़ी महानात्माओं में से हैं जिन्होंने हमारी जाति के इतिहास में तत्काल और समस्त कालों के लिए सन्देश देकर युग-प्रवर्तन किया।"[2]

गौतम बुद्ध की दृष्टि व्यापक थी। उनके जीवन व कृत्यों के भारतीय दृष्टिकोण को बौद्ध-धर्म के पश्चिमी विद्वान पॉल डवल्के (Paul Dablke) ने बहुत ही अच्छे ढंग से परिभाषित किया है। सम्भवतः संसार में कभी भी किसी ने मानव-विचार पर इतना गहरा प्रभाव नहीं डाला, जितना कि बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने।[3]

वास्तव में गौतम बुद्ध के विचारों जनमानस पर अमिट छाप छोड़ दी; जिससे वे शताब्दियों तक लाभान्वित होते रहे हैं। बौद्ध-संस्कृत से भारत एवं एशिया-वासियों का जीवन आलोकित हो उठा और उसकी अभिव्यक्ति बाद में साहित्य, दर्शन, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि विविध रूपों में भारत ही नहीं, अपितु विश्व के एक विशाल भू-खण्ड के निवासियों की सत्त्वशुद्धि और विकास के लिए हुई।[4]

भगवान् तथागत बुद्ध के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में संस्कृत-ग्रन्थ–"ललितविस्तर", जो कि उनके जीवन-काल की रचना है, में उनके चमत्कारिक व अलौकिक व्यक्तित्त्व के अलावा वास्तुकला से सम्बन्धित बातें समाहित हैं। भगवान् बुद्ध के जीवन की अधिक विश्वसनीय झलक पालि-भाषा के प्राचीन-ग्रंथों, विनय-पिटक व सुत्तनिपात में मिलती है। बुद्ध के उपदेशों का संग्रह, जिन्हें "त्रिपिटक" कहा जाता है, जो कि पालि भाषा में प्राप्य है, यह विशाल-साहित्य अप्रत्यक्ष रूप से ईसा पूर्व पाँचवीं-शताब्दी के उत्तर भारत के परिचय में अनमोल सहायता प्रदान करता है।[5]

इन्हीं के आधार पर सिद्धार्थ गौतम का जन्म शाक्यवंशीय क्षत्रिय राजा शुद्धोदन के यहाँ लगभग 563 ई.पू. में कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी वन में हुआ बताया गया।[6]

बुद्ध का जन्म स्थान वहाँ सम्राट अशोक द्वारा स्थापित एक प्रस्तर-स्तम्भ लगाया गया था, द्वारा ढूँढ लिया गया। जिसका पता ब्रिटिश काल में जेम्स प्रिंसेप ने लगाया। जिस पर उत्कीर्ण है–"हिद बुध जाते साक्यमुनि, हिद भगवा जाते" अर्थात् यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था। इस प्रकार लुम्बिनी गौतम बुद्ध की जन्म स्थली होने के कारण बौद्ध जगत में अपना विशेष धार्मिक महत्त्व रखता है। लुम्बिनी के अलावा बुद्ध से सम्बन्धित अन्य महत्त्वपूर्ण स्थलों में बौद्ध गया (जहाँ उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई), सारनाथ (जहाँ उन्होंने अपना पहला धमार्पदेश देकर धर्मचक्र प्रवर्तन किया) और कुशीनगर (जहाँ उन्होंने अन्तिम उपदेश देकर महापरिनिर्वाण प्राप्त किया)। ये चार प्रमुख स्थल आज भी बौद्ध-जगत में आस्था, श्रद्धा और आकर्षण के केन्द्र हैं; जिनकी यात्रा करना प्रत्येक बौद्ध अपना धार्मिक व पवित्र कर्तव्य समझता है।

भगवान् तथागत बुद्ध से सम्बन्धित इनमें व अन्य स्थलों में उनके सम्मान व स्मृति में अनेक स्मारक–स्तूप, चैत्य, विहार, मंदिर, गुहा-चैत्य, मूर्तियाँ, भित्तिचित्र, प्रस्तरलेख, स्तम्भलेख व शिलालेख देखे जा सकते हैं, जो कि विभिन्न राजवंशों के शासनकाल में निर्मित होते रहे।

---

2. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, "गौतम बुद्ध" जीवन और दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1938, पृष्ठ सं.-78
3. Paul Dablke, Buddhist Essays, page no.18-19
4. उपाध्याय, भरतसिंह, बुद्ध और बौद्ध साधक, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, 1950
5. सांकृत्यायन, राहुल, पुरातत्त्व-निवन्धावली, किताब महल दिल्ली, 1958, पृष्ठ सं.-172
6. राहुल, वहीं पृष्ठ सं.-172; दत्त, नलिनाक्ष एवं वाजपेयी, कृष्णदत्त, उत्तर प्रदेश में बौद्ध-धर्म का विकास, शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ 1956, पृष्ठ सं.-01

बौद्ध-धर्म व कला के प्रचार-प्रसार में बौद्ध संगीतियों (सभाओं) का विशेष योगदान रहा है। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके उपदेशों का संकलन करने और उनमें समयानुकूल परिवर्तन तथा इसके प्रचारार्थ धर्म की संगीतियाँ अथवा सभाएँ आयोजित की गईं। इनमें पहली संगीति बुद्ध के महापरिनिब्बान (महापरिनिर्वाण) के एक सप्ताह बाद 453 ई.पू. में राजगृह के निकट सप्तपर्णी गुहा में सम्पन्न हुई। इसकी अध्यक्षता महाकश्यप महाथेर ने की। इस संगीति के निर्णयानुसार बुद्ध की शिक्षाओं को दो पिटकों (विनय पिटक और धम्म पिटक) में विभक्त किया गया। विनय का संगायन तथागत के अग्रश्रावक उपालि ने तथा धम्म का संगायन आनन्द ने किया था। दूसरी बौद्ध संगीति भगवान् तथागत बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् वैशाली में आयोजित हुई। इस समय बौद्ध संघ में मतभेद पैदा हो गए थे। जिन अनुयायियों ने "विनय-पिटक" में परम्परागत आस्था रखी वे थेरवादी (स्थविरवादी) और जिन्होंने कुछ संशोधनों के साथ उसे स्वीकार किया वे "महासांघिक" कहलाए। कालान्तर में बौद्ध-धर्म में अनेक लोगों के सम्मिलित होने से विचारों में भी परिवर्तन आया और स्थविर "स्थविर" व "महासांघिक" के अलावा और भी विभाग होकर उसके अट्ठारह निकाय बन गए।[7]

सम्राट अशोक के शासन काल तक बौद्ध-धर्म में अधिक मतभेद उभरकर सामने आये। इन मतभेदों को दूर कर सामंजस्य स्थापित करने के उद्देश्य से अशोक ने प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् "मोग्गलिपुत्त तिस्स" की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति बुलवाई। इस सभा द्वारा प्रामाणिक ग्रन्थों को फिर से विभाजित कर एक नए ग्रन्थ का निर्माण किया गया, जिसका नाम "अभिधम्म-पिटक" रखा गया। इस प्रकार भगवान् तथागत बुद्ध के उपदेश "त्रिपिटक" (विनय-पिटक, सुत्त-पिटक तथा अभिधम्म-पिटक) नाम से प्रसिद्ध हुए। इस संगीति के निर्णयानुसार धर्म-प्रचारकों की परिषदें संगठित कर प्रचारार्थ दूर देशों तक भेजी गईं। इस धर्म-विजय का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध-धर्म एशिया और विश्व की सभ्यताओं में एक वही शक्ति के रूप में विकसित हुआ, इससे भारत अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उच्च स्थान प्राप्त कर सका।[8]

बौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार में कुषाण नरेश कनिष्क ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस समय भी बौद्ध-धर्म में मतभेद उभरकर सामने आये और बौद्ध-धर्म हीनयान तथा महायान मत में विभक्त हो चुका था। इसी उद्देश्य से कनिष्क के शासन-काल में चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन कश्मीर के कुण्डलवन नामक स्थान पर हुआ। इसमें लगभग 500 भिक्षुकों ने भाग लिया। जिनमें प्रमुख रूप से अश्वघोष, नागार्जुन, पार्श्व–जैसे बौद्ध विद्वान् सम्मिलित हुए। यह महासभा वसुमित्र की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इस संगीति में अनेक विवादित प्रश्नों पर निर्णय लिया गया; साथ ही "त्रिपिटकों" पर टीकाएँ रची गईं। अधिकांश टीकाओं को एक ग्रन्थ में एकत्रित कर दिया गया। जिसे "महाविभाषा" कहा गया। यह ग्रन्थ बौद्ध-धर्म पर सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस संगीति के निर्णय संस्कृत भाषा में ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण किए गए और प्रस्तर की मंजूषाओं में रखकर किसी स्तूप में स्थापित किये गये; जो कि इस प्रयोजन निमित्त किया गया था।

इस चतुर्थ बौद्ध संगीति में नवीन मत "महायान" ने बौद्ध मूर्ति-पूजा पर बल देकर मूर्ति-निर्माण पर सहमति जताई। मूर्तिकला के क्षेत्र में एक नवीन-शैली का जन्म हुआ। जिसे "गान्धार-कला शैली" नाम दिया गया। जिसका विकास कुषाण-नरेश कनिष्क के राजाश्रय में हुआ। उस युग में गान्धार ऐसा प्रदेश था; जहाँ भारत, चीन, ईरान, यूनान, रोम आदि एशिया व यूरोप की संस्कृतियों का संगम था। गान्धार

---

7. राहुल, वहीं पृष्ठ सं.-98
8. पाण्डेय, राजवलि, प्राचीन भारत

प्रान्त में पूर्व में भारतीय और पश्चिम में यूनानी, रोमन, पर्शियन और शक संस्कृतियों का मिला-जुला स्वरूप देखने को मिलता है। गान्धार कला को उसके व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण "हिन्द-यूनानी", "ग्रीको-रोमन", "ग्रीक-बुद्धिस्ट", "इण्डो-हैलेनिक" तथा "इण्डो-थिथियन" शैली भी कहा गया। यह कला शैली पहली शती ई.पू. के उत्तरार्द्ध से पाँचवी शती तक प्रचलन में रही। इस शैली के अन्तर्गत बुद्ध की मूर्तियाँ संगत-राशों द्वारा अपने-अपने ढंग से विभिन्न रूपों में निरूपित की गई। जिन पर विदेशी प्रभाव परिलक्षित होता है। भारत में कालान्तर में मथुरा, सारनाथ तथा अमरावती कला केन्द्रों में भगवान् तथागत बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण हुआ; जिन पर विदेशी प्रभाव कम होता दिखाई पड़ा और सारनाथ कला केन्द्र में निर्मित भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ विशुद्ध भारतीय परिवेश के अनुकूल निरूपित हुई। इसका उदाहरण वहाँ निर्मित "धर्म-चक्रप्रवर्तन मुद्रा" में भगवान् तथागत बुद्ध की मूर्ति है।

वास्तुकला किसी भी राष्ट्र की कला एक व्यक्ति विशेष के उत्साह का प्रतिफल ये नहीं, अपितु कलाकारों की शताब्दियों की मनोरम कल्पना का परिणाम है तथा आन्तरिक मनोभावों की सच्ची परिचायक है। कला-कृतियाँ समान रूप से समाज़ के सभी अंगों को प्रभावित करती है। भारतीय कला-दर्शन पर विचार करने के पश्चात् शिल्प को "मूक-काव्य" कहना सर्वथा उचित होगा (वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहाएँ एवं मन्दिर, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972, पृष्ठ "क" भूमिका)। जहाँ तक वास्तुकला का प्रश्न है इसका इतिहास बहुत पुराना है। 'वास्तु' शब्द वस्तु-धातु से बना है, जिसका अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। कौटिलीय अर्थशास्त्र में गृह, सेतु, क्षेत्र आदि भवनों के भाव में इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[9] अत एव वास्तुकला का प्रतिपाद्य विषय है–मानव-गृह, देव-मन्दिर या स्थान, स्मृति-स्थान या अन्य प्रकार के भवन। वैदिक साहित्य में कई प्रकार के वास्तु-कृतियों का वर्णन मिलता है। पौराणिक साहित्य भी इस प्रकार के विवरणों से भरे पड़े हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मानव तथा देवगृहों (देवालयों) की रचना का निरूपण पृथक्-पृथक् किया गया है। भारतीय वास्तुकला सम्बन्धित तिथियाँ अन्धकारमय हैं, मात्र भोजकृत समराङ्गणसूत्रधार (ई.सन् 1018) तथा मण्डन मिश्र के शिल्पशास्त्र की तिथि ज्ञात है। बौद्ध ग्रन्थ भी वास्तुकला सम्बन्धी सामग्री से परिपूर्ण हैं। मौर्य-युग में भी वास्तु-विज्ञान अत्यन्त प्रसिद्ध था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में अनेक देवी-देवताओं और देवालयों अथवा देव-स्थानों का उल्लेख है। प्रजा द्वार पुण्य स्थानों व उपवनों (आराम) के निर्माण में राज्य की ओर से सहायत दी जाती थी।[10]

भारतीय कला अधिकांशतः धर्म से सम्बन्धित हैं। जैसा कि स्पष्ट है बौद्ध-संस्कृत साहित्य में वास्तु कला से सम्बन्धित वर्णन मिलता है। जब भारत में ब्रिटिश काल में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग अस्तित्त्व में आया तव उसने ही अनेक प्राचीन स्मारकों–स्तूप, चैत्य, गुहा, विहार, मन्दिर, मूर्तियाँ, स्तम्भ, अभिलेख एवं अनेक पुरातात्विक व ऐतिहासिक स्थलों को प्रकाश में लाने का बीड़ा उठाया; जिसके परिणाम स्वरूप आज कला-इतिहास लेखन सम्भव हो पाया है। बौद्ध वास्तुकला के उदाहरणों में बौद्ध विहार, चैत्य, स्तूप, मन्दिर, स्तम्भ आदि मुख्य हैं।

विहार या संघाराम–गौतम बुद्ध भ्रमण करते हुए किन्हीं-किन्हीं स्थानों पर ठहरकर अपने शिष्यों को उपदेश देते रहते थे। विभिन्न क्षेत्र के राजाओं व धनिकों ने वर्षा-काल अथव चातुर्मास में उनके निवास के लिए उद्यान बनवाकर बौद्ध-संघ को दान कर दिए थे। बौद्ध साहित्य में भिक्षुगण के निवास के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता है–आराम और विहार इत्यादि। सर्वप्रथम बुद्ध के निवास के लिए जो कुटि या गृह बनाए गए, उन्हें 'आराम' की संज्ञा दी गई। इस क्रम में राजगृह के वेणुवन तथा वैशाली

9. कौटलीय अर्थशास्त्र, अध्याया-61
10. गैरोला, वाचस्पति, कौटलीय अर्थशास्त्र, अध्याय-1

में बुद्ध के निवास को आराम कहा गया। श्रावस्ती में अनाथपिण्डक व्यापारी द्वारा निर्मित गृह को 'विहार' कहा जाने लगा। जेतवन विहार के क्रय, विहार-निर्माण तथा उसके दान का प्रदर्शन भरहुत तथा बोधगया की वेष्टिनियों पर भी उत्कीर्ण मिलता है। जेतवन का उल्लेख बौद्ध-साहित्य के दीघ-निकाय के महापरिनिब्बानसुत्त तथा विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में उपलब्ध होता है। अनाथपिण्डक का भिक्षु-संघ के लिए दिया गया दान विश्व-इतिहास की अनमोल मिसाल है। भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट धम्म का लाभ जन-जन तक पहुँच सके, इस हेतु अनाथपिण्डक नाम के तथागत-अनुयायी ने जेतकुमार के जेत-वन की सम्पूर्ण भूमि पर सोने की मोहरें बिछवाकर उस भूमि को खरीदा था तथा उस पर भव्य विहार का निर्माण करवाया था। विनय-पिटक की पाँच पुस्तकों-पाराजिक, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लुवग्ग और परिवार चुल्लवग्ग में इस विषय में विवेचन प्राप्त होता है। अनाथपिण्डक श्रेष्ठी ने भगवान् तथागत बुद्ध के लिए "कोटिसन्थारेन कार्षापणों" की कोर से कोर मिलाकर इसे खरीदा। इस बात की पुष्टि भरहुत के स्तूपों में उत्कीर्ण लेख "कोटिसतसतेन केता" से हो जाती है। अतः निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कार्षापण बिछाकर जेतवन खरीदने की कथा ई.पू. तीसरी शताब्दी में भी प्रसिद्ध थी।[11] भिक्षु समूह के निमित्त स्थान भी संघाराम या विहार कहलाए।[12]

सिद्धार्थ गौतम ने बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् 45 वर्ष तक धर्म प्रचार किया। इस अवधि में उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः भारत का पूर्वी भाग ही था। जिसके दोनों सिरों पर श्रावस्ती और राजगृह नगर स्थित थे। इन दोनों के बीच बुद्ध की यात्रा मार्ग में कई स्थान थे, जो उनके धर्म-प्रचार से सम्बद्ध थे। जैसे नालन्दा, पाटलिपुत्र, वैशाली, भद्रग्राम, पावा, कुशीनारा, कपिलवस्तु, सेतव्य, बनारस और कौशाम्बी थे। उनका कार्यक्षेत्र किसी राज्य तक सीमित न होकर, कई राज्यों तथा जनतन्त्रों तक फैला हुआ था।[13]

बुद्ध के प्रवचन स्थल पर तथा उनके वर्षाकालीन विश्राम स्थलों पर उनके भक्तों ने उनके और संघ के लिए आवास का प्रबन्ध किया था। प्रतिवर्ष वह वर्षाकाल किसी स्थान विशेष पर ठहरते थे। श्रावस्ती में प्रसिद्ध जेतवन, उसका सुन्दर-विहार तथा पूर्वाराम (पुब्बाराम) नामक विश्राम-गृह था। कौशाम्बी में उनके लिए घोषिताराम था, वैशाली में महावन और कूटागार भवन तथा उनके दूसरे निवास स्थान आम्रपाली-कुँज उल्लेखनीय है। पावा में चुन्द के आम्र-कुँज और मल्लों द्वारा निर्मित नए उम्मटक भवन ठहरते थे, जिसका स्वयं बुद्ध ने उद्घाटन किया था। कपिलवस्तु में न्यग्रोधाराम था और बनारस में इसिपतन या ऋषिपतन का हरित-उद्यान (मृगदाव) था। बुद्ध ने प्रथम वर्षावास (ई.पू. 527 में) ऋषिपतन-मृगदाव में बिताया। रीस डेविडस् द्वारा बनाई गई उनके कार्याकलाप की अनुक्रमणिका से यही प्रतीत होता है कि उनका प्रथम वर्षावास बनारस के समीप सारनाथ में ही बीता।[14] अपने जीवन के भ्रमण के 45 वर्षों में 25 उन्होंने श्रावस्ती में बिताए।[15]

राजगृह में तपोदाराम[16] नामक विहार में भगवान बुद्ध रहते थे। वे 1,250 भिक्षुओं के साथ जीविकाराम (राजगृह) में ठहरे थे और उसी स्थान पर राजा अजातशत्रु को उपदेश दिया।[17] गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के साँची लेख में काकनाड़ महाविहार का वर्णन आया है। गुप्तकालीन भवन में एक मिट्टी

11. राहुल, वहीं पृष्ठ सं.-44
12. उपाध्याय, वासुदेव, "प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर", बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972, पृष्ठ सं.-97
13. मुकर्जी, राधामुकुद, वहीं पृष्ठ सं.-74
14. Davis, Rhys, Buddhism. 15-अंगुत्तरनिकाय, अट्टकथा, हेवावितारणे, पृष्ठ सं.-314
16. मज्झिम निकाय, 3, 4, 3
17. दीघनिकाय, 1, 2

का पात्र प्राप्त हुआ है, जिस पर "आरोग्यविहारे भिक्षुसंघस्त" वाक्य उत्कीर्ण है।[19] श्रावस्ती नगरी के विषय मज्झिम-निकाय 9/3/6, धम्मपद 1/1 अट्ठकथा 31 में विवरण है। 'जेतवन के पूर्वाराम (पुब्बाराम) विहार के विषय में धम्मपद 4/8, अट्टकथा 200 विमानमथ्थु 22 में विवरण मिलते हैं। जेतवन को दीघ-निकाय के अट्टकथा में रखा गया है, (दीघनिकाय, महापदानसुत्त, 14, अट्टकथा 282)। "त्रिपिटक" में सुरक्षित बुद्ध के उपदेशों में सर्वाधिक जेतवन में हुए हैं। मज्झिमनिकाय के 150 सुत्तों में से 65 सुत्त जेतवन में कहे गए। संयुत्त और अंगुत्तर निकाय के तीन चतुर्थांश से भी अधिक जेतवन में ही कहे गए। विनय-पिटक के परिवार से विदित होता है 350 शिक्षापदों में से 294 श्रावस्ती में ही दिए गए। (परिवार-गाथा संगणित) विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में जेतवन में बनाए जाने का इतिहास दिया गया है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनकी पुण्य-स्मृति में जेतवन में बुद्ध-आसन बनाया गया। जेतवन की खुदाई में सर जॉन मार्शल को स्तूप नं.'H' ऐसा ही स्थान मिला है।[20] ऐसा जान पड़ता है कि यह स्तूप, वह स्थान है, जहाँ पर बैठकर तथागत उपदेश दिया करते थे।[21] तथागत बुद्ध ने सूत्रों और विनय-पिटक के अधिकांश का उपदेश जेतवन में ही दिया। बाद में वैशाली गए और वहाँ वेलुव-ग्राम पहुँचे, जहाँ उन्होंने अंतिम विश्राम-काल व्यतीय किया। वहाँ उन्होंने भविष्यवाणी की; कि "अब से तीन मास पश्चात् तथागत बुद्ध का शरीरान्त हो जायेगा।" स्वास्थ्य लाभ के पश्चात् वे पुनः वैशाली के महावन में अपने कूटागार भवन में लौट आए और फिर वहाँ से पावा गए; जहाँ उन्होंने चुन्द नामक शिल्पकार का आतिथ्य स्वीकार कर, उसके आम्रकुंज मे रहें। वहाँ वे उदर-रोग से पीड़ित अवस्था में कुशीनारा पहुँचे; जहाँ उन्होंने आम्रकुंज में जीवन का अंतिम विश्राम किया तथा अपने प्रिय शिष्य आनन्द को उपयोगी उपदेश और परामर्श देने में अपना शेष समय व्यतीय किया। उन्होंने आनन्द से कहा–"तुम स्वयं अपने प्रकाश स्तम्भ बनो! तुम स्वयं अपनी शरण लो! किसी बाहरी आश्रय का सहारा न लो! अपने अतिरिक्त और किसी के आश्रित न बनने की सोचो।" वहाँ उपस्थित भिक्षुओं से अन्तिम शब्द कहे–"अब भिक्षुओ! मुझे केवल यही बात कहनी है कि समस्त मिश्रित वस्तुओं में क्षय निहित है, सबलता के साथ कर्म करके स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो।" यह उनका अन्तिम उपदेश (पच्छिमा वाचा) था और इतना कहकर बुद्ध 483 ई.पू. में महापरिनिब्बान (महापरिनिर्वाण) को प्राप्त हो गए।[22] यह निर्वाण उस महान व्यक्ति का था, जो मानवों के बीच उच्चतम ज्ञान तथा शुद्धि प्राप्त करने के लिए जीवित रहा था और जिसने अपने दीर्घ-जीवन को मुख्यांश मानवता की सक्रिय सेवाओं में समर्पित कर दिया।[23]

इस प्रकार गौतम बुद्ध बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् 45 वर्षों तक सक्रिय रूप से विभिन्न उपदेश देते रहे। जहाँ-जहाँ उनके पदचिह्न पड़े वे स्थान पवित्र हो गए और वहाँ उनके सम्मान में विहार व संघाराम बनाए गए थे। बौद्धयुग में विहार दो प्रकार के कार्य सम्पन्न करते थे, जिनमें पहला कार्य था–धर्म प्रचार। धर्म प्रचार के केन्द्र होने के कारण बुद्ध मत सम्बन्धी व्याख्यान अथवा उपदेश दिया करते थे। इस प्रकार विहार का प्रथम कार्य धर्म-चर्चा आयोजित करवाना था। दूसरा मुख्य कार्य भारतीय शिक्षा सम्बन्धी था। विहार "शास्त्रीय-परिषद्" के रूप कार्य संचालन करने लगे। शिक्षा देना, शास्त्रार्थ का प्रबन्ध करना, शास्त्रों का अध्ययन एवं अध्यापन तथा साहित्य सृजन आदि कार्य विहार में सम्पन्न होते थे। नालन्दा महाविहार इस व्यवस्था के लिए विश्व-विख्यात था। गुप्तवंशीय शासकों व हर्षवर्द्धन के शासन-काल में नालन्दा

18. Corpus Inscriptionum IndicUrum, Vol 2.
19. Epigraphia Indica, Vol 34, page no.16, Vol 28, page no.175.
20. Archaeological Survey of India Report, 1910-11, Page No.09.
21. राहुल, वही, पृष्ठ सं. 54
22. राहुल, वही, पृष्ठ सं. 172
23. मुकर्जी, राधामुकुद, वही, पृष्ठ सं. 74

महाविहार अथवा विश्वविद्यालय उन्नति के शिखर पर था। एशिया महाद्वीप का प्रमुख एवं उत्कृष्ट शिक्षा केन्द्र था। नालन्दा महाविहार अपनी उत्कृश्ट वास्तुकला के लिए भी प्रसिद्ध था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा वृतान्त में नालन्दा महाविहार का वर्णन किया है।

स्तूप–बौद्ध वास्तुकला के अन्तर्गत स्तूप निर्माण का विशेष महत्त्व है। स्तूप संस्कृत के "स्तूपः" अथवा प्राकृत "थूप" कहलाता है। यह "स्तुप" धातु से बना है; जिसका एकत्रित करना, ढेर लगाना आदि। अत एव मिट्टी के ऊँचे टीले के स्तूप शब्द का प्रयोग होने लगा।[24] अमरकोश (3/5/19) में "राशिकृत मृतकादि" उसी कथन की पुष्टि करता है। साधारणतया स्तूप का सम्बन्ध बौद्ध-मत से प्रकट होता है। इसीलिए बौद्ध-साहित्य में "थूप" शब्द का प्रयोग मिलता है। दीघनिकाय 2/142, अंगुत्तरनिकाय 1/177 तथा मज्झिम-निकाय 2/244 में "कसपस्य भगवते द्वादश योजनिकान कनकथूपिका" करके उल्लेख मिलता है। थूप शब्द का अधिकतर प्रयोग जातकों (3/156, 5) (49, 6/116) में मिलता है। जातकों में भी ऊँचे "थूप" या "थूपिका" किसी ऊँचे टीले या स्मारक के लिए प्रयुक्त मिलता है। तक्षशिला के एक अभिलेख में "मंरिखेन सम्यकेन थूपो प्रतिस्तवितो"[25] ऐसा उल्लेख मिलता है। इस प्रकार स्तूप एक पुण्य-स्थान है, जिसमें किसी महापुरुष, आचार्य या गुरु की भस्म प्रतिस्थापित किया जाता है। भस्म पात्र के निचले भाग को धातु (शरीर=राख) गर्भ कहते हैं। स्तूप को पवित्र माना गया; लेकिन इसके लिए "चैत्य" शब्द का प्रयोग साहित्य में मिलता है। चैत्य शब्द "चि" चयने धातु से निकला; क्योंकि इसमें प्रस्तर या ईंट चिनकर (चुनकर) भवन-निर्माण किया जाता है। "चियतो पाषाण दिना इति चैत्यम्।"[26] साथ ही यज्ञ के अन्त में भस्मादि पवित्र पदार्थों को बटोरने की क्रिया भी चयन कहलाती है। अतः चैत्य शब्द "चित" तथा "चिता" से सम्बद्ध है। उत्तरप्रदेश के बस्ती जिले में पीपरहवा नामक स्थान पर इस स्तूप की खुदाई में धातु-पात्र प्रकाश में आया है। धातु पात्र पर प्राकृत भाषा में "इदं सरीरनिधानं बुद्धस्स भगवतो सक्यानं" लेख उत्कीर्ण है। चिता की राख (अवशेष) को एक पात्र में रखकर उस पर स्मारक बनाया जाता है, जिसे स्तूप कहते हैं।

रामायण[27] में श्मशान की चैत्य से तुलना की गई है। जहाँ श्मशान भूमि पर दिवंगत महापुरुषों या नृपतियों के स्मृतियों चैत्य नाम से स्मारक तैयार किए जाते थे। इसलिए चैत्य एवं स्तूप की तुलनात्मक विवेचना तथा उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। अवशेष से सम्बन्धित प्रत्यक्ष रूप स्तूप कहलाया। उस भावना का स्वरूप चैत्य माना जा सकता है। किन्तु चैत्य में अवशेष की कल्पना और स्तूप में वह प्रत्यक्ष में दीख पड़ता है।[28] इसीलिए अमरावती के लेखों स्तूप को "चेतिय" या "महाचेतिय" कहा गया–"भगवतो 'महाचेतिया पदमलेपनो, धम्मथानदिवखम्भो प्रतिथावितो" अर्थात् महाचेतिय यानि स्तूप के मूल भाग में दीपस्तम्भ की स्थापना की गई। "महाचेतिया चेति कियानां निकास परिनहे अपरधारे धम्मचकं देधम्मथापित" अर्थात धर्मचक्र की स्थापना भगवान के चैत्य समीप दान के फलस्वरूप दिया गया है। अतः अवशेषों का चैत्य से सीधा सम्बन्ध है। स्तूप को चैत्य का ही पर्यायवाची शब्द भी मान जा सकता है। दोनों में अन्तर केवल यह है कि चैत्य पर्वत गुहाओं में तैयार किया (खोदा जाता है), जिसमें स्तूप का आकार विद्यमान रहता है। किन्तु स्तूप के भीतरी भाग में पात्र में अवशेष स्थापित कर भवन निर्मित किया जाता

24. उपाध्याय, वासुदेव, वही, पृष्ठ सं. 4
25. Corpus Inscriptionum IndicUrum, Vol 2, Editing 02.
26. उपाध्याय, वासुदेव, वही पृष्ठ सं. 5
27. रामायण, श्मशान चैत्य प्रतिमः 5/22/29
28. उपध्याय, वासुदेव, वही पृष्ठ सं. 5

है। इनकी स्थापना पर्वतों से पृथक समतल भूमि में की गई थी और ईट-प्रस्तर जोड़कर स्तूप तैयार किए जाते हैं। साधारण गुहा मे स्तूपाकार स्थिति के कारण ही उसे चैत्य नाम पुकारा जाता है।[29]

जहाँ तक स्तूप-निर्माण परम्परा का प्रश्न है इसका काफी पुराना इतिहास रहा है। बौद्ध-काल से पूर्व स्तूप अथवा चैत्य का भी उल्लेख मिलता। उसकी ऐतिहासिक परम्परा वैदिक युग तक चली जाती है। ऋग्वेद में अग्निदग्ध (अग्नि से जलाना) तथा अगन्निदग्ध (शव को जमीन गाड़ना, ऋग्वेद 10/15/14) का वर्णन है। अतः अन्यत्र अग्निदग्धाः स्मारक के लिए प्रयुक्त किया गया है। भूमि गृह (पृथ्वी में शर) भूमि गृह शब्द को पृथ्वी रखने का द्योतक हैं। (ऋग्वेद 7/89/9, अथर्ववेद 5/3/14)। वैदिक काल में मनुष्य के शव को जमीन में गाड़कर उसकी समाधि पर तूदाकार भवन बनाया करते थे। शुक्ल यजुर्वेद में यह आदेश दिया गया है समाधि के चारों ओर मिट्टी का ऊँचा टीला बनाया जाए "इयं जीवेभ्यः परिधि दधामि च मध्ये नु गारपुरो अर्थमेतम" (शुक्ल यजुर्वेद अर्थमेतम मंत्र, 35/5)। शतपथ ब्राह्मण में श्मशान को किसी गोलाकार या चौकोर में निर्मित करने का वर्णन मिलता है। सूत्रकाल में जलाने के कार्य का विशेष रूप से उल्लेख है। अश्वालायन गृह सूत्र 4/5 में अस्थिकुम्भ (न्तद) में शव की जली हुई अस्थि या राख को रखकर पृथ्वी में गाड़ देने तथा ऊँचा टीला निर्मित करने विवरण आया है। रामायण (5/22/29) के वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महापुरुषों या नृपतियों की स्मृति में चैत्य (स्तूप) निर्मित किए जाते थे।

यह भी एक पक्ष है कि बौद्ध साहित्य में गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती 24 बुद्धों का वर्णन प्राप्त होता है। अर्थात् तथागत गौतम बुद्ध के पूर्व से ही बौद्ध-परम्परा चली आ रही थी। दिव्यावदान में उल्लेख प्राप्त होता है कि स्वयं सम्राट् अशोक ने बुद्ध-तीर्थों के दर्शन के प्रसंग में पूर्व बुद्धों के स्तूपों के दर्शन किये थे। बौद्ध ग्रन्थ दीघ-निकाय में तथागत को "थूप" (स्तूप) प्रत्येक बुद्ध तथा चक्रवर्ती नरेशों के स्तूपों का विवरण मिलता है। जातकों में भी थूप का प्रयोग स्मारकों के लिए किया गया है। "महापरिनिब्बानसुत" में उल्लेख आया है कि बुद्ध ने आनन्द को बतलाया था कि "चक्रवर्ती राजाओं की समाधि पर स्तूप बनाए जाते हैं। उसी प्रकार का स्तूप उनकी (बुद्ध की समाधि पर भी निर्मित होना चाहिए, जो चौराहे पर स्थित हो)"- "चातुमहापथे रञ्जो चक्कवतिस्स थूपं करोति।" स्तूप निर्माण की परम्परा से यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध युग से पूर्व स्मारक स्तूप निर्मित होते रहे।

जैसा कि डॉ. पी.वी. काणे[30] का मत है कि मृत शरीर का दाह-संस्कार चार चरणों में किया जाता था–1. शव को जलाना, 2. राख का संग्रह, 3. भस्म कलश तथा 4. स्मारक बनाना। अतः भारत में स्तूप निर्माण के इतिहास का अनुशीलन व वैदिक परम्परा का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग से मध्यकाल (12वीं सदी) तक स्तूप निर्माण की परम्परा भारत में सतत रूप में विद्यमान थी।[31]

भारतीय वास्तुकला के इतिहास में जिस स्तूप निर्माण-परम्परा का वर्णन किया गया है, उसका सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से है। यह कहना सर्वथा सत्य है कि वास्तुकला में स्तूप बौद्धों की देन है। पुरातात्विक सर्वेक्षणों व उत्खननों से जितने भी भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं, सभी बुद्ध-युग से पूर्व के नहीं हैं। स्तूप निर्माण का मुख्य प्रयोजन पूजा-पद्धति से था। जिसका उल्लेख बौद्ध-साहित्य में प्राचुर्य में मिलता है।

बौद्ध-धर्म के अनुसार चार प्रकार के व्यक्तियों की अस्थियों को समाधिस्थ कर स्तूप बनाए जाते थे–1. बुद्ध, 2. प्रत्येक बुद्ध, 3. अर्हत् और 4. चक्रवर्ती राजा।

29. उपाध्याय, वही, पृष्ठ सं. 5
30. काणे, वी0पी0, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग, 4 पृष्ठ सं. 255
31. उपाध्याय, वासुदेव, वही, पृष्ठ सं. 21

इन चारों की अस्थियाँ पवित्र मानी जाती थीं। स्तूप निर्माण का विशेष प्रचलन गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् हुआ, जिस समय तथागत का परिनिर्वाण हुआ और सप्ताह भर उत्सव के पश्चात् जब उनके मृत-शरीर का दाह-कर्म किया गया तथा अस्थियाँ एकत्रित की गईं; तब भारत के सभी बौद्ध राजाओं ने उनकी पवित्र अस्थियों के लिए कुशीनारा के मल्लों के पास अपने-अपने दूत भेजे और अपने लिए अस्थियों का भाग लेकर अपने-अपने राजधानियों में उन पर स्तूप बनवाए। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तीन-चार मास के भीतर ही सारे उत्तरी भारत में 10 भव्य स्तूप केवल तथागत की पवित्र अस्थियों पर निर्मित हो गए थे।

सम्राट अशोक के काल में उनका और भी विस्तार हुआ था। महावंश, पालि अट्टकथा ग्रन्थों तथा दिव्यावदान आदि संस्कृत ग्रन्थों का कथन है कि उस समय अशोक ने 84,000 (चौरासी हजार) स्तूपों का निर्माण करवाया था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों स्तूपों की संख्या बढ़ती गई और कुषाण नरेश कनिष्क के शासन-काल में स्तूपों का महत्त्व बढ़ गया, जब अस्थियों का मिलना दुर्लभ होने लगा, तब मूर्तियाँ, धार्मिक ग्रन्थ आदि रखकर उन पर स्तूपों का निर्माण होने लगा। कनिष्क ने "त्रिपिटक" संस्कृत भाषा में ताम्रपत्रों पर लिखवाकर एक स्तूप का निधान करवाया था।[32] स्तूप निर्माण पृथक-पृथक प्रयोजन से किए गए थे, जिनका वर्गीकरण इस प्रकार है–

(क) शारीरिक या धातु चैत्य–बुद्ध की पवित्र अस्थियों धातु चैत्य (भस्मपात्र) पर निर्मित स्तूप को शारीरिक या धातु चैत्य कहा गया। जैसा कि कुशीनगर का महापरिनिर्वाण स्तूप है। जो कि भस्मपात्र निर्मित है।

(ख) पारभोगिक–बोधि वृक्ष का नाम, तथागत के दैनिक जीवन में उपयोग आने वाले वस्तुओं पर निर्मित।

(ग) उद्देशिक (बुद्ध प्रतिमा)–किसी विशेष प्रयोजन से निर्मित स्तूप जैसा कि साँची स्तूप, सारिपुत्र का स्तूप इसका उदाहरण है।

(घ) व्रतानुष्ठित–मन्नत या चढ़ावे के स्तूप जो मनोकामना पूर्ण होने पर उपासक स्तूप के चारों ओर मन्नत वाले स्तूप (Votive Stupas) निर्मित करते थे। जैसा कि सारनाथ में धर्मराजिका या धमेख स्तूप के चारों ओर मनौती वाले स्तूप देखे जा सकते हैं।

स्तूपों का आकार-प्रकार (आकृति)–

1. धान्याकार (धान की राशि रखने के आकार युक्त)–तक्षशिला के भूलार व कुणाल स्तूप इसके उदाहरण हैं।

2. धन्वाकार (धनुशाकृति)–कुशीनगर का स्तूप जीर्णोद्धार से पूर्व इसी आकार का था।

3. बुब्बुलाकार (पानी के बुलबुले जैसा)–साँची का स्तूप इसका उदाहरण हैं। स्तूपों की उक्त आकृतियां पाँचवीं सदी के पालि ग्रन्थों में वर्णित हैं।

जैसा कि स्पष्ट है कि स्तूप टीले की भांति होता था। कालान्तर में इसे बौद्ध युग के बाद ईट प्रस्तर के सहारे तैयार कर स्तूप का आकार अर्द्धचन्द्राकार दिखाई पड़ता है। जिसे "अण्ड" कहते हैं। साँची, राजगृह (राजगीर) तथा सारनाथ के स्तूप इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अर्द्धगोलाकार स्तूप के नए सिरे पर चौकोर शेरा तैयार किया गया जिसे "हरमिका" नाम दिया गया। इसी में धातु गर्भ (अवशेष पात्र) रखा

32. भिक्षु धर्मरक्षित, सारनाथ-वाराणसी महाबोधि सोसायटी, सारनाथ-वाराणसी, बुद्धाब्द 2500 ई0सन् 1956 पृष्ठ सं. 38

जाता था। उसी के सहारे तीन छत्र एक के बाद दूसरा-तीसरा निर्मित किए जाते थे। चबूतरे के ऊपरी भाग में चारों तरफ प्रदक्षिण पथ सुरक्षित रखा जाता था। तथा किनारे पर "वेदिका" (वेष्टिनी, रेलिंग) को स्थान दिया गया था। भिक्षुगण उसी मार्ग से स्तूप की पूजा कर प्रदक्षिणा करते थे। उसे "मेधी या मेध" कहते थे।

सम्राट अशोक ने हजारों स्तूप निर्मित किए थे, किन्तु उनके वास्तविक आकार का पता नहीं चलता। धर्मराजिका स्तूप के भग्नावशेष मिले हैं, उनमें हरमिका व छत्र का अभाव था।[33] साँची स्तूप भी आरंभिक अवस्था में टीले के रूप में ही था। जिस पर शुङ्ग-युग में प्रस्तरों से आच्छादित किया गया। साँची स्थित अशोक स्तम्भ से स्पष्ट हो जाता है कि ई.पू. द्वितीय शती ई. में हीनयान मतयानुयायियों इस स्तूप का विस्तार किया होगा। जिसके फलस्वरूप साँची का स्तूप आज भी सुरक्षित अवस्था में खड़ा है। दक्षिण भारत में अमरावती स्तूप के अण्ड पर अलंकरण दिखता है। अण्ड को संगमरमर के प्रस्तरों से आच्छादित कर प्रत्येक भाग पर प्रतीक या कथानकों का प्रदर्शन दृष्टिगोचर होता है।

स्तूप की पवित्रता व सुरक्षा के लिए स्तूप के चारों ओर गोलाई में तीन या चार फिट की दूरी पर "वेदिका" बनाई गई थी। मौर्य युग में वेदिका बांस के खम्भों से निर्मित होती थी। जिसे शुङ्ग-काल में प्रस्तर में परिवर्तित किया गया। साँची व भरहुत की वेदिकाओं के प्रस्तरों पर लेख उत्कीर्ण हैं। जो कि शुङ्ग-काल में निर्मित होने की पुष्टि करते हैं। वेदिका (वेष्टिनी) चार प्रकार के अंशों को मिलाकर बनती रही। ये चार भाग–आलम्बन, वेदिका स्तम्भ, सूची और उष्णीस कहे गए। सभी आकार-प्रकार के सम्मिलित स्वरूप को वेष्टिनी या वेदिका कहते हैं।

स्तूप से सम्बन्धित वेदिका की चारों दिशाओं में तोरणद्वार बने हैं। जिनमें दो स्तम्भ ऊपरी भाग में वेडरियों से बन्धे हैं। भरहुत में तोरण निर्माण आरम्भ हो गया था, किन्तु बौद्ध वास्तुकला में साँची के तोरण सर्व प्रसिद्ध हैं। जो कि वेदिका के साथ निर्मित हुए थे। कालान्तर में इन्हें जोड़ दिया गया। तोरण का प्रत्येक भाग अलंकृत है। उन पर हीनयान कला, बुद्ध के प्रतीक जातक प्रदर्शन तथा चमत्कारों को दर्शाया गया है। साँची के तोरण कला उत्कृश्ट जो कि विभिन्न कालो में विकसित होती रही। इसी प्रकार स्तूप में "छत्र-यष्टि" का भी विशेष प्रयोजन था। तीन छत्र तीन भुवन (लोक) को प्रदर्शित करते हैं। कहीं पर सात छत्र दिखते हैं। जो सप्तलोक के परिचायक हैं। भौजा गुहा-स्तूप में निर्मित स्तूप में 14 छत्र दिखाए गए हैं जो कि 14 भुवनों के द्योतक हैं।

स्तूप निर्माण का कार्य विभिन्न कालों तक चलता रहा। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनकी अस्थियों के लिए राजाओं में पारस्परिक संघर्श की आशंका उत्पन्न हो गई ऐसी स्थिति में उनके अवशेषों को 8 भागों में विभक्त कर बांट दिया गया। साँची के तोरण की शहतीरों (वडेरियों) पर इस घटना का प्रदर्शन अंकित हैं। महावंश में उल्लेख मिलता है कि सम्राट अशोक ने धर्म को चिरस्थायी रखने के निमित्त राजगृह तथा अन्य स्तूपों के अवशेष निकालकर उन पर 84000 स्तूप बनवाए।[34] सम्राट अशोक ने एक तो स्तूप वहाँ बनवाए होगें जो स्थान बुद्ध के जीवन से पृथक रूप से सम्बद्ध थे, जहाँ बुद्ध रहे थे और दूसरे वहाँ बनवाए जहाँ बुद्ध नहीं पहुच पाए लेकिन उनसे सम्बन्धित थे। बुद्ध ने स्वयं अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था इस स्तूप निर्माण चौराहे (चातुमहापथे) पर होना चाहिए। इसीलिए अशोक ने दोनों प्रकार के स्थान चुने और स्तूप निर्मित करवाए।

---

33. उपाध्याय, वासुदेव, वही, पृष्ठ सं. 15
34. महावंश, 5/176

ईसवी सन् में कुषाण वंश के अभ्युदय के साथ ही स्तूप-निर्माण दृष्टिगोचर होने लगता है। कुषाण नरेश कनिष्क ने बौद्ध-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् कई स्तूपों का निर्माण करवाया। स्वेनसांग ने अपने यात्रा वृतान्त में उल्लेख किया है कि कनिष्क ने पेशावर में 400 फीट ऊँचा स्तूप बनवाया जिसकी वेदिका 150 फीट ऊँची थी। कनिष्क ने पश्चिमोत्तर भारत व अफगानिस्तान में स्तूपों का निर्माण करवाया। कनिष्क ने चतुर्थ बौद्ध संगीति आयोजित कर बौद्ध-धर्म के महायान मत के प्रचारार्थ मूर्ति निर्माण को प्रश्रय दिया जिसके फलस्वरूप गान्धार-भू-भाग में अनगिनत बौद्ध प्रतिमाएँ निर्मित हुई। इस शैली को "गान्धार-कला शैली" नाम दिया गया। जहाँ एक ओर मूर्ति निर्माण का कार्य चल रहा था, वहीं दूसरी ओर स्तूप-निर्माण का कार्य भी चलता रहा।

कुषाण काल के पश्चात् स्तूप निर्माण कार्य में ह्रास होता गया लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि स्तूप निर्माण परम्परा अवरूद्ध हो गई हो। चौथी सदी में उदित हुए गुप्तवंशी नरेश, यद्यपि वैष्णव थे; लेकिन उन्होंने बौद्ध-धर्म की उपेक्षा नहीं की। गुप्तकाल तक पूजा के निमित्त मनौती-स्तूप मुख्य स्तूप के चारों ओर निर्मित होते रहे। उनके स्वरूप सारनाथ के धर्मराज का स्तूप तथा नालन्दा के मुख्य स्तूप के चारों ओर आज भी मनौती-स्तूप देखे जा सकते हैं।

हर्षवर्द्धन के शासन काल में भी मनौति स्तूपों का ही निर्माण होता रहा। उस समय वास्तुकला के क्षेत्र में नालन्दा बौद्ध महाविहार (विश्वविद्यालय) का समुचित विकास हो चुका था। जिसका उल्लेख स्वेनसांग के यात्रा वृतान्तों में भी मिलता है।

राजपूत काल अर्थात् पूर्व मध्य युग से पौराणिक विचारधाराओं का प्रभाव समाज पर बढ़ने के कारण नए धार्मिक आकार-प्रकार के निर्माण के अतिरिक्त पुराने क्षतिग्रस्त भवनों, मंदिरों तथा स्तूपों का संस्कार उतना ही पुण्य समझा गया। यही कारण है कि विभिन्न राजवंशों के अभिलेखों में "खण्डे स्फुट प्रतिसंस्कार" वाक्य का प्रयोग मिलता है। लेखों में दान का जिस रूप में वर्णन है, उसमें संस्कार (जीर्णोद्धार) का भी उल्लेख है। पालवंशी नरेश बौद्ध होकर भी ब्राह्मण मंदिरों के तथा अबौद्ध शासक विहार या स्तूप के जीर्णोद्धार के लिए दान देते थे। अतः पालवंशी नरेशों के शासनकाल में स्तूपों का जीर्णोद्धार किया गया। नालन्दा स्तूप इसका उदाहरण है। जिसका कि पाल युग में संस्कार उसकी वृद्धि की गई थी। भागलपुर जिले में अतिंचक नामक स्थान पर प्राप्त एक विशालकाय स्तूप का तादाम्य विक्रमशिला से करते हैं। इसे पाल नरेश धर्मपाल ने निर्मित किया था। इसी प्रकार उत्तराखण्ड राज्य के रूद्रप्रयाग जिले में नागा-चट्टी नामक स्थान पर मनौती-स्तूप भी इसी का द्योतक है।

मध्ययुग में स्तूप निर्माण का प्रयोजन लगभग समाप्त हो गया था। मात्र ठोस प्रस्तर खण्ड का मनौति स्तूप बनाकर पूजा करने लगे थे। निश्कर्शतः यह कहा जा सकता है कि बौद्ध युग से 13वीं सदी तक भारतीय समाज में स्तूप निर्माण के परम्परा को स्थान प्राप्त था। जिसने बौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्ती योगदान किया। स्तूप निर्माण का महत्त्व इस बात से जाना जाता है कि स्तूपों की पूजा सही अर्थों में उन विभूतियों के महान त्याग, तपस्या आदि की उपासना है, जिनकी अस्थियां या भस्म, उनमें संरक्षित है।

बौद्ध उपासक उनकी उपासना से अपने कल्याण की कामना कर सदा यह कर वन्दना करते हैं–

"वन्दामि चेतियं सब्बं सब्बट्ठानेसु पतिट्ठितं।
सारीरिकधातु महाबोधिं बुद्धरूपं सकलं सदा॥"

अर्थात् सब स्थानों में प्रतिष्ठित शारीरिक=धातु (=अस्थि) बोधि वृक्ष और बुद्ध प्रतिमा-इन सब चैत्यों की मैं सदा वन्दना करता हूँ।[35]

गुहा-चैत्य–बौद्ध कलाकारों ने विहार के समीप उपासना निमित्त अर्द्धगोलाकार गुहा खोदी; जिनमें स्तूप की स्थिति सदा रहती है। पश्चिमी भारत में चैत्य निर्माण का एक क्रम था, उसमें–भाजा, कोनदाने, पितलखोरा, वेदसा, नासिक, कार्ले, अजन्ता तथा कनहेरी इस श्रेणी में आते हैं। ये गुहाएँ ई.पू. पहली सदी में खोदी गई थी। हीनयान मत में बुद्ध प्रतिमा का अभाव उठा और प्रतीकों में स्तूप को ही गुहा में पूजा निमित्त स्थान दिया गया। कालान्तर में बुद्ध-प्रतिमा स्थापित की गई। अजन्ता गुहा संख्या 19, 26 तथा ऐलोरा गुहा संख्या 10 (विश्वकर्मा गुहा) चैत्य गुहा में स्तूप के सम्मुख उसी शिलाखण्ड में बुद्ध प्रतिमा उत्कीर्ण है। यह महायान मत की देन है। जब भक्ति भावना का अविर्भाव हुआ तो बौद्ध मत के दूसरे सम्प्रदाय-महायान में बुद्ध प्रतिमा तैयार की गई। इस नए मत में पश्चिमी सह्याद्रि पर्वतमाला में जो चैत्य मण्डप खुदवाए सभी में बुद्ध प्रतिमा सहित स्तूप के "अण्ड" को उत्कीर्ण किया गया।

गुहा–बौद्ध वास्तुकला में गुहा स्थापत्य का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। पहले बौद्ध मत में परिव्राजक भ्रमण कर भिक्षाटन करते रहे। इसी कारण उन्हें भिक्षु की संज्ञा दी गई। किन्तु संशय की स्थिति में एकान्त निवास आवश्यक हो गया है। अतः पर्वतों को काटकर गुफाएँ तैयार की गई। विहार प्रान्त के गया जिले में बराबर व नागार्जुनी पहाड़ियों खुदवाकर सम्राट अशोक ने तीन गुहाओं को आजीवक भिक्षुओं के लिए दान स्वरूप दिया था। नागार्जुन पहाड़ी की तीन अन्य गुहाएँ अशोक के उत्तराधिकारी दशरथ ने भी "आजीवक संघ" को दान किया था। जैसा कि बौद्ध साहित्य में वर्णन मिलता है–"लाजिना पियदसिना दूवाडस वसभिसितेन इयं कुम्भा खलातिक पवतसि दिना आजीविकोहि।" न गुहाओं में सबसे बड़ा भवन "गोपिका गुहा" है। अशोक द्वारा खुदवाई गई गुहाएँ चौपाल गुहा, सुदामा गुहा और लोमश ऋशि गुहा है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार अशोक ने पाटलिपुत्र में कई गुहा भवन अपने आचार्य उपगुप्त को भेंट किए थे।[36]

ईसवी सन् में पश्चिमी भारत की सह्याद्रि पर्वतमाला अनेक गुहाएँ निर्मित हुई। अजन्ता तथा बाघ की गुहाएँ इसके उदाहरण हैं। इन गुहाओं को सुन्दर भित्ति-चित्रों से अलंकृत किया गया। इस क्षेत्र में चैत्य मंडप या गुहाएँ खोदी गई थी। मौर्य युग से लेकर शुंग युग तक बौद्ध कला हीनयान मत से प्रभावित थी। सुविधा की दृष्टि से कलाविदों ने चैत्यों में स्तूप को ही स्थान दिया था। इसके उदाहरण-भाजा, कोनदाने, पांडुलेन, पितलखोरा, अजन्ता गुहा, नासिक, वेदसा, कार्ले की गणना हीनयान चैत्य की रूप में होती है। प्राचीन भारत में लगभग 1200 गुहाएँ निर्मित की गई जिनमें 900 बौद्ध गुहाओं के विषय में विवरण उपलब्ध हैं। गुहाओं के भीतर निर्मित भित्तीचित्रों में बुद्ध के जीवन के घटनाओं का प्रदर्शन बोधिसत्त्व के विभिन्न रूप पूर्वजन्मों की (जातक) कथाएँ–मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का विवरण प्रदर्शित है।

बौद्ध-विहार–बौद्ध वास्तुकला के उदाहरणों में विहारों एवं मंदिरों का विशेष महत्त्व है। जिनका विभिन्न कालों में निर्माण होता रहा है। इनमें बोधगया का विहार विशेष उल्लेखनीय है। यह विहार 5वीं सदी में गुप्तवंशीय शासकों के शासनकाल में निर्मित हुआ था। बौद्ध साहित्य में इसे "महाबोधि-विहार" कहा गया है। भारत के विहारों में बोधगया का विहार अतीव आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक है तथा वास्तुकला का बेजोड़ उदाहरण है। यही वह स्थान है, जहाँ कि सिद्धार्थ गौतम को बुद्धत्व-प्राप्ति हुई और वे गौतम बुद्ध कहलाए। जिससे इस स्थान गया का नामकरण बोधगया या बौद्धगया रूप में हुआ। इस

35. भिक्षु धर्मरक्षित, वही, पृष्ठ सं. 38
36. Watters, Life of YuwUng ChawUng p.no. 96

दृष्टि से इस स्थान का विशेष धार्मिक महत्त्व है। अशोक के 8वें शिलालेख में उसकी बोधगया की धर्म यात्रा का वर्णन है। लेकिन इसमें बुद्ध के मंदिर निर्माण का विवरण नहीं मिलता।

यह विहार समतल भूमि पर निर्मित है। जिसका निचला भाग वर्गाकार है, ऊपर की शीर्ष क्रमशः पतला होता गया है। सबसे ऊपर सभी आकार एक स्थान पर मिल गए हैं, जो नुकीला व चपटा हैं। पाटलिपुत्र के उत्खनन में एक मोहर मिली है, जिसमें बोधगया मंदिर की प्रतिकृति है। वर्तमान मंदिर 50 फीट चौड़े चौबूतरे पर खड़ा है। उसकी ऊँचाई 20 फीट है। यह विशाल पिरामिड के आकार का गुम्बद दिखाई पड़ता है, जिसकी ऊँचाई 180 फीट है। इसके चारों कोनों के मध्य शिखर का लघु रूप तैयार किया गया और इस कारण यह वैदिक धर्म के पंचायतन मंदिर की तरह बन जाता है। विहार के पश्चिम में बोधिवृक्ष और वज्रासन दिखाई पड़ता है। विहार के भीतर बुद्ध की विशाल मूर्ति-भूमि स्पर्श मुद्रा में आसीन है। मंदिर का प्रवेश द्वार पूर्वी दिशा में है। बोधगया का मंदिर बौद्ध मंदिरों में अद्वितीय है। इस प्रकार के मंदिर निर्माण योजना या वास्तुकला उस शताब्दी के अन्य मंदिरों में दृष्टिगोचर नहीं होती। इस कारण इस विहार की वास्तुकला विलक्षण है।

कुशीनगर में महापरिनिर्वाण स्तूप के समीप एक निर्वाण विहार है, जो कि सन् 1876 में उत्खनन में प्रकाश में आया है। इसका जीर्णोद्धार भारत सरकार ने बुद्ध जयन्ती वर्ष 1956 में किया गया, जो कि आज नवीन रूप में सामने है। निर्वाण विहार में बुद्ध की शयनावस्था 20 फीट लम्बी मूर्ति प्रतिष्ठापित है। इस मूर्ति से निर्वाण विहार सुसज्जित है। उत्खननकर्ता कारलाइल को यह मूर्ति भग्नावस्था में मिली थी, जो अनेक प्रकार के चित्रों व रंगों से चित्रित थीं।

इसी प्रकार कुशीनगर में माथाकुंवर विहार भी है। इस मंदिर में बुद्ध की मूर्ति कम्मट्ठान (योगाभ्यास) मुद्रा में है। यह मूर्ति साढ़े पाँच फीट ऊँची है, जो एक ऊँचे सिंहासन पर विराजमान है। मूर्ति के ऊपर "ॐ नमो बुद्धाय" उत्कीर्ण होने तथा कुषाणकालीन सिक्के की प्राप्ति से स्पष्ट है कि यह मूर्ति कनिष्क के शासन काल (ईस्वी सन् 78-110) में बनी होगी।[37] लेकिन वर्तमान अनुसन्धानों के आधार पर यह मूर्ति 10वीं शताब्दी की मानी गई है। इसी मूर्ति को माथाकुंवर कहते हैं। यह मूर्ति स्वर्ण जैसी चमकीली आकर्षक व प्रभावोत्पादक है।

स्तम्भ–सम्राट अशोक द्वारा स्थापित अनेक स्तम्भ वास्तुकला के अद्वितीय उदाहरण हैं। इनमें लुम्बिनी (रुम्मिनदेई) स्तम्भ-बुद्ध के जन्म सम्बन्धी, सारनाथ सिंह शीर्ष स्तम्भ-धर्मचक्र प्रवर्तन सम्बन्धी, साँची स्तम्भ, निग्लीव सागर स्तम्भ, प्रयाग स्तम्भ (कौशाम्बी), लौरीय-अजराज (विहार), लौरीय-नन्दनगढ (विहार), टोपारा स्तम्भ (अम्बाला), मिराठ स्तम्भ (मेरठ)। मथुरा के राजा रंजुबल (पहली सदी) तथा सोडास के मथुरा सिंह स्तम्भ लेख में बुद्ध के अवशेष की स्थापना की चर्चा है। इस लेख की भाषा प्राकृत तथा लिपि ब्राह्मी लेख "सिरी निसमे (=स्तूप) सरीरपतिट्ठापितो मक्रवतो सक्यमुनिस बुधस" अर्थात् शाक्यमुनि बुद्ध का अवशेष (सरीर=धातु) स्तूप में प्रतिष्ठापित किया गया।

अभिलेख–बौद्ध-धर्म सम्बन्धी अभिलेखों का इतिहास लेखन व निर्धारण तथा वास्तुकला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये लेख चट्टानों, स्तम्भों, मुद्राओं, ताम्रपत्रों, भस्मपात्रों आदि पर विभिन्न उद्देश्यों के साथ उत्कीर्ण करवाए गए; जो कि आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ तक बौद्धधर्म से सम्बन्धित अभिलेखों का प्रश्न है ये समय-समय पर राजाओं व जनसाधारण द्वार उत्कीर्ण करवाए गए थे।

बौद्ध-धर्म का सबसे प्रखर संरक्षक सम्राट अशोक था। उसका बुद्ध की शिक्षाओं एवं सिद्धान्तों में अटूट विश्वास था। और वह विश्व-हित के लिए एक धर्म राज्य स्थापित करने के लिए सदैव तल्लीन

37. धर्मरक्षित, कुशीनगर का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ सं. 41

रहा। इसीलिए उसने सदाचार और पवित्र नियमों पर चलने के लिए प्रजा को प्रेरित किया; जो कि वृहद चट्टानों, स्वतंत्र शिलाओं, प्रस्तर स्तम्भों, गुहाओं आदि पर उत्कीर्ण करवाए। जिन्हें "धम्मलिपि" नाम से अभिहित किया जाता है। सम्राट अशोक के ये अभिलेख भारत की चारों सीमाओं से प्राप्त हुए। इनमें 14 वृहद शिलालेख, लघु शिलालेख, स्वतंत्र शिलालेख, वृहद स्तम्भ लेख, लघु स्तम्भ लेख, स्मरणार्थ उत्कीर्ण लेख, दान की स्मृति में उत्कीर्ण लेख हैं।

अशोक के चतुर्दश वृहद शिलालेख धौली (उड़ीसा के पुरी जिले में), गिरनार (काठियावाड़, जूनागढ़ के समीप गजुरात) जौगढ़ (उड़ीसा), सोपारा (थाने जिले में महाराष्ट्र), एर्रागुडि (कुनूर्ल आन्ध्र-प्रदेश), कालसी (हिमालय उपत्यका में स्थित जिला देहरादून उत्तराखण्ड), मानसेहरा (पाकिस्तान के हजारा जिले में, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त), शाहबाजगढ़ (पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त पेशावर) में हैं। लघु शिलालेख वैराठ (राजस्थान), ब्रह्मगिरि (कर्नाटक), गोवोमठ (आन्ध्र प्रदेश), जतिंग रामेश्वर (कर्नाटक), मास्की (आन्ध्र प्रदेश), पालकोगुण्डु (आन्ध्र प्रदेश), भागु (राजस्थान) में हैं।[38]

स्वतन्त्र शिलालेख–वैराठ और वृहद स्तम्भ लेख कौशाम्बी, चम्पारण, लौरिया-नन्दनगढ़, लौरिय-अजराज, मेरठ, टोपारा आदि में प्राप्त हुए हैं। लघु स्तम्भ लेख मुख्यतः प्रयाग, साँची, सारनाथ, निग्लीव में प्राप्त हुए हैं। इनके अलावा अशोक ने दान की स्मृति में बराबर गुहाओं में लेख उत्कीर्ण करवाए। उक्त सभी लेख पालि भाषा में हैं और बौद्ध वास्तुकला को आधार प्रदान करते हैं।

अतः बौद्ध-संस्कृत साहित्य के आधार पर वास्तुकला के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि किसी विशेष प्रयोजन से ही बौद्धकला अस्तित्व आई और विभिन्न कालों में राजाश्रय पाकर संरक्षित रही; जो कि विहार या संघाराम, स्तूप, गुहा, गुहा-चैत्य, मंदिर व कलात्मक प्रस्तर स्तम्भों व शिलाओं के रूप में आज भी वियमान है और श्रद्धालुओं तथा पर्यटकों के लिए श्रद्धा व आकर्षण के केन्द्र हैं। इस प्रकार बौद्ध-संस्कृत साहित्य वर्णित बौद्ध वास्तुकला ने भारतीय वास्तुकला को नया आयाम देकर उसे समुन्नत बनाया तथा भारतीय संस्कृति के कलात्मक-पक्ष को देश-विदेश में स्थान दिलाया; जिसके उदाहरण आज भी पुरातात्विक स्मारकों के रूप वियमान हैं।

38. कुशीनगर में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा लगाए गए साईन बोर्ड के आधार पर लेखक का बौद्ध अध्ययन भ्रमण फरवरी, 1983 के आधार पर।

33

सिद्ध साहित्य और तत्कालीन प्रमुख रचनाकार

डॉ. वीरेन्द्र सिंह बर्त्वाल
अतिथि अध्यापक (हिन्दी)
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग (उत्तराखण्ड)
मोबा.–9411341443,7535975381
ई-मेल–veerendra.bartwal8gmail.com

प्रस्तावना–

बौद्ध-धर्म लगभग 2,600 वर्ष प्राचीन है। तथागत भगवान् गौतम बुद्ध इसके प्रवर्तक थे। वैसे तो यह परम्परा बहुत प्राचीन हैं, क्योंकि भगवान् बुद्ध ने पूर्व भी 24 बुद्ध हो चुके हैं। स्वयं तथागत गौतम बुद्ध ने अपने पूर्व के बुद्धों के विषय में विस्तार से बताया है। त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों में पूर्व-बुद्धों के वृतान्त विस्तारशः आये हैं। इस धर्म में तीन रत्न हैं–बुद्ध, संघ और धम्म। बुद्ध, धम्म और संघ–सभी प्रकार के लौकिक धन या रत्नों में सर्वश्रेष्ठ हैं। बिम्बिसार और अजातशत्रु जैसे ख्यात राजा भगवान् तथागत बुद्ध के अनुयायी रहे हैं। इस धर्म का आविर्भाव भारत में हुआ और इसके पश्चात् एशिया महाद्वीप में दक्षिण-पूर्व क्षेत्र से होता हुआ चीन तक विस्तारित हुआ। आज विश्व के 200 से अधिक देशों में बुद्ध-धर्म के मानने वाले रहते हैं। विपस्सना-ध्यान साधना के प्रचार के साथ बुद्ध-धर्म धीरे-धीरे प्रचारित-प्रसारित हो रहा है।

बुद्ध-धर्म के अन्तर्गत चार आर्यसत्य अन्तर्भावित होते हैं। वे इस प्रकार हैं–1. दुःख, 2. दुःख-समुदाय, 3. दुःखनिरोध और 4. दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा। भगवान् बुद्ध ने दोनों प्रकार की अतियों (विलासिता या अत्यन्त कष्ट) से परे मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया है। बुद्ध का मध्यम-मार्ग का सिद्धान्त आज जीवन की सफलता का महत्त्वपूर्ण सूत्र बन गया है। बुद्ध के सिद्धान्त किसी देश, जाति, सम्प्रदाय या अन्य किसी भी सीमा के परे सम्पूर्ण विश्व और तमाम मानवता के लिए सार्वभौमिक रूप से समानतया उपयोगी है।

बुद्ध-धर्म से कालान्तर में 84 सिद्ध हुए हैं। इन्होंने बुद्ध-परम्परा को विस्तार देते हुए संसार में अनोखे ज्ञान का प्रकाश किया। इन्हीं सिद्धों में से कुछ महान् काव्य-रचनाकार आचार्य भी हुए हैं, जो अपनी वाणी के माध्यम से स्वयं को अमर कर गए और मानवता के लिए महान् सन्देश छोड़ गये।

बौद्ध-धर्म से निकले सिद्धों ने हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उनकी काव्य कृतियों में ज्ञान का समृद्ध स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। उनके काव्य में रहस्य के दर्शन होते हैं, तो जीवन के सत्य को भी उसमें व्यक्त किया गया है। उसमें आडम्बर और पाखण्ड का प्रतिरोध किया गया है। अन्धविश्वास पर इसमें गहरी चोट की गयी है।

बौद्ध-धर्म कालान्तर में दो शाखाओं में विभाजित हो गया था। ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए इस विभाजन में बौद्ध-धर्म की एक शाखा बनी-हीनयान और दूसरी महायान। हीनयान केवल संन्यासियों और विरक्तों का आश्रय बना। यह भगवान् बुद्ध की मूल-शिक्षाओं और ध्यान-साधना पर केन्द्रित था। इसे थेरवाद या स्थविरवाद भी कहा गया। ये मूलतः बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों तक केन्द्रित रहा; तो वहीं महायान में सभी शरण लेने लगे। महायान मन्त्रयान बना और आगे चलकर वज्रयान और सहजयान नामक दो भागों में विभक्त हो गया। वज्रयानी सिद्ध कहलाए और सहजयानी नाथ कहलाए। सिद्धों की संख्या 84 और नाथों की संख्या 9 बताई जाती है।

हीनयान केवल साधकों, विरक्तों और संन्यासियों को आश्रय देता था; तो महायान ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, गृहस्थ-संन्यासी सबको निर्वाण तक पहँचाने का दावा करता था। छठी-सातवीं शती में महायान वज्रयान और सहजयान दो उपविभागों में विभक्त हो गया। सिद्धों का सम्बन्ध बौद्ध के विकृत रूप इसी वज्रयान तथा सहजयान संप्रदाय से था। सिद्ध अशिक्षित व हीन जाति से सम्बन्ध रखते हैं।[1]

इस प्रकार आगे चलकर बौद्ध-धर्म तन्त्र-मन्त्र की साधना में बदल गया था। वज्रयान इसी प्रकार की साधना था। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार-"बौद्ध-धर्म अपने हीनयान और महायान के विकास को चरम सीमा तक पहुँचाकर अब एक नई दिशा लेने की तैयारी कर रहा था, जब उसे मन्त्रयान, वज्रयान या सहजयान की संज्ञा मिलने वाली थी।" इस प्रकार इन सिद्धों का साक्षात् सम्बन्ध इस वज्रयान से था।[2]

इन सिद्धों का सम्बन्ध तान्त्रिक विद्याओं से था। ये वामाचारी थे। तन्त्र-विद्या के ज्ञाता होने के कारण लोगों का उन पर विश्वास था कि 'इनमें अनेक अलौकिक शक्तियाँ समाहित हैं।'

बौद्ध-धर्म अब विकृत होकर वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तान्त्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। ..... इन तान्त्रिक योगियों को लोग अलौकिक शक्ति सम्पन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे।[3]

सिद्धों की संख्या 84 मानी गई है। इनके नाम के पीछे 'पा' लगता है। प्रथम सिद्ध सरहपा माने गये हैं, जिनका समय 740 से 769 ई. के मध्य माना गया है। .....अन्य सिद्धों में लूइपा, लीलापा, विरपा, डोभिपा, चौरंगीपा, कण्हपा आदि हैं।[4]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 84 सिद्धों के नाम इस प्रकार दिया है–लूहिपा, लीलापा, विरूपा, डोम्भिपा, शबरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, वीणापा, शान्तिपा, तन्तिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कण्हपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शीलपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखन्धिपा,

1. डॉ. कुसुम राय, हिन्दी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, पृ-35
2. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, पृ-2
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ-20
4. डॉ. कुसुम राय, हिन्दी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, पृ-36

अजागिपा, कालपा, धोम्भीपा, कंकणपा, कमरिपा, डेंगिपा, भदेपा, तन्धेपा, कुक्कुरिपा, कुचपा, धर्मपा, महीपा, अचिन्तिपा, भल्लहपा, नलिनपा, भूसुकुपा, इन्द्रभूति, मेकोपा, कुठालिपा, कमरिपा, जालन्धरपा, राहुलपा, घर्वरिपा, धोकरिपा, मेदिनीपा, पंकजपा, घण्टापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुण्डरिपा, निर्गुणपा, जयानन्त, चर्पटीपा, चपंकपा, भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, चंवरिपा, मणिभद्रपा (योगिनी), कनखलापा (योगिनी), कलकलपा, कतालीपा, धहुरिपा, उधरिपा, कपालपा, किलपा, सागरमपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतलिपा, पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकरा (योगिनी), सुमुदपा, भलिपा।[5]

इन 84 सिद्धों में अनेक कवि भी हुए हैं, किन्तु 14 सिद्धों की रचनाएँ ही उपलब्ध हो पाती हैं। इन रचनाओं में साधना, रहस्य, उपदेश, नीति और आचार समाविष्ट हैं। ये मुक्तक रूप में हैं। इनकी भाषा सन्ध्या अथवा सन्धा कहलाती है। इनकी भाषा को संध्या इसलिए कहा गया, कि उसमें कुछ अस्पष्टता-सी है, जबकि सन्धा का अर्थ कुछ विद्वानों ने अभिसंधि-युक्त अथवा अभिप्राय युक्त से लगाया है। जो भी हो, यह एक विशिष्ट प्रकार की भाषा बन गयी है।

जिस प्रकार सन्ध्या के समय एक धुंधलका-सा छा जाता है। वस्तुएँ दिन के समान स्पष्ट नहीं दिखाई देतीं। उसी प्रकार सिद्धों की भाषा पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं है। विनयतोष भट्टाचार्य ने इसी अर्थ में सिद्धों की भाषा को अस्पष्ट बताया है; तो कुछ विद्वानों ने बिहार और बंगाल की सीमा की भाषा होने से उसे सन्धि देश की भाषा के अर्थ में सान्ध्य भाषा कहा; वहीं कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश और हिन्दी के सन्धिकाल की भाषा बताकर सान्ध्य भाषा की व्युत्पत्ति स्पष्ट की है। इस सन्बन्ध में विधुशेखर शास्त्री और प्रबोधचन्द्र बागची का मन्तव्य ध्यातव्य है। उन्होंने 'संध्या' को संस्कृत सन्ध्याय का अपभ्रंश रूप माना। सन्धा भाषा का अर्थ अभिसन्धि-युक्त या अभिप्राय युक्त भाषा से माना।[6]

सन्धा भाषा वस्तुतः अन्तःसाधनात्मक अनुभूतियों का संकेत करने वाली प्रतीक-भाषा है। इसलिए प्रतीकार्थ खुलने पर ही यह समझ में आती है।[7]

सिद्धों ने अपने काल में अनेक रचनाओं की अभिसृष्टि की है। शान्त और शृंगार रस की प्रधानता वाली ये रचनाएँ तत्कालीन जनभाषा में लिखी गई हैं। हिन्दी साहित्य में इन रचनाओं को 'सिद्ध साहित्य' की श्रेणी में रखा गया है। सिद्धों ने बौद्ध-धर्म के वज्रयान तत्त्व का प्रचार करने के लिए जो साहित्य जनभाषा में लिखा, वह हिन्दी के सिद्ध-साहित्य की सीमा में आता है।

राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें सिद्ध सरहपा से यह साहित्य आरम्भ होता है।[8] सरहपा सिद्धों में प्रसिद्ध रचनाकार हुए हैं। इनके कई अन्य नाम भी बताए गये हैं। इन नामों में राहुलभद्र, सरहपाद और सरोजवज्र भी शामिल हैं। सरहपा का काल आठवीं शताब्दी माना गया है। राहुल संस्कृत्यायन ने इनका समय 769 ई. माना है, जो विद्वानों में मान्य है। ये राहुल भद्र, सरोरुह पाद, सरोरुह वज्र, पद्मवज्र आदि नामों से भी अलंकृत हुए हैं। ये जाति से ब्राह्मण थे। ब्राह्मण होकर भी उन्होंने ब्राह्मणवाद का खण्डन किया। इनके ग्रन्थों में दोहाकोश गीत, दोहाकोश चर्यागीति, दोहाकोश उपदेश गीति, कामकोश-अमृत वज्रगीति, डाकिनी गुह्य-वज्रगीति आदि प्रमुख हैं।[9] इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या

5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ-20
6. डॉ. कुसुम राय, हिन्दी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, पृ-36
7. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, पृ-2
8. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल (संपादक), हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ-58
9. डॉ. कुसुम राय, हिन्दी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, पृ-37

बत्तीस बतायी गयी है। 'दोहाकोष' हिन्दी की रचनाओं में सर्व-प्रसिद्ध है।[10] प्रथम सिद्ध 'सरहपा' (8वीं शताब्दी) सहज जीवन पर बहुत अधिकल बल देते थे। इन्हें ही 'सहजयान' का प्रवर्तक कहा जाता है।[11]

सरहपा केवल अपभ्रंश-पद्यों के ही रचयिता नहीं हैं, बल्कि कई संस्कृत-ग्रन्थ-विशेषकर तन्त्रों की टीकाएँ–उनके नाम की तिब्बती स्तनू-ग्युर में हैं। इन्हें उन्होंने अपनी कृतियों को किस स्थिति में लिखा था, यह कहना मुश्किल है, सम्भवतः वह आरम्भिक अवस्था की कृतियाँ हों। ऐसी कृतियों की संख्या सात है।[12] सरहपाद की रचनाओं में सन्त कवि कबीरदास की रचनाओं की छाया दिखाई देती है। आडम्बर और पाखण्ड का विरोध तथा गुरु-सेवा को महत्त्व देती उनकी रचनाएँ कबीर की रचनाओं के समान हैं।

ये सहज भोग-मार्ग से जीव को महासुख की ओर ले जाते हैं। इनकी भाषा सरल तथा गेय है एवं काव्य में भावों का सहज प्रवाह मिलता है।

एक उदाहरण प्रस्तुत है–

नाद न बिन्दु न रवि न शशि मंडल,
चिअराअ सहावे मूकल।

अजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक,
निअहि बोहिमा जाहु रे लांक।
हाथेरे काकाण मा लोउ दापण,
अपणे अपा बुझतु निअन्मण।[13]

अन्तःसाधना पर जोर और पण्डितो (ब्राह्मणों) को फटकार लगाती उनकी रचनाएँ बड़ी प्रभावपूर्ण हैं, जो इस प्रकार हैं–

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ। देहहि रुद्ध बसन्त जाणइ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोवि णिलज्जइ भणइ हउं पंडिअ॥

* * *

जहि मन पवन नसंचरइ, रवि ससि नांहि पवेस।
तहि बट चित्त बिसाम करु। सरेहे कहिअ उवेस॥

घोर अधारे चन्दमणि जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ॥

ज्वन्तह जो नउ जरइ सो अजरामर होइ।
गुरु उपएसें बिमलमइ सो पर धण्णा कोइ॥[14]

---

10. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल (सम्पादक), हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ-58-59
11. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, पृ-2
12. राहुल सांस्कृत्यायन (सम्पादक, पुनरनुवादक), दोहाकोश, पृ-16
13. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल (सम्पादक), हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ-59
14. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ-20-21

सरहपा के साथ ही शवरपा भी काव्य-कृतियों की दृष्टि में चर्चित रचनाकार रहे हैं। शवरपा भी सरहपा के समकालीन रहे। उनकी रचनाएँ कई दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हें सरहपा का शिष्य माना गया है। इनका जन्म क्षत्रिय-कुल में 780 ई. में हुआ। सरहपा से इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था। शबरों का-सा जीवन व्यतीत करने के कारण ये शवरपा कहे जाने लगे।

'चर्यापद' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। ये माया-मोह का विरोध करके सहज जीवन पर बल देते हैं और उसी को महासुख की प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं।

इनकी कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

हेरि ये मेरि तइला बाड़ी खसमे समतुला
शुकड़ए सेरे कपासु फुटिला।
तइला वाड़िर पासेर जोहणा वाड़ी ताएला
फिटेलि अन्धारि रे आकाश फुलिआ।[15]

सिद्धों में एक अन्य रचनाकार लुइपा हुए हैं। वे शवरपा के शिष्य थे। सिद्धों में इनका स्थान श्रेष्ठ बताया गया है। इन्हें 'सहज-धर्म' का प्रथम आचार्य होने का गौरव प्राप्त था। लुइपा का समय 830 ई. बताया गया है।

इनकी एक रचना का कोई अंश इस प्रकार है–

काला तरुवर पंच बिड़ाल। चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिअ महासुह परिमाण। लूइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण॥[16]

सिद्ध रचनाकारों में शामिल डोम्भिपा भी क्षत्रिय वंश से सम्बद्ध थे। इनका काल 840 ई. बताया गया है। इनके 21 ग्रन्थ बताए गए हैं। जिनमें 'डोम्बिगीतिका', 'योगचर्या' और 'अक्षद्विकोपदेश' शामिल हैं।

इनकी कविता का एक उदाहरण इस प्रकार है–

गंगा जउना माझेरे बहर नाइ।
तांहि बुड़िली मातंगि पोइआली ले पार करई।
बाहतु डोम्बी बाह लो डोम्बी वाटत भइल उछारा।
सद्गुरु पाऊ पए जाइब पुणु जिणउरा॥[17]

सिद्ध कवि कण्हपा 820 ई. में कर्नाटक में जन्मे थे और ये ब्राह्मण थे। इन्होंने जालन्धरपा से शिष्यत्व ग्रहण किया था। इसके पश्चात् इनका शिष्यत्व कई अनेक सिद्धों ने ग्रहण किया। अधिकांशतः दर्शन पर केन्द्रित इनके गंन्थों की संख्या 74 बताई गई है।

ये हिन्दी साहित्य-जगत् में विशेष प्रसिद्ध हुए हैं। शास्त्रीय रूढ़ियों का इन्होंने जोरदार खण्डन किया है–

आगम वेअ पुराणे, पंडित मान बहंति।
पक्क सिरिफल अलिअ, जिम बाहेरति भ्रमयंति।[18]

---

15. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल (संपादक): हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ-59
16. आचार्य रामचन्द्र शुक्लः हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ-21
17. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल (संपादक): हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ-59
18. डॉ. कुसुम रायः हिन्दी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, पृ-38

इसी प्रकार सिद्ध कवि कुक्कुरिपा ने भी काव्य-रचना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उनके कुल 16 ग्रन्थ बताए जाते हैं।

सारांश–

यहाँ उल्लिखित सिद्ध कवियों के अतिरिक्त भी इस परम्परा में अनेक कवि हुए हैं; परन्तु उनकी कविताओं में वह गुण विद्यमान नहीं था, जो इन कवियों की रचनाओं में रहा। इसलिए वे इनकी श्रेणी में शामिल नहीं हो पाए। सारांशतः यह बात सिद्ध होती है कि उपर्युक्त सिद्ध कवियों ने समाज की मनोदशा परिवर्तित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। उन्होंने अपनी आत्मा में निहित का ज्ञान का अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यापक विस्तार किया। उन्होंने उपदेश देकर समाज सुधार का कार्य किया। अज्ञानान्धकार को मिटाकर सन्मार्ग दिखलाया। इनकी काव्य-रचनाएँ इन्हीं के काल तक नहीं सिमटीं, अपितु भक्तिकाल तक उनकी प्रवृत्तियों का प्रभाव चला आया। कबीर की अनेक रचनाओं पर इनका प्रतिबिम्बन स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इन कवियों ने जीवन के सत्य का उद्घाटन कर तत्कालीन समाज में एक नवीन चेतना का संचार किया। अर्थात् उन्होंने न केवल एक सम्प्रदाय का प्रचार किया, अपितु समाज-सुधार का भी कार्य किया। भक्तिकाल के कवियों के लिए इनकी रचनाएँ कई मायनों में स्रोत सिद्ध हुई हैं।

34

शून्यवाद एवं अद्वैतवाद : एक दार्शनिक विमर्श

श्याम कुमार
(शोधच्छात्र)
संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-112 267
ई मेल– sk93jnu@gmail.com

भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक स्वरूपों के अनुरूप विविध रूपों एवं आयामों में परिवर्तित होती रही है। समस्त भारतीय दर्शनों के सन्दर्भ में यह तथ्य विचारणीय रहा है कि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास परस्पर सम्बद्ध एवं उत्तरोत्तर विकासशील है। प्रत्येक दर्शन पद्धति में जहाँ, तत्पूर्ववर्ती दार्शनिक विचारधारा के सूत्र विद्यमान हैं, वहीं दूसरी ओर, उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नवीन उद्भावनाएँ भी हमें देखने को मिलती हैं; जिसके परिणामस्वरूप भारतीय दर्शनों का विकास हुआ और अनेक दार्शनिक सिद्धान्त स्थापित हुआ।

देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर समाज के श्रेष्ठ एवं कुशल व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की जाती रही है। जिसके परिणामस्वरूप भारत में अनेक दार्शनिक मतों एवं सिद्धान्तों की स्थापना हुई। भारतीय दर्शनों के मूल-बीज यदि संहिताओं में विद्यमान हैं; तो इसका प्रौढ़ प्रवाह उपनिषद् से प्रारम्भ होता है। उपनिषद् समस्त भारतीय-दर्शनों की गंगोत्री है। भोगवादी चार्वाक दर्शन तथा निरीश्वरवादी दर्शनों–जैन एवं बौद्ध दर्शनों–के बीज भी उपनिषदों में अवतीर्ण हैं। चार्वाक का देहान्तवाद उपनिषदों में वर्णित पूर्वपक्ष का ही सिद्धान्त रूप है। जैन-दर्शन में वर्णित अहिंसा का सिद्धान्त तथा बौद्ध दर्शन में विवेचित विज्ञानवाद तथा शून्यवाद रूप सिद्धान्त का आधार औपनिषद् का आत्मवाद कहा जा सकता है।

बौद्ध-दर्शन के चार प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय हैं–

(1) माध्यमिक (शून्यवाद), (2) योगाचार (विज्ञानवाद), (3) सौत्रान्तिक और (4) वैभाषिक।

माध्यमिक (शून्यवाद) के संस्थापक नागार्जुन हैं। इनका समय दूसरी शताब्दी है। माध्यमिककारिका (शास्त्र) इनका प्रमुख ग्रन्थ है। इसके अनुसार संसार असत् या शून्य है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सभी स्वप्न के समान भ्रम हैं। फिर भी शून्य का अभिप्राय ऐसा सत् है जो चतुष्कोटि (सत्, असत्, सदसत् तथा

असन्नासत्) से विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है।[1] यहाँ स्मरणीय है कि शंकराचार्य ने अनुभयात्मक को छोड़कर सभी को स्वीकार कर ब्रह्म की शक्ति माया को कोटित्रयशून्य कहा है[2], जिसके कारण कुछ दार्शनिकों एवं विचारकों ने उन्हे. "प्रच्छन्न बौद्ध" की भी संज्ञा दी।

योगाचार (विज्ञानवाद) दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, असंग आदि आचार्यों की छत्रच्छाया में फलता-फूलता रहा है। इस मत के अनुसार बाह्य अर्थ तो शून्य है, किन्तु चित्त जो सभी वस्तुओं का ज्ञाता है, वह कभी भी असत् नहीं हो सकता अन्यथा हमारा ज्ञान भी असत् हो जायेगा। इनके अनुसार एकमात्र विज्ञान या शुद्ध चौतन्य ही सत् है।

सौत्रान्तिक का सम्बन्ध सूत्र-पिटक से है। इस मत के अनुसार मानसिक एवं बाह्य दोनों पदार्थ सत् हैं; यद्यपि बाह्य पदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है। उनके ज्ञान के लिए विषय, चित्त, इन्द्रियाँ तथा सहायक तत्त्वों (जैसे प्रकाश, आकार) इन चार वस्तुओं की अपेक्षा होती है। इनके परस्पर मिलने से मन में उत्पन्न होने वाले विषय का विचार (Idea) या अनुकृति (Copy) प्राप्त होती है। इस प्रकार बाह्य वस्तुएँ मन में रहने वाले विषय के विचारों (Idea) के प्रतिनिधि-मात्र हैं। मानसिक धारणाओं से मन बाह्य-पदार्थों का अनुमान कर लेता है। इस मत के अनुयायी केवल वर्तमान-काल की सत्ता को मानते हैं।

वैभाषिक बाह्य वस्तुओं को अनुमेय न मानकर उसे पूर्णतया प्रत्यक्ष-गम्य मानते हैं; क्योंकि जब तक उनका प्रत्यक्ष न हो तब तक उसकी सत्ता किसी दूसरे साधन से सिद्ध नहीं हो सकती। इनके मतानुयायी सभी कालों की सत्ता मानने के कारण 'सर्वास्तिवादी' कहलाते हैं। "विभाषा" इनका प्रमुख ग्रन्थ है। इसलिए इसे 'वैभाषिक' नाम से जाना जाता है।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद-दर्शन का आधार उपनिषद् है। उपनिषदों में जिस वेदान्त सम्मत अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा हुई है, उसी को आधार बनाकर शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का महान प्रासाद निर्मित किया। यद्यपि अद्वैत-विषयक विचार संस्कृत वाङ्मय में यत्र-तत्र अवतीर्ण दिखाई देते हैं, तथापि इसे सैद्धान्तिक दृष्टि से सुव्यवस्थित रूप आचार्य शंकर ने प्रदान किया। दर्शन के क्षेत्र में इनका अद्वैतवाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अद्वैतवाद के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत् है, बाकी सम्पूर्ण जागतिक प्रपञ्च मिथ्या है। जीव ब्रह्म का ही अंश है।[3] ब्रह्म की माया-कृत अविद्या या अज्ञान के कारण जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं हो पाता है। जब जीव की यह अविद्या या अज्ञान निवृत्त हो जाता है, तब वह ब्रह्म-भाव को प्राप्त कर लेता है। यही उसकी मुक्ति-दशा भी कही जाती है।

चिन्तन एवं विचार की दृष्टि भारत में प्राचीन-काल से ही रही है। कभी-कभी इसमें साम्यता एवं वैषम्यता दोनों दिखाई देती रही है। कभी कोई विचार-धारा किसी के लिए पूर्वपक्ष तो किसी के लिए उत्तर-पक्ष या सिद्धान्त-पक्ष के रूप में रहा है। इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में भारतीय चिन्तनधारा अनवरत अग्रसारित होती रही है। इस दृष्टि से शून्यवादी बौद्धों के सिद्धान्तों तथा शंकराचार्य के अद्वैतवादी सिद्धान्तों में प्रमुख दार्शनिक विन्दुओं में साम्यता एवं वैषम्यता दृष्टिगोचर होती है। दोनों दार्शनिकों की मौलिक पृष्ठभूमि उपनिषद्रूपिणी ही दिखाई देती है, इस कारण इन दोनों में साम्यता का होना स्वाभाविक

---

1. न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
   चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥
   माध्यमिककारिका 1.7 तथा अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मकं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव। सर्वदर्शनसंग्रहः, बौद्धदर्शनम्, 31
2. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो...। विवेकचूडामणि 109
3. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। ब्रह्मनामावलीमाला 20

है। जहाँ तक दोनों दर्शन पद्धतियों के सिद्धान्तों का प्रश्न है, बौद्ध और अद्वैत-वेदान्ती दोनों के चिन्तन की दिशा का क्रम पूर्णतया भिन्न है। अतः दोनों के दार्शनिक सिद्धान्तों में साम्य एवं वैषम्य का पाया जाना स्वाभाविक है।

इसका विवेचन आगे किया जा रहा है–

शून्यवादी एवं अद्वैतवादी दोनों ने ही परमार्थ सत्य को अद्वैत कहा है। शून्यवादियों का यह सत्य शून्य है, तो अद्वैतवादियों का ब्रह्म। शून्यवादी ने शून्य की निःस्वभावता सिद्ध करके उसी निर्गुण सत्ता की ओर संकेत किया है, जो उपनिषदों की भाषा में पूर्णतया संकेतित हुई है।[4] शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत जिस परमार्थ तत्त्व को अपर प्रत्यय, शान्त, प्रपञ्च-प्रपञ्चित, निर्विकल्प तथा अनानार्थ कहा गया है; उसी प्रकार अद्वैतवाद में भी परम तत्त्व को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षय, अचिन्त्य, एकात्म-प्रत्यय, साररूप, प्रपञ्चोपशम रूप, शान्त, शिवरूप तथा अद्वैत तत्त्व वाङ्मनसातीत कहा गया है।[5] अद्वैतवादी दर्शन में ब्रह्म एवं मुक्ति में भेद न मानकर दोनों को एक ही कहा गया है।[6] शून्यवादी दर्शन में भी शून्यता को ही निर्वाण की संज्ञा दी गई है।[7]

शून्यवाद के अनुसार व्यवहार का आश्रय लिए बिना परमार्थ की देशना नहीं की जा सकती है। अतः परमार्थ की उपलब्धि के लिए व्यवहार की भी आवश्यकता होती है।[8] अद्वैतवाद में भी शून्यवाद के समान असत्य की उत्पत्ति स्वीकार की गई है।[9] शंकराचार्य ने तो स्पष्ट रूप से लोक-व्यवहार को सत्यानृत का मिथुन कहा है।[10] यह विचार दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों में समान ही है कि परम तत्त्व की प्राप्ति हो जाने पर तत्त्ववेत्ता के लिए शून्यवादी सत्य एवं अद्वैतवादी के व्यावहारिक सत्य की सत्ताएँ शेष नहीं रह जाती है। इस प्रकार शून्यवादियों के शून्य एवं अद्वैतवादियों के परम तत्त्व-ब्रह्म सम्बन्धी विचार में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है। इसी समानता के कारण कुछ विद्वानों ने शून्यवादी बौद्ध को 'अद्वैयवादी'[11] और शून्यवाद को 'अद्वैतवाद' कहा है।[12]

शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के परमार्थ सत्य में अनेक स्थानों पर साम्य होने पर भी इन दोनों में भेद स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहाँ ब्रह्म को निश्चित रूप से 'सत्' कहा गया है, वहीं शून्यवाद के अन्तर्गत शून्य की 'अनिर्वचनीयता' अनेक प्रकार से वर्णित की गई है। शून्यवादी दर्शन में अनिर्वचनीयता से जिस सत्, असत्, सदसत्, एवं अनुभयात्मक तत्त्व[13] की ओर संकेत किया गया है, वह निश्चय ही अद्वैतवादी के 'सत्' ब्रह्म से भिन्न है। अद्वैत दर्शन में सदसद्भिन्नत्वादि लक्षण ब्रह्म के न

---

4. केनोपनिषद्, 3.11, वृहदारण्यकोपनिषद्, 2.5.19, 3.8.8, कठोपनिषद्, 1.3.15, ईशावास्योपनिषद्, 5-6-7, मुण्डकोपनिषद्, 1.6, तथा माण्डूक्योपनिषद्, 7 पर शांकरभाष्य दृष्टव्य।
5. कठोपनिषत् शांकरभाष्य, 1.2.23
6. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 3.4.52
7. शून्यतैव सर्वप्रपञ्चलक्षणत्वान्निर्वाणमुच्येत। माध्यमिककारिकावृत्ति, पृष्ट 351
8. माध्यमिकाकारिका, 24.10
9. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2.1.14
10. सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1.1.1
11. नामलिङ्गानुशासनम्, 1.14 तथा नैषधीयचरितम्, 21.87 (चण्डिकाप्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पादित, प्रथम संस्करण)।
12. अद्वैतवाद सुगतस्य हन्तिपदक्रमो यच्च जडद्विजानाम्। धर्मशर्माभ्युदय, 17.96
13. माध्यमिककारिका, 1.7

होकर माया के बताये गये हैं।[14] इसीलिए अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय न कहकर माया को ही अनिर्वचनीय कहा गया है। शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के उपर्युक्त भेद के अतिरिक्त यह अन्तर भी विचार-योग्य है कि अद्वैतवादियों ने ब्रह्मावस्था में जहाँ अलौकिक ब्रह्मानन्द का अनुभव किया है, वहाँ शून्यवादी ने मानसिक परम-सुख की चर्चा की है।

सत्ता विषयक चिन्तन–

शून्यवादी दो प्रकार के सत्य स्वीकार करते हैं। लोकसंवृति सत्य या सांवृत्तिक सत्य एवं पारमार्थिक सत्य। नागार्जुन का कथन है कि भगवान् बुद्ध ने दो प्रकार के सत्य का निरूपण किया। जो इस विभाग को नहीं जानते, वे भगवान् बुद्ध के गम्भीर दर्शन का तात्पर्य कदापि नहीं समझ सकते।[15] संवृत्ति अज्ञान है, जो आवरण और विक्षेप दोनों है। यह सत्य के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर देती है एवं उसकी अन्यथा प्रतीति कराती है।[16] संवृति सापेक्ष कारणकार्यभाव है।[17] संवृति प्रज्ञप्ति है, संकेत है, लोक-व्यवहार है।[18] संवृति बुद्धि-विकल्पों द्वारा कार्य करती है। अतः बुद्धि को ही संवृति कहा जाता है।[19] बुद्धि-विकल्प ही स्वयं अविद्या का रूप ले लेती है।[20] स्पष्ट है कि शून्यवादियों का संवृति एवं परमार्थ का विभाजन अद्वैत वेदान्त के व्यवहारिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता के विभाग के समान है। चन्द्रकीर्ति ने संवृति को लोकसंवृति और मिथ्यासंवृति में विभक्त किया है।[21] लोकसंवृति अद्वैत वेदान्त की व्यवहारिक सत्ता है तथा मिथ्या संवृति अद्वैत वेदान्त के प्रातिभासिक सत्ता के समान है। अद्वैत वेदान्त में एकमात्र ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की गई है। जगतादि प्रपञ्च व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत आता है।

संवृत्ति एवं अविद्या–

शून्यवादियों के जिस सांवृत्तिक सत्य का वर्णन ऊपर किया गया है, उसका मूल संवृत्ति है। अद्वैत वेदान्त के व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्य का मूल अविद्या या माया है। अद्वैतवादियों की ही तरह शून्यवादियों ने भी संवृत्ति को अविद्या-रूप माना है। जिस अद्वैत वेदान्त दर्शन में माया आवरण शक्ति के रूप में परम तत्त्व की आवरण-रूपिणी और विक्षेप शक्ति के रूप में जगत् की सृष्टिकर्त्री मानी गई है[22], उसी प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत भी अविद्या-रूपिणी संवृति यथार्थ परिज्ञान की आवरणकर्त्री तथा असत् पदार्थ की आरोपिका बतलाई गई है।[23] इस प्रकार शून्यवाद के संवृत्ति एवं अद्वैतवाद के अविद्या में भी समानता दिखाई देती है।

---

14. विवेकचूडामणि, 111
15. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
    लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥
    येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः।
    ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने॥ माध्यमिककारिका, 24.8-9
16. समन्ताद् आवरणं संवृतिः अज्ञानम्। माध्यमिककारिका वृत्ति, पृष्ट 492
17. परस्परसम्भवनं वा संवृतिः। वहीं
18. अथवा संवृतिः संकेतो लोकव्यवहारः। वहीं
19. बुद्धिः संवृतिरुच्यते। बोधिचर्यावतार, 9.2
20. विकल्पः स्वयमेवायमविद्यारूपतां गतः। बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृष्ट 366
21. मध्यमकावतार, 6.25
22. विकेकचूडामणि, 141, 142
23. बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृष्ट 352

जगत् विषयक विचार–

अद्वैतवादी परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण जगत् की सत्ता को व्यावहारिक रूप से सत्य मानता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके व्यावहारिक जगत् की यथार्थता का समर्थन किया गया है। यहाँ तक कि मुक्तावस्था में भी भौतिक जगत् का निराकरण नहीं किया जाता। अन्तर केवल इतना है कि मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी को जगत् और ब्रह्म में भेद की वह प्रतीति नहीं होती, जो कि आत्मबोध न होने पर होती है। परन्तु शून्यवाद दर्शन की स्थिति अद्वैत मत से भिन्न दिखाई देती है। शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के भौतिक स्वरूप का निराकरण करते हुए सर्वत्र शून्यता का ही प्रतिपादन किया गया है। जागतिक पदार्थों की स्थिति के सम्बन्ध में भी शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के विचार भिन्न-भिन्न हैं। अद्वैत वेदान्त में जहाँ जगत् के पदार्थों को उत्पत्ति-विनाशशील कहा गया है[24], वहाँ शून्यवाद जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश का विरोधी है।[25] इस प्रकार शून्यवाद अन्तर्गत जगत् के पदार्थ अनुत्पन्न एवं अनुच्छिन्न माने गये हैं। जगत् के पदार्थों के उत्पाद एवं विनाश को शून्यवादी 'प्रतीत्य' मानते हैं। इसलिए शून्यवाद को प्रतीत्यसमुत्पादवाद के नाम से भी जाना जाता है।

निर्वाण एवं मोक्ष सम्बन्धी विचार–

निर्वाण या मोक्ष जीवन की चरम साध्यावस्था का नाम है, जिसे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कहा गया है। चन्द्रकीर्ति ने इसे 'निरवशेषकल्पनाक्षयरूप' कहा है।[26] निर्वाण को शून्यता की भी संज्ञा दी गई है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार परमार्थ अवस्था में निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधकता, मुमुक्षत्व एवं मुक्तता सम्बन्धी प्रश्न नहीं उपस्थित होते[27], उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन में भी निर्वाण को अनिर्वाण कहा गया है।[28] शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के निर्वाण या मुक्ति की स्थिति में व्यावहारिक सत्तागत ज्ञान का उच्छेद हो जाता है। दोनों ही सिद्धान्तों के अनुसार निर्वाण या मुक्तिकाल में प्रपञ्चवृत्ति का विलय हो जाता है। अद्वैत- वेदान्तियों के जीवन्मुक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त की तरह शून्यवादी बौद्ध भी यह मानते हैं कि इसी जीवन में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। इसका समर्थन भगवान् बुद्ध द्वारा बलपूर्वक किया गया है।[29]

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत साधक मुक्तावस्था को प्राप्त होकर स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है और ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है। अतः मुक्तावस्था सच्चिदानन्द-स्वरूप सम्पन्न है। इसके विपरीत शून्यवाद दर्शन के अनुसार निर्वाण को न भाव रूप स्वीकार किया गया है, और न अभावरूप।[30] इसके अतिरिक्त अद्वैतवादियों ने जहाँ मुक्तावस्था में ब्रह्मानन्द रूप परमानन्द की चर्चा करते हैं, वहाँ शून्यवादी बौद्ध ने भी निर्वाण काल में परम-सुख का अनुभव स्वीकार किया है।[31] यहाँ परमसुख या आनन्द निर्विषय मन का सुख या आनन्द है। जबकि अद्वैत वेदान्त में वह आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द रूप है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत

---

24. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2.2.26
25. उदयो नास्ति न व्ययः। माध्यमिककारिका, 24
26. निरवशेषकल्पनाक्षयरूपमेव निर्वाणम्। माध्यमिककारिकावृत्ति,
27. आत्मोपनिषद्, 31
28. अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम्। माध्यमिककारिकावृत्ति, पृष्ट 540
29. अंगुत्तरनिकाय, तिकनिपात
30. न चाप्रवृत्तिमात्रं भावाभावेति परिकल्पितुं पार्य्यते, एवं न भावाभावं निर्वाणम्। माध्यमिककारिका वृत्ति, पृष्ट 197
31. निब्बानं परमं सुखं। भागन्दियसुत्तन्त-मज्झिमनिकाय, 2.3.5, धम्मपद, 15.8 तया थेरीगाथा, गाथा 467

जहाँ मोक्ष जीव का माना गया है, वहाँ शून्यवादी के अनुसार चित्त का निर्वाण स्वीकार किया गया है।[32] इस प्रकार दोनों के निर्वाण या मुक्ति में साम्य एवं वैषम्य दोनों दिखाई देता है।

यद्यपि शून्यवाद एवं अद्वैतवाद की मूल विचारभूमि में विरोध दिखाई देता है। तथापि दोनों के दार्शनिक सिद्धान्तों में उपनिषद् की विचारधारा का योग रहा है। जिसके कारण दोनों के तात्त्विक चिन्तन में हमें अधिकांशतः समानता दृष्टिगोचर होती है। दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों के मौलिक सादृश्य के कारण ही विद्वानों एवं अनेक आलोचकों ने अद्वैतवाद के प्रमुख संस्थापक शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' तक कह दिया।

अतः संक्षेपतः कहा जा सकता है कि दोनों के दार्शनिक चिन्तन में तारतम्य अवश्य रहा है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. वोधिचर्यावतारः, सं. स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, साधना प्रेस, वाराणसी, 2001
2. अद्वैत वेदान्त (इतिहास तथा सिद्धान्त), राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1998
3. भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा, राममूर्ति शर्मा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2008
4. भारतीय दर्शन, चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2013
5. सर्वदर्शनसंग्रहः, भा. उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2012
6. बौद्ध दर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शन, उपाध्याय भरत सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, 1954
7. बौद्ध-धर्मदर्शन, देव नरेन्द्र, मोतीलाल बनारसीदास, पब्लिशर्स प्राइवेट मिलिटेड, दिल्ली, 1994
8. बौद्ध दर्शन, सांकृत्यायन राहुल, किताब महल प्राइवेट मिलिटेड, इलाहाबाद, 1997

32. पदीपस्सेवनिब्बानं विमोक्खो अदुचेतसो। थेरीगाथा, गाथा 116 तथा 'बौद्ध धर्म दर्शन', आचार्य नरेन्द्रदेव, पृष्ट 5

35

Buddhist *Caryā*-System :As reflected in Atiśa Dipankara's *Caryāsaṇgraha-pradīpa*

Prof. Banamali Biswal
HoD, Vyakarana Deptt.
Rashtriya Sanskrit Sansthan
SRK Campus, Devaprayag (Uttarakhand)

Introduction :

Travellers and tourists from Indian Sub-continent and Bangladesh walked thousands of miles and even crossed the mighty Himalaya with the message of love and compassion. The best example is provided by the renowned Buddhist saint-scholar Atiśa Dipankara śrījnāna, who more than 1500 years after the Buddha, preached his teachings beyond India. About Atiśa there are many verses found in local Bānglā literature. The English renderings of some of them are as follows :

He crossed the mountain /
Covered with perilous frost
He is the Atiśa *of* Bānglā/
who lit the light of learning in Tibbat.

The details of life of this great saint Atiśa is not yet fully known. However, I will try to draw the attention of scholars towards some important facts about him. As per the facts available about him, he was a celebrated scholar, linguist and philosopher having a good knowledge of herbal medicines.

Atiśa Dipankara Śrījnāna (982-1054 CE), the Buddhist teacher, who studied and mastered all of the traditions of Buddhism in India, reintroduced Buddhism in Tibet which was almost destroyed by King Langdharma. From a very young age he showed an extra-ordinary aptitude for *Dharma* and sincerely studied under more than hundred teachers. He received, practiced, and mastered the instructions on the Hīnayāna, Mahāyāna, and Vajrayāna schools of Buddhism. Atiśa had

studied sixty-four kinds of arts including music and logic along with the teachings of Vaishnavism, Śaivism etc. In 1011 CE he went to Śrīvijaya (Sumātrā, Indonesia) and became a disciple of Dharmakīrti (or Dharmaraksita), known in Tibetan as Serlingpa (*Gser-gling-pa)*, to receive instructions on *Bodhicitta* "mind training" (Tib. *lojong*). Firstly the tradition on the instructions on *Bodhicitta* were kept very secret. In Tibet Atiśa passed it only to his main disciple Dromtonpa. Later the instructions became known in Tibet as Training the Mind (Tib. *lojong*) and were integrated and emphasised in all four Tibetan Buddhist schools.

Atiśa in his memoir written in Tibetan language mentioned about his place of birth which tallies with some other historians also. Professor Jogendra Nath Gupta recorded this village Bajrojoginī as Atiśa's birth place. During this time Bangladesh was under the Pals, when Buddhism was established on firm footing in Banga and Bihar. His parents were Kalyanaśrī and Prabhāti. He was the second son of his parents. He was known as *Candragarbha* in his childhood. He got his early lessons at Bajrashan Bihar, near Ashrafpur, Dhākā. He was ordained as at the age of nineteen by Mahāsangha nāyaka of Odantapuri Bihar, under Acārya Sheel Rakshit, who gave his name Dipankar Śrījnāna. Later, he became famous as a teacher of the Bikramśilā monastery in Magadh. During this period, Magadh was in Bangla. Atiśa, at the age of thirty one took Upasampada from Acārya Dharmarakshit of Magadh. At the age of forty three he left Bikramśilā, Bihar and went to Magadh. This Bihar was founded by the great Pal king Dharmapal at the end of Eighth Century.

Atiśa started for Tibet in 1040 A.D., on the invitation of the king of Tibet. He was the founder of KADAMPA Tradition in Tibet. Atiśa died in Tibet at the Nathang Monastery near Lhasa in 1055A.D. A number of his writings are enshrined in the volumes of Tanjur. In fact 'Atiśa' is the title given by the Tibetan king meaning 'the best', that is the best of the Dipankars. With the assistance of the Government, the sacred ashes of the saint were brought from China in 1978 to Bangladesh. The ashes are preserved at the Dharmarajika Buddhist Monastery, Dhākā and will be enshrined in the memorial for veneration.

The works of Atiśa Dipankara : Atiśa wrote, translated and edited more than two hundred books, which helped in spreading Buddhism in Tibet. He discovered several Sanskrit manuscripts in Tibet and copied them himself. He translated many books from Sanskrit to Tibetan. He also wrote several books on Buddhist scriptures, medical science and technical science in Tibetan. Dipankar wrote several books in Sanskrit, but only their Tibetan translations are extant now. Seventy nine of his compositions have been preserved in Tibetan translation in the Tenjur (bstan-sgyur).

Following are his most notable woks available : *Bodhi-patha-pradīpa, Caryā-sangraha-pradīpa, Satya-dvayāvatāra, Bodhi-sattva-mānyāvalī, Madhyamaka-ratna-pradīpa, Mahāyāna-patha-sādhanā-sangraha, Shiksā-samucchayaAbhisāmya, Prajnā-pāramitā-pindārtha-pradīpa, Ekavīra-sādhanā, Vimala-ratna-lekha.*

In fact, even today he stands as a symbol of peace, compassion, humanism, self-sacrifice, harmony and amity. He devoted his energies to the dissemination of Dhamma in different monasteries in several contexts. He played a key role in infusing wisdom and resurgence of Buddhism, laying a foundation of pure Buddhism. His preaching electrified the monks as well as the laymen with a new concept of moral purity, self-sacrifice, nobility of character, idealism, revolutionized the social, religious and cultural lives of the people. However, it is a great concern today that in spite of such huge contributions this great Buddhist saint-philosopher is almost forgotten in our country where he was born (village Vajrayoginī in Bikrampur region of Bengal, currently in Bangladesh).

Since the essence of his teachings is quite relevant even today, it is really important to study and know about his life, vision, mission, activities and the pervasiveness of his teachings etc. through his substantial contributions.

An attempt has been made in the present paper to highlight the contributions ofAtiśa Dipankara to Buddhist Caryā-system with a special reference to his *Caryāsangraha-pradīpa* (चर्यासंग्रहप्रदीप). As mentioned in the last verse of the work he composed his work Caryāsamgraha-Pradīpa while he was in Nepal. For this, the King of Nepal gave him rousing reception :

धर्मांश्च लौकिकान्पृच्छेद् निजमित्रसमीरितः।
नेपालविषये कृतवान्नतिर्मन्त्रनयेन चेद्।।[1]

Before going to the topic proper it will not be out of context to say a few words about the Nepalese Buddhism and the position of caryā-system in it.

Nepalese Buddhism : Generally Nepalese Buddhism is confirmed within the 'Newar' community, it survived. Fairly intact, preserving religious practices such as secret *Mantra, Tantra, Yoga* and ritual practices with Buddhists even maintained the language of Buddhist texts in original Buddhist Sanskrit. Similarly, the teacher-disciple-relationship is continued amongst the Buddhists without any interruption. Nepalese Buddhism

established the authenticity of the sacred places such as Bahals and Bahils, which became the places of pilgrims not only for themselves but also for other pilgrims as well as the scholars of the world.

Bahals and Bahilas tradition of Nepalese Buddhism is the community (*Sangha*) based lineage system, whereas Tibetan lineage system is different from it. Though Nepalese Buddhism (*Vajrayāna*) in Newar context, became a closed system, it is no longer accessible to anyone outside the *Vihāra* community for higher practices. Because of that, Nepalese Buddhism had not been properly spreading in the today's world with comparison to Tibetan and Chinese Buddhism. It also might have happened because Nepalese Buddhism have not been brought up with such awareness of their own 'Identity' nor it has yet been revealed their identity to the outside world by Nepalese Buddhist. Coming at the end, Nepalese Buddhist must be encouraged to give liveliness of Nepalese Buddhism must aware of rich experiences and practices of our religion and cultures along with distinctive feature. Then the scholars and pilgrims of the world ran away to *Kathmāndu* Valley in highly no boast up the motion for the flourishment of Nepalese Buddhism in the world. Nepalese Buddhism means by the Bajra-caryā Tradition. Nepalese Buddhists believe the Bajrayāna tradition, leads to the path of transformation on advance bodhisattva principles, the doctrine of great bliss and emptiness to be taught to attain the state of Buddahood.

People from other parts of the world are getting attracted to Kāthmāndu valley and it is being developed as the pilgrimage centre of *Bajra-caryā* Buddhism. There is no doubt that Lumbini is the birth-place of Lord Buddha. The followers of Nepalese Buddhism believe on five Tathāgatas: Akshobhya, Ratnasambhava, Bairocana and Amoghasiddhi. They are well known in ritual aspect of Buddhism.Some of the features are traced in this paper.

Nepalese Buddhism clearly defines hierarchies such as Vajra-caryās (as the Priest), śākyas (as the co-leader, next to the priest) and other followers. There is noneed to be a holy monk (leaving house) to go through the *paramārtha-Satya* and the enlightenment. The main characteristic features are to practice *Kriyā, Caryā, Yoga* and *Boddhisattva Caryās*. The house-hold monks are holding De Acārya Guthi, Puin Acārya Guthi, *Vihāra-Pujās* and other similar rituals annually from national to the local level councils.

Nepalese Buddhists practice *Yoga, Caryā, Kriyā, Dhyāna* within their own Vahal as being the house-hold monks as mentioned below :

a. Kriyā-Tantras are practiced as *Samskāra* on the basis of *Vasudharanama* and *Panchrakchya Dharani.*

b. Caryā Tantra is practiced with on the basis of *Mahā vairocan Tantra.*

c. Yoga Tantra is practiced with *Yogābhyāsa* on the basis of *Tattva Sangraha* and *Sarva Pariśodhana Tantra.*

d. *Yogānuttara tantra* is practiced on the basis of Chakra Sambar Tantra, Hey Bajra Tantra, Chatuspithatantra, Kālacakra-Tantra and the Namasangitta etc.

Origination of Nepalese Buddhism : So far as the evidence is concerned there are historical evidences to support origin of Nepalese Buddhism and to trace its history accurately.

Following points support historical aspects of Nepalese Buddhism :

1. As inscribed in *GokarnaAbhilekha* by the king srayenseverma "....Vajrayāna", ".......Buddhivi", ...Bhu Chaitya Bhatta......" "Grihalankal ko Bhoot" it proves that the existence of Bajrayāna in earlier Lichhavi period which is also supported by mentioning *Bajrabhairava* in Gorkhā inscription dated śaka Sambat 122.
2. The discovery made of Avalokiteśvar image of Lumbini in 1935 A.D. shows that Bajrayāna philosophy was developed during the first century A.D.
3. According to the *Rakta-Varna-Caryā* composed by Bakvajra (550 A.D.), Hevajra Tantra composed by padma Vajra (693 A.D.) and other unpublished *Caryā* manuscripts proves that Tāntrika Vajrayāna was highly developed during the first centuryA.D.
4. Balchandra Sharma mentioned that the Hevajra Tantra composed by padma Vajra was the summary of original Hevajra Tantra composed by Manju Devācārya. This period is Buddha's life.

Varayāna practices and Limitation of Tantra-Mantra : The practices of Highest *Yoga Tantra* is not permitted for everybody. It is said that

the practice of *Tantra-Mantra* by those who lack prescribed qualification is said to be extremely dangerous. Only persons who are qualified could practice it because there are so many *Tantra-s* in different levels.

Ritual feature of Nepalese Buddhism : The Nepalese Buddhists must perform prescribed ritual practices. Those practices are known as *Daśakarma*-rituals such as (1) *Garbhādhāna*, (2) *Pumsavana*, (3) *Simantonnayana*, (4) *Tat-karma*, (5) *amakarana*, (6) *Annaprāsana*, (7) *Chudākarana* (Buddhist ordination), (8) *śilapradāana*, (9) *Vratamochyana* and (10) *Pānigrahana*. These rituals are not followed by the vajrayānis of India and Tibet. So it is specifically of Nepali origin.

The Caryā tantra : *Caryā-tantra*, *Upa-tantra*, or *Ubhaya-tantra* is a *yāna* (literally "vehicle") of Esoteric Buddhism, and as such is a class of tantric literature and of praxisboth. The yāna of *caryā-tantra* or 'conduct-*tantra*' is given this name because it demonstrates a balanced emphasis on the outer ritual actions and ablutions of body and speech and the inner cultivation of intentionality and mindfulness. Hence, it is outer and inner conduct both. The *Caryā tantra* is enumerated as one of the three Outer *Tantras* in both the four-tantric-yāna's classification scheme of the Sarma, or 'New Translation Schools' and the nine *yāna*-classification of the Nyingma, or 'Ancient Translation School'.

The *Caryā* class of tantras holds the smallest number of texts of all the traditional classifications of tantric literatures. An important *tantra* in this class is the *Mahāvairocana Sutra*. The presence of Buddha Vairocana is often evident in *tantras* of this class where he is often depicted in the centre of a *mandala* with four other Buddhas of his retinue placed to the four quarters, the cardinal directions. Importantly, during the *Caryā-tantra* class and literary period, there developed the salient innovation wherein the *sādhaka* is to cultivate identification with the deity in meditative absorption.

The *Caryā tantra* or conduct-*tantra*, where conduct encompasses both outer ritual activity and inner contemplation, involves training in a vast range of deeds while entering the inner reality that presents itself in visual and audible divine representations. The notion here is that of being close to the state of a perfect divine being, a state not yet fully realized. This limited view is overcome by visualizing oneself as the deity, understanding that form to be the appearance aspect of emptiness.

Buddhist *Caryās* reflected in *Caryāsangraha-pradīpa* : The work *Caryāsangraha-pradīpa*containing twenty two verses and another *pāda* (पाद) in all, keeps record of the complete *dina-caryā* (दिनचर्या) of a Buddhist *sādhaka* (साधक) starting from early morning till the late night. Here, emphasis has been given to all such points which help in the betterment of

the *bodhisattva-caryā* (बोधिसत्त्व-चर्या). *Bhāvana* (भावन) is treated as important in all types of *Caryās*. However, *bhāvana* is not possible without purified *caryās* (शुद्धचर्याः). The present work teaches all such purified *caryās* guiding a*sādhaka* what exactly to be performed by him and what not to be performed. In fact, many other aspects of Buddhist *caryās* are well reflected in *Caryāsangraha-pradīpa*. Here I will try to briefly analyse the Buddhist *caryās* discussed in the present text.

. Being a Sanskrit writer the present author follows all the techniques like मङ्गलाचरण, अनुबन्ध-चतुष्टय (विषय, अधिकारी, सम्बन्ध, प्रयोजन) etc. apply to the composition of a Sanskrit texts. The text opens with an humble salute to लोकेश्वर (नमो लोकेश्वराय). Then in the salutary verse he bows to पुरुषोत्तम as he says (तं वन्दे पुरुषोत्तमम्).[2] His humbleness is also a point to be discussed here. He keeps himself in the frontline of मूढ-s (मदाद्यशेषमूढानाम्). For him the real पुरुषोत्तम is he, by the rays of whose speech, the heart-lotus of मूढ-s leaded by the author himself starts blossoming (मदाद्यशेषमूढानां यस्य वचनरश्मिभिः। फुल्लतामेति हृत्पद्मम्).[3] Or he wants to remember this form of पुरुषोत्तम though he has many forms.

पारमि and गुह्यमन्त्र are only the factors by taking resort to which a Buddhist becomes famous in this world (पारमिं गुह्यमन्त्रं च श्रित्वा बोधिप्रसिद्ध्यति).[4] The author wants to present the essence of these two factors as it is stated by the teacher Buddha (गुरुबुद्धोक्तितस्त्वेवं तदर्थो लिख्यते मया).[5] Here also his humbleness expressed as he wants to give all his credits to the lord Buddha.

Out of these two factors, since the first one i.e. गुह्यमन्त्र is not expressible for him he is going to write down the *caryās* of बोधिसत्त्व which are based on पारमी-नय. In the words of the learned author:

गुह्यमन्त्रोऽत्र नो वाच्यः पारमी नयचारिकाः।
बोधिसत्त्वस्य चर्यास्तु समासेन लिखाम्यहम्।।[6]

बोधिसत्त्व-संवर-s are to be adopted by raising बोधिचित्त-s (धीमतः संवरो ग्राह्यो बोधिचित्तपुरःसरः)[7]. One should hear to all the शास्त्र-s only after looking at the vast सूत्रान्त-s (आलोक्याशेषसूत्राणि शास्त्रं श्रव्यं समस्तकम्)[8]. The संवर-s are to be observed in a purified as well as non-decayable form and then the p-s are to be purified :

कायेन मनसा वाचा यथोक्तान्संवरान्त्रिभिः।
रक्षेदक्षुण्णशुद्धांश्च शीलांश्च परिशोधयेत्।।[9]

One should know the limit of his foods (भक्तमात्रां विजानीयात्)[10]. He should cover the doors of the sense-organs (इन्द्रियद्वारमावरेत्)[11]. He should

perform *yoga* by not sleeping in the first and last parts of night (रात्रेः पूर्वेऽपरे भागे न सुप्त्वा योगमाचरेत्)[12].

The *sādhaka* should fear maximum even to the minimum blaming conduct (अणुमात्रेष्ववद्येषु ह्यतिमात्रं बिभेति च)[13]. He should awaken in the last part of night by dividing it into three parts (रात्रेर्भागत्रयं कृत्वा ह्यन्त्ये भागे जागृयात्)[14].

Then he should wash his face etc. or he may not wash them (प्रक्षालयेन्मुखान्दीवाऽऽक्षालनं वापि युज्यते)[15]. But he should remember the essence of धर्म (धर्मता) while sitting in a comfortable *āsana* (सुखासनं समाश्रित्य धर्माणां धर्मतां स्मरेत्)[16].

If the causes of (p- are not possible (नमित्तैः क्षोभतोऽशक्ये)[17] then he should raise and observe all the worldly elements as माया (उत्थायाभासवस्तुषु मायावत्त्वेन सम्प्रेक्ष्य)[18] and then he should perform all the पुण्ययोग-s of seven features i.e. *pujāvidhi* (पुण्ययोगांस्तदन्तरे पूरयेच्चापि सप्ताङ्गान्)[19] and he should perform enough प्रणिधान (विपुलां प्रणिधिं चरेत्)[20] or he should think of *purva bhavya* (भावयेद् भावनां पूर्वाम्)[21].

Then at the time of dining, by doing research on *parama-sāra* through this *nihsāra* body (कालेऽथ भोजनस्य च एतन्निःसारकायेन परं सारङ्गवेषयन्)[22] one should protect his body thinking it just as a boat (कायां नौकाधिया रक्षेद्)[23].

For example, the text says that one should consume food neither to gain fat (न भुंक्तां स्थूलता कृते)[24] and nor to relish its taste also (रसासक्त्यानभुञ्जीत)[25]. The food should be equally divided into four parts (चतुर्धान्नं विभज्य च)[26] and the first part is to be offered to gods (देवेभ्यो विनिवेद्यापि)[27], then to *dharmapāla* (धर्मपलाय तत्परम्)[28] and then to all other living beings (दद्याच्च सर्वभूतेभ्यः)[29]and then the remaining one part ought to be consumed by the *sādhaka* himself (बलिं सुविपुलां दद्यात् शेषं स्वभुक्तपीततः).[30]

During that period one also should engage himself in कथातन्त्र (कथातन्त्रं तदन्तरे)[31] and अद्भुतवार्ता (कुर्याददद्भुतवार्तां च)[32] etc. Then he should walk around for sometimes (किञ्चिदुत्थाय सञ्चरेत्)[33] and then do परिक्रमा or प्रदक्षिणा of *stupa* monasteries etc. (परिक्रमेदधिष्ठानं)[34] or he should chant *mantras* or read sacred texts (जपं वा ग्रन्थवाचनम्)[35] or he should prepare the idols of Sugata Buddha (सुगतप्रतिमां कुर्यात्)[36]. He should do परिक्रमा or प्रदक्षिणा until he starts pespering and he should do enough प्रणिधान during that period (यावत्स्वेदो न जायते। कुर्यात्प्रदक्षिणां तावत् अक्षुब्धः प्रणिधिं बहुम्)[37].

Everyone should perform the ten धर्मचर्या-s briefly stated by मैत्रेय remembering मायौपम्य :

> धर्मचर्या दश प्रोक्ताः मैत्रेयेण समासतः।
> चरेदक्षिप्तचित्तेन मायौपम्यं च संस्मरन्।।[38]

If someone is rich enough he should worship the *sangha*. If one does not have wealth should arrange children's feast (*bālabhoja*). One should offer *dāna* to the orphans, because such work is treated as most meritorious for a yogi :

> यदि स्यात्पूजयेत्संघं कुर्याद् वा बालकोत्सवम्।
> अनाथेभ्यः सुदानं तु योगिने पुण्यसञ्चयम्।।[39]

When the works of the day are over, in the first part of the night, one should think for निष्प्रपञ्चधर्मता, then in the midnight he should get up early and then he should go for an auspicious sleeplike a lion's sleep with उत्थानाभाससंज्ञ.

> पूर्णेषु दिनकृत्येषु भागे च प्रथमे निशः।
> धर्मता निष्प्रपञ्चापि यथा चित्तं च योजयेत्।।
> प्राप्तायां मध्यरात्रौ च उत्थानाभाससंज्ञया।
> सिंहनिद्रा यथा तद्वच्छुभनिद्रां समाश्रयेत्।।[40]

Generally more importance should not be given to the mental as well as physical meritorious works while positioned in *Samādhi* or meditation. However, when not in *Samādhi* one should perform such works. But ofcourse it shoud not go against *lokavyavahāra*. If at all it goes against *lokavyavahāra* then importance should be given to *lokavyavahāra* only :

> प्रायो ध्यानदृढे चित्ते कायवाक्पुण्यगौणता।
> असंस्पृष्टे समाधौ वा लोककल्पप्रवृत्तये।।
> कायपुण्यं यथाशक्ति लोकचित्तेऽसम सति।
> धर्मो नायं ममैवेति सुसदाशयपूर्वकम्।
> धर्मांश्च लौकिकान् पृच्छेद् निजमित्रसमीरितः।
> नेपालविषये कृतवान्नतिर्मन्त्रनयेन चेद्।।
> एवं स्थविरकर्तव्यम्।[41]

Conclusion : As pointed out in the ending colophon of the present work i.e. *Caryāsangraha-pradīpa*, the writer Atiśa Dipankar has based his *caryā*-system in the light of Nepāles Buddhism (नेपालविषये कृतवान्नतिर्मन्त्रनयेन चेद्) whichis confirmed within the 'Newar' community. The *caryās* taught in this work are very much important so far as the Buddhist caryā-system is concerned. Inmerely twenty two verses and another quarter (*pāda*) itdiscusses the complete *dina-caryā* of a Buddhist *sādhaka* from early morning till the late night. Moreover, here stress is alsolaid on allotheraspects which are helpful in the *bodhisattva-caryā*. In fact, the work teaches all such purified *caryās* which guide a *sādhaka*that what exactly to be performed by him and what not.

References

1. Caryāsangraha-pradīpa – 22
2. *Ibid* - 1
3. *Ibid* -1
4. *Ibid* -2
5. *Ibid* -2
6. *Ibid* –3
7. *Ibid*–4
8. *Ibid* –4
9. *Ibid* –5
10. *Ibid* –6
11. *Ibid* –6
12. *Ibid* –6
13. *Ibid* –7
14. *Ibid* –7
15. *Ibid* –8
16. *Ibid* –8
17. *Ibid* –9
18. *Ibid* –9
19. *Ibid* –9
20. *Ibid* –10
21. *Ibid* –10
22. *Ibid* –10
23. *Ibid* –11
24. *Ibid* –11
25. *Ibid* –12
26. *Ibid* –12
27. *Ibid* –12
28. *Ibid* –12
29. *Ibid* –13
30. *Ibid* –13
31. *Ibid* –13
32. *Ibid* –14
33. *Ibid* –14
34. *Ibid* –14
35. *Ibid* –14
36. *Ibid* –15
37. *Ibid* –15
38. *Ibid* –16
39. *Ibid* -17
40. *Ibid* -18-19
41. *Ibid* -20-23

Books of References

1. *Systems of Buddhist Tantra*. Ithaca, New York, USA: Snow Lion Publications. ISBN 1-55939-210-X
2. Atiśa virachitah Ekadasha Granthah by S. Negi, Sarnath, Varanasi
3. Guarisco, Elio (trans.); McLeod, Ingrid (trans., editor); Jamgon Kongtrul Lodro Taye, Kon-Sprul Blo-Gros-Mtha-Yas (compiler) (2005). *The Treasury of Knowledge: Book Six, Part Four: Systems of Buddhist Tantra*. Ithaca, New York, USA: Snow Lion Publications. ISBN 1-55939-210-X, p.41
4. Chari, S. M. Srinivasa (1997). *Philosophy and theistic mysticism of theAlvars*. Motilal Banarsidass. ISBN 81-208-1342-1, p.230
5. Tsogyal, Yeshe (composed); Nyang Ral Nyima Oser (revealed); Erik Pema Kunsang (translated); Marcia Binder Schmidt (edited) (1999). *The Lotus-Born: The Life Story of Padmasambhava* (Paperback). With forward by HH Dilgo Khyentse Rinpoche. Shambhala: SouthAsia Editions, p.292
6. Rigpa Shedra (July 2009). æShitavanaÆ. Source: [1] (accessed: October 3, 2009)
7. Key: 'T' =A *Complete Catalogue of the Tibetan Buddhist Canons* (1934). Ed. H. Ui et al. Sendai: Tṇhaku University.
8. Key: ôTö =A *Complete Catalogue of the Tibetan Buddhist Canons* (1934). Ed. H. Ui et al. Sendai: Tṇhaku University.
9. Davidson, Ronald M. (2002). *Indian esoteric Buddhism: a social history of the Tantric movement*.Columbia University Press. ISBN 0-231-12619-0 (paper).
10. Guarisco, Elio (trans.); McLeod, Ingrid (trans., editor); Jamgon Kongtrul Lodro Taye, Kon-Sprul Blo-Gros-Mtha-Yas (compiler) (2005). *The Treasury of Knowledge: BookSix, Part Four: Systems of Buddhist Tantra*. Ithaca, New York, USA: Snow Lion Publications. ISBN 1-55939-210-X, p.41
11. Source:[2] (accessed: Sunday September 27, 2009)

Appendix

The Complete Original Text, चर्यासंग्रहप्रदीप as compiled in Atiśa-virachitāh Ekadasha Granthāh of S. Negi is cited below for the convenient of readers :

नमो लोकेश्वराय

मदाद्यशेषमूढानां यस्य वचनरश्मिभिः।
फुल्लतामेति यत्पद्मं तं वन्दे पुरुषोत्तमम् ।1।

पारमि गुह्यमन्त्रं च श्रित्वा बोधि प्रसिद्ध्यति।
गुरुबुद्धोक्तितस्त्वेवं तदर्थो लिख्यते मया।। 2।

गुह्यमन्त्रोऽत्र नो वाच्यः पारमीनयचारिकाः।
बोधिसत्त्वस्य चर्यास्तु समासेन लिखाम्यहम्।।3।

धीमतः संवरो ग्राह्यो बोधिचित्तपुरःसरः।
आलोक्याशेषसूत्राणि शास्त्रं श्रव्यं समस्तकम् ।4।

कायेन मनसा वाचा यथोक्तान् संवरान् त्रिभिः।
रक्षेदक्षुण्णशुद्धांश्च शीलांश्च परिशोधयेत् ।5।

भक्तमात्रां विजानीयात् इन्द्रियद्वारमावरेत्।
रात्रेः पूर्वेऽपरे भागे न सुप्त्वा योगमाचरेत् ।6।

अणुमात्रेष्ववद्येषु ह्यतिमात्रं बिभेति च।
रात्रेर्भागत्रयं कृत्वा ह्यन्त्ये भागे तु जागृयात्। 7।

प्रक्षालयेन्मुखादीन् वाऽऽक्षालनं वापि युज्यते।
सुखासनं समाश्रित्य धर्माणां धर्मतां स्मरेत् ।8।

नमित्तैः क्षोभतोऽशक्ये तूत्थायाभासवस्तुषु।
मायावत्त्वेन सम्प्रेक्ष्य पुण्ययोगांस्तदन्तरे।।9।

पूरयेच्चापि सप्ताङ्गान् विपुलां प्रणिधिं चरेत्।
भावयेद् भावनां पूर्वां कालेऽथ भोजनस्य च ।10।

एतन्निःसारकायेन परं सारं गवेषयन्।
कायां नैकाधिया रक्षेद् न भुङ्क्तां स्थूलताकृते ।11।

रसासक्त्या न भुञ्जीत चतुर्धान्नं विभज्य च।
देवेभ्यो विनिवेद्यादि धर्मपलाय तत्परम् ।12।

बलिं सुविपुलां दद्यात् शेषं स्वभुक्तपीततः।
दद्याच्च सर्वभूतेभ्यः कथातन्त्रं तदन्तरे।।13।

कुर्यादद्भुतवार्तां च किञ्चिदुत्थाय सञ्चरेत्।
परिक्रमेदधिष्ठानं जपं वा ग्रन्थवाचनम्।।14।

सुगतप्रतिमां कुर्यात् यावत् स्वेदो न जायते।
कुर्यात् प्रदक्षिणां तावत् अक्षुब्धः प्रणिधिं बहुम्।।15।

धर्मचर्या दशप्रोक्ताः मैत्रेयेण समासतः।
चरेदक्षिप्तचित्तेन मायौपम्यं च संस्मरन् ।16।

यदि स्यात् पूजयेत् सङ्घं कुर्याद् वा बालकोत्सवम्।
अनाथेभ्यः सुदानं तु योगिने पुण्यसञ्चयः। 17।

पूर्णेषु दिनकृत्येषु भागे च प्रथमे निशः।
धर्मता निष्प्रपञ्चापि यथा चित्तं च योजयेत्। 18।

प्राप्तायां मध्यरात्रौ च उत्थानाभाससंज्ञया।
सिंहनिद्रा यथा तद्वत् शुभनिद्रां समाश्रयेत् ।19।

प्रायो ध्यानदृढे चित्ते कायवाक्पुण्यगौणता।
असंस्पृष्टे समाधौ वा लोककल्पप्रवृत्तये।।20।

कायपुण्यं यथाशक्ति लोकचित्तेऽसमे सति।
धर्मो नायं ममैवेति सुसदाशयपूर्वकम् ।21।

धर्मांश्च लौकिकान् पृच्छेद् निजमित्रसमीरितः।
नेपालविषये कृतवान् रतिर्मन्त्रनये न चेद् ।22।

एवं स्थविर कर्तव्यम्। 23, अ।

चर्यासंग्रहप्रदीपो महापण्डिताचार्य-दीपङ्कर-श्रीज्ञानकृतः समाप्तः। तेनैव च भारतीयोपाध्यायपण्डित-दीपङ्कर-श्रीज्ञानेन लोकचक्षुपा भिक्षुणा जयशीलेन (छुल्खिमस्र्यल्वेन) चानूदितः सम्पादितश्च।

36

Lotsawa Rinchen Zangpo : A Reflection upon the New Translation of Buddhist Sanskrit texts in Tibetan Buddhism from the Life of the Great Translator

Mr. Neema Tashi
Research Scholar
Central Institute of Buddhist Studies,
(Deemed to be University)
Leh-Ladakh

Abstract

The Great Indian teacher Atisha Dipankara from Vikramshila University thus asked his attendants, after meeting the great translator, "Why do I have to be in Tibet when they have Rinchen Zangpo?"

Today, the Buddha dharma in Tibet which has since then propagated and enhanced under extreme scrutiny of scholars and translators is truly the gift of Buddhist Sanskrit language. Many brave hearts even sacrificed their life for learning the Sanskrit and Tibetan language, so that they could translate the Buddha dharma as precisely as possible. Under the guidance of Nalanda, Vikramshila, Odantauri Masters, the Tibetans learnt the art of translations putting every possible effort to make the translations as accurate as they could. Like the reflection of the moon in a clear and stable water.The philosophies of Cittamatrata or Madhyamika Schools of Buddhist Philosophy, upon the root foundation of which the four Tibetan schools of Buddha dharma which is Nyingma, Kagyud, Sakya and Gelug has thus formed. But if there would have been the lack of proper well versed translators who perfected both Sanskrit and Tibetan Language. Then, it would have been nearly next to impossible to understand, preserve propagate and help the sentient beings at such an extensive level.As the Buddha dharma in Tibet is categorised on the basis of time and translations known as the Old/Early translation era and new translation era. Lotsawa Rinchen Zangpo along with the great Indian Master of Vikramshila

is credited with the revival of Buddha dharma in Tibet. Atisha was a great teacher and Lotsawa was a great translator who translated Sanskrit texts majorly related to tantra making him the first translator of new translations era. Soon his translations became the bed rock upon which the three major schools known as Kagyud, Sakya and Gelug schools were founded.

Therefore, the objective of the research paper would be to sort out the necessity of new translation of the Sanskrit texts through the struggling life of lotsawa as a student in Kashmir. Subjects that he learnt and teachers under whom he perfected Sanskrit language and the style that he adopted to translate the Buddhist Sanskrit texts would be studied. Secondly, how the new translation schools adopted the Rinchen Zangpo translated texts and the reasons behind the acceptance of Lotsawa tsanslation by Nyingma School or old translation school would also be studied and presented.

Research Paper

After my passing into peace,
A monk with a bird like face will appear,
And he will propagate my doctrine.

Thus, it was foretold by the Buddha about a charismatic scholar with an affluent charisma in language of the nobles known as Sanskrit and Tibetan. That he would lead the key unlocking the sagacious door of the Buddha Dharma in the land of snow.

The great Lochen or the Lotsawa[1] was born in the year 958 C.E in the valley Rad-ni of Kyungwang district in the western region of the Tibet known as mnga ris in that period. His respected father was Ben Chenpo Zhonu Wangchuk and mother was Chogro Zha Kun zang Shesrab Ten. Just like when a highly blooming wholesome karmic executer blooms into the world, an aura of wonderful wonder of miracles revolves around like an immeasurable fragrance which disseminates the place before its arrival. Similarly, before the great translator and scholar was born the fragrance of wonder scented all around his birthplace, signifying a highly charismatic noble to be born bringing forth the dew of valour and peace all around.

For instance; a peacock descended over the right shoulder, cuckoo over the left shoulder and a parrot over the top of her head. When they enquired, they came to understand that the peacock signified that the boy would be handsome, the cuckoo's pleasing sound signified that the boy would be preaching religious discourses, and the parrot signified that the boy would be proficient in Sanskrit and Tibetan languages. It is said that, when he was born, the baby boy had bird eyes, and sanskrit syllables were written over his palm...

At the age of thirteen he became a novice under the abbotship of Legpa Zangpo and recieved the name Rinchen Zangpo. The abbot also gave his fundamental religious teachings.At the age of 18 when he tried to read an Indian book, he realised the depth of his ignorance. Thus he reflected within and said to himself that "inside this book there must contain deeper learnings beyond my understanding. Later when he took a nap under the shade of tree, in a dream appeared a woman with red complexion adorned with divine attire and thus she said:

Whoever wants bliss and salvation,
goes to the northern lands of Kashmir,
and obtain joy in translating into Tibetan,
the ocean of Buddhist scripture.

By the permission of his parents Lotsawa Rinchen Zangpo along with others after a tiring journey of three months through Kullu, Kinnaur and Lahaul reached Kashmir. Some of the great name of Teachers under whom Lotsawa Rinchen Zangpo studied:

Sraddhakaravarman (bram-ze bde-byed go-cha): the first brahmin who became one of his teachers.

Pandit[2] Gunamitra: under his instructions he learned five branches of study[3] and in course of 7 months he became skilled in translation and grammar.

Dharmasanta: with whom he studied and translated the Vajradhatu liturgy together with the description of the divine circle and abode.

Pandit Sradhakarvarman: under his instructions, he studied cohesive rites relating to Yoga tantra.

Buddhashila : various other teachings

Soon after he went to search Naropa, the great yogi and on his way back he met another learned

Pandita Kamala Gupta: he obtained all the instructions he held concerning the dakini doctrine and practice. In such way he spent over 7 years in Kashmir to eastern India.

He asked teachings of many scholars and pandits such as Jnanamitra, Jnanasri, and Silendrabodhi and created numerous translations from Vinaya, Abhidharma, the Pratimoksha, the 300 verses, twenty thousand verses, eighteen thousand verses and eight thousand verses of the Perfection of Wisdom sutra. He perfected the study of medicine and translated many important texts and had eight distinguished students of medicines. Due to this development, in Tibet, an age of renaissance in the field of medicine began to flourish. In Kashmir, he translated so many doctrinal works, that he had to leave many of them with Pandita Sraddhakavarma due to transportation problem. It is said that the great Lotsawa studied under 75 teachers from India and Tibet.

Lotsawa rinchen Zangpo was given an estate in Purang[4], starting from there Lotsawa Rinchen Zangpo built 108 temples with in the province of Ngari[5]. This includes monasteries of Ladakh, Lahaul, Spiti and Kinnaur . For the building purpose he invited over 32 wood carvers and sculptors .After few years, King Lha Lama Yeshes Od requested Lotsawa ,to bring back the translations and holy scriptures from Kashmir, Rinchen Zangpo gladly agreed and left to Kashmir with 15 intelligent Tibetan students.

After that he met the king of Thodling[6] and there he devoted his life training further translators and translating scriptures.When atisha dipankara visited the Ngari region of Tibet in 1042 C.E, the great translator met him and after acquantation he remarked , if such a learned person like you live in Tibet, there is no need for me to come here.At the age of 85, Atisha arrived in Tibet. Atisha also assisted Rinchen Sangpo in his endeavour of rendering sacred Sanskrit texts into Tibetan faithfully. Lochen Rinchen Sangpo also invited him to his own monastery. Here, when he had listened toAtisha expound the Madhyamaka philosophy, particularly the Sambara-Abhisheka, as well as other sacred matters and Dharma teachings, holy thoughts sprang up in theAbbot's mind as well as a wide comprehension of the teachings; therefore he offered everything he had toAtisha. On being asked byAtisha to accompany him as his interpreter, theAbbot pointed to his head and beggedAtisha to allow him to engage in religious practice as he had grown old and grey.Atisha, in response to his plea, exhorted him: 'O Rinchen Sangpo! Since you righteously wish to practice religion, let not your mind wander into evil.' Rinchen Sangpo, keeping these teachings in mind, sealed his meditation house with iron nails, writing on the lintel of the door: 'If any mundane thoughts occur in this place, may the protectors of the Dharma cut off my head!' He sat in contemplation for ten years and the mandala of Sambara manifested itself before him.Generally, the great scholars blessing or hand marks were greater than anyone.At the age of 98, the great translator entered parinirvana.

The Nyingma School of Tibetan Buddhism in relation to the translations of Lotsawa Rinchen Zangpo:

Based upon the translations of the Rinchen Zangpo and preachings of the great Indian MasterAtisha Dipankara, further led to the foundation of 3 schools of Tibetan Buddhism after 11th century C.E which are:

Kagyud School of Tibetan Buddhism
Sakya School of Tibetan Buddhism
Gelug School of Tibetan Buddhism

But as the Nyingma school was already founded in 8th century C.E, the question arises that what led them to accept the translations of Rinchen Zangpo.

To this question, the very answer is found that during that period, still there was the need of clear translations of some concepts of Buddha dharma and treatises of Nalanda University 17 Major Panditas. For instance the Pramanavartika ofAcharya Dharmakirti of Nalanda University needed a clear translation and explaination. The great translator Rinchen Zangpo and his disciples not only translated the Pramanavartika (the Logic science) but also explained them by writing commentaries on it.

Similarly within the Karchag of sDe-dGe bKa-gyur of Nyingma School (Guide to the Nyingma edition of translated sutras and tantras)[7] one can see such an enormous Buddhist Sanskrit scriptures names which was translated by Lotsawa Rinchen Zangpo.

Translated and Revised works of Lotsawa Rinchen Zangpo found in Kagyur and Tangyur (Nyingma Edition)[899] The list of translation was mainly extracted by Mr.Tsepag Rigzin of the Library of Tibetan works andArchives in 1984.

Endnotes

1. Lotsawa in Sanskrit means Lokacaksu meaning the eye of the universe
2. Pandita in Tibetan refers to an expert in education field.
3. Five branches of study is the study of medicine, logic, literature, arts and Buddha dharma.
4. Purang is a valley under Guge kingdom of Western Tibet
5. Ngari is the Tibetan
6. Thodling was the former capital town of Guge Kingdom of Western Tibet
8. Kagyur and Tangyur are the Tibetan Collection of Buddhist texts translated from Indian Language. Kagyur comprise 108 volumes and Tengyur comprises 225 volumes.

Bibliography:

Tibetan Primary Scriptures:

1) a'jegs-sten mig-gyur lo-chen Rinchen bZang-po 'I rNam-mThar gSol-'debs, bLo-bZang dPal-ldan rGya-mtso

2) Lo-chen Rinchen bZangpo rNamthar sNyan-sNgags Pundarika pHrengwa

Secondary Sources:

1) Bod du rig-gNas dar tsul mdor-bsdus bshadpa, dMugay Samstan, Sherig Parkhang Publisher, Tibtan Cultural and Religious Publication Center, Delhi.

2) Deb ther dmar-po, Lobsang Thinley, Peking,1981

3) bKa-gDams gsar-ma

'I chos

'byung kyi mdzes-rgyan, Panchen Sonam Dakpa, Laxmi Printing works, New Delhi 1977

4) A guide to the Buddhist Monasteries and Royal Castles of Ladakh, Thupstan Paldan, Kapila Power Press, Nagarjunakond, Karnatka,1976

5) The BlueAnnals, Roerich,George, Motilal Banarsidass, Varanasi

Texts :

1) Arya mahaparinirvana nama mahayana sutra
2) Arya nairatmyapariprccha nama mahayana sutra
3) Abhiniskramana sutra
4) Manjusrijnanasattvasya parmartha nama samgiti
5) tantraraja Srilaghu samvara nama
6) Abhidhana uttaratantra nama
7) Sarvatathagata kayavakcittarahasya guhyasamaja nama mahakalparaja
8) Uttaratantra
9) Sandhi Vyakarana nama tantra
10) Mayajala mayatantraraja nama
11) Sri Chandraguhyatilaka nama mahatantra raja
12) Sarvatathagata tattvasamgraha nama mahayana sutra
13) Sarvarahasya nama tantraraja
14) trailokyavijaya mahakalparaja
15) Sri paramadya nama mahayana kalpa raja
16) Arya vajrapani nilambaradhara trilokavinaya nama tantra
17) visesastava nama tika
18) sarvajna mahesvara stotra nama
19) Devatisaya stotra tika
20) kayatraya stotra nama vivrana
21) Desanastava vrtti
22) desana stava
23) Buddhabhiseka nama stotra
24) Pancatathagata stava
25) Saptatathagatha stotra
26) Sri Cakrasamvara panjika suramanojna nama
27) Sri bhagvad abhisamaya nama
28) Sri cakrasamvara sadhna nama
29) Bhagavacchri cakrasamvara mandala vidhi
30) Sri Heruka sadhna nama
31) Herukavisuddhi
32) SriCakrasamvara Sadhana
33) Sri BhagvadAbhisamaya nama
34) Sri Cakrasamvaravistara prabandha

35) Vajrayogini stotra
36) Sri catuh pitha yogatantra sadhana
37) Tattvopadesa
38) tattvopadesa vritti
39) Sri sarvabuddha samayoga tantra panjika nama
40) sarvabuddha samayoga panjika
41) Mrtyuvancanopadesa
42) Pradipoddyotana nama tika
43) sadanagayoga nama tika
44) Vajrajapatika
45) Jnanavajrasamuccaya tantradbhava saptalamkara vimocana
46) Pindikrta sadhana
47) Sri guhyasamaja mahayoga tantropadakrama sadhana sutra melapaka nama
48) Sri guhyasamaja mandalavidhi nama
49) Pancakarma
50) Caryamelapaka pradipa
51) Svadhisthanakrama prabhedha
52) Abhibodhikramopadesa
53) Samasanavidhi
54) Amrtakundali sadhana
55) Mahavajradhara pathakramopadesa amrta guhya
56) Homavidhi
57) Sri guhyasamaja mandala devakaya stotra nama
58) Sraddhapralapa nama stava
59) Sri guhyasamaja tantra vivarana
60) Samantabhadra sadhana vrtti
61) Sri guhyasamaja mandalaviddhi nama
62) Samantabhadhra samanta vrtti
63) Sri Samantabhadra sadhna vrtti
64) Sri guhyasamaja mandalavidhi tika
65) Sri guhyasamayabhisamaya nama sadhana
66) Mandalavidhi
67) Priyasadhana nama
68) Sri aksobhyavajra sadhana
69) Suvisodhana sadhana
70) Sri guhyasamaja lokesvara sadhana
71) arya avalokiteshvara sadhana
72) Sri guhyasamaja stotra
73) Abhiseka prakarana
74) Sri guhyasamaja panjika
75) Yamarisadhana

76) Devi Prabhadharadhisthana
77) Prabhadara Sadhana
78) Jnanasiddhi nama sadhana
79) Pancadasapatti
80) Angaparadhasapataka
81) Vajrayanasthulapatti
82) Kosalalamakara tattva samgraha tika
83) Vajradhatu mahamandala sarvadeva vyavasthana nama
84) Samksipta mandalasutra nama
85) Samksipta mandalasutra nama vrtii
86) Sarvatathagata tattvasamgraha mahayanabhisamaya tantratattvaolokakari nama vyakhya
87) Sri paramadi vivarana
88) Sri paramadi tika
89) mayajala mahatantraraja tika vyakhya
90) mayajala tantraraja panjika
91) vajradhatu mahamandala vidhi sarvavajrodaya sutra
92) Sri trailokyavijaya mandalavidhir aryatattvasamgraha tantroddhrta
93) Sri paramadi mandala vidhi nama
94) pratishavidhi (three different with the same title)
95) Karunodaya nama bhavana japaviddhi
96) Homavidhi
97) Namasamhiti vrtti
98) Arya manjusri namasamgiti tika
99) Gaganamalassuparisuddha dharmadhntu jnanagarbha nama
100) Sri sarvatahasya nibandharahasaya pradipa nama
101) Sri sarvadurgati parisodhana pertahaomavidhi
102) Sarvadurgati parisodhana marahomavidhi karmakrama
103) Sarvadurgati parisodhana mandalavidhi nama
104) Sarvakarmavarana visodhana mandalavidhi
105) Mahavairocanabhisambodhi sambaddha pujavidhi
106) Vajravidarani nama dharani vrtti
107) Arya manjugosha stotra
108) Arya sahasrabhujavolokitesvara sadhana
109) Bhattarakaryaikadasamiukavolikesvara sadhana
110) Vajrapani sadhana
111) Arya sitatapatraparajita balividhi nama
112) Sthricakra bhavana
113) Arapacana sadhana
114) Nagesvarajasadhana
115) Maricidevi sadhana
116) Nayatrayapradipa

117) tattvasiddhi nama prakarana
118) tattvavatarakhya sakalasugatavaksmksipta vyakhya prakarana
119) mantranayaloka
120) tattvasara samgraha
121) Yoganuttara tantrathavratara samgraha nama
122) gurupancasika
123) Madhyamabhagatraya vidhi
124) Jalabalividhi nama
125) Mahamudrayogavatara pindartha
126) Naga balividhhi
127) Arya astasahasrika prajnaparamiita vyakhya abhisamayalam-karalokanama
128) Abhisamayalamkara nama prajnaparamitopaesa sastra vrtti duravabodhaloka nama tika
129) Bhagvati Prajnaparamita navasloka pindartha
130) Bhagvati Prajnaparamita navasloka pindartha trika
131) Hastavala nama parakarana
132) Hastvala nama prakarana=
133) Samvriti bodhiciitta bhavanopadesa verna samgraha
134) Pramartha bodhicitta bhavanakramavarna samgraha
135) Paramitayana bhavanakramopadesa
136) Dhyanasaddharma vyavasthana
137) Dhyanasaddharama vyavasthana
138) Bodhisattvacarya samgraha pradipa ratnamala nama
139) trisarana gamana saptati
140) Yogavatara
141) Yogavataropadesa
142) Pratimoksa bhasya asampramusitasmaranammtrelekha
143) Suvarnavarnavandana
144) Kunalavandana
145) Abhisamaya hrdya
146) Saptaguna parivadana katha
147) Silaparikatha
148) Sambaraparikatha
149) Catuviparyaya parihara katha
150) Supatha nirdesa patikatha
151) Pancakama gunopalambha nirdesa
152) Astanga hrdaya samhita nama
153) Padmaarthacandrika prabhasa nama astnnbga hrdaya vivti
154) Vimalaprasnottara ratnamala nama
155) Canakya nitisastra
156) Salihotriyasva ayurveda samhita nama

157) Bhagavacchri cakrasamvara madala vidhi
158) Balipujavidhi
159) Sri mahamarajnana nama
160) Bhagavac cakrasamvara stotra dandaka nama
161) Vajrayogini sadhana
162) Kurukullopadesa
163) Pindikrama sadhana
164) Mrtyu vancana pindartha
165) Mrtyu Vancanopadesa
166) Mahayaksasenapati nilambaradhara vajrapani sadhana nama
167) Vajradhara vajapani karma sadhana nama
168) Vajravidarani mandalavidhi nama
169) Karmakara stotra
170) Yamari Sadhana
171) Dhupayoga ratnamala nama
172) Mukhagama
173) Pancatathagata stotra
174) Balipujavidhi

Journals:

1) The Tibet Journal, Vol.9, No 3, Library of Tibetan Works andArchives, 1984

37

A Study on Korean Buddhism

Mr. Ritesh Kumar
MA (Korean Language Centre of Korean Studies)
School of Language, Literature and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University, New Delhi
e-mail Id – rit.kr.7@gmail.com

Abstract

I am student of master learning Korean language and my dissertation topic is on 'Korean vegetarianism'.According to my research most of the vegetation found in Korea are Buddhist monk. My curiosities to know about Korean Buddhist have increased.And I went through many book and journal to know more about them. In this paper I will deal with influence of Buddhism in Korea as well as role of Sanskrit language to spread Buddhism in Korea. I have tried to show the Situation of Buddhism from three kingdom period till present time. I will also deal with few scholars who have visited India and china to study Buddhism and Sanskrit literature. My main focus will be on Hyecho and Kyomik, who is said to be famous Buddhist scholar of their time in Korea. This paper also deals with how Indian Buddhist monks were influenced to study Buddhism and Sanskrit literature in India, china or in their own country Korea. This paper also deals with Buddhist influence as well as their downfall in past and present. Buddhism entered in Korean in 372 in Koguryo and Buddhism was accepted by Backje king when Indian monk visited Backje with Indian Buddhist texts. Buddhist monk Kyomik traveled to India to study Sanskrit and Buddhism and returned to Korea with Indian monk in 529. After few year Buddhism was accepted by common people of Shilla kingdom and many king chose to become monk and parted from their families. In 1392, when Neo-Confucianism enter into Goryeo dynasty downfall of Buddhist started. They were not allowed to enter into capital city. Few centuries later in 1910, Buddhist got recognition, when Japanese colonized Korean peninsula. Head of temple were selected by Japanese.After liberation Korean Buddhist get into their own problems. Korean people started diverting toward Christianity.At present time monk can be only seen in temples. But Korean still practice their rituals according to Buddhist style.

Introduction

'Buddha' is the core word from where the word "Buddhism" was born. If we look at the past, 2500 years ago, at an early age Siddhartha got enlightenment under the Bodhi tree and was came to known as 'Buddha'. The teachings of Buddha were not only limited to religious sphere but also taught about the ways to live one's life. He started teaching the path of enlightenment from his own experience. Teachings of Buddhism is very wide, but the basic concept of Buddhism is the four novel truths and the novel eightfold path. He also gave five precepts. Buddha teaches us that problem is within us, we have to look into it and solve our problems.' Karma' says that your actions will reflect back to you.

Three Kingdom Period

The Siddam script of Sanskrit have mentioned about the Buddhist text that were taken to china from India with the help of silk route. Many materials in Chinese Buddhist canon have Siddham characters. Buddhist text went to Korean from china and many Chinese Buddhist Canon were translated. There are evidences of the visit of Indian scholars to Korea since first century.

Buddhism entered Korea through china in 372, when Chinese Former Qin send Buddhist scriptures with monk Sundo. The scriptures which Sundo brought with him was texts from early Mahayana corpus. By that time many important text were translated in Chinese.At that time Korean peninsula was divided into three kingdoms - Koguryo, Baekje and Shilla. Buddhism arrived first in koguryo kingdom under king Sosurim (371-383). Before Buddhism, Korea was following Shamanism. When Buddhism entered Korea, the Koreans accepted Buddhism with shamanism. We can see that in this way Korean Buddhism was different from the Buddhist philosophy of other countries.

In 384, the Indian monk Marananta arrived in Backje and spread Buddhism with the help of the royal families. KingAsin accepted Buddhism and asked people to believe in Buddhism happily. Backje monk Kyomik traveled to India via southern sea route and reached great Vinayauy temple in Sanghana in central India. He studied Sanskrit for 5 years and specialized in Vinaya pitaka. In 529, he return Korea with Indian monk Vedatta who carried five recensions of Vinaya in Sanskrit as well asAbhidharma materials. Both were welcomed by king song and stayed at Heungryunsa Temple. He collected 28 monks of Backje kingdom and translated 72 fascicles of text. Disciples of Kyomik tamuk and Hyerin wrote 36 fascicles of new Vinaya. There translation is known as Bidam sinyul. Kyomik is said to be the founder of Vinaya School in Korea. Backje kingdom spread Buddhism in japan. Backje king send Buddhist image and texts to Japanese empire with Buddhist monk in 552.

In Shilla period common people started adopting Buddhism with few exceptions who took it as a religious restrictions. From 5A.D to 7A.D, Buddhism became national religion of Shilla period. Shilla is well known for martyrdom of Ich'adon who was a court official of Shilla Kingdom. When he told king, Pophung that he became Buddhist, then king ordered to behead him. When his head was chopped, milk poured instead of blood. Painting of martyr Ich'adon can be seen on the wall of Hainsa temple. King Chinhung encouraged Buddhism in his kingdom. Special training institution Hwarangdo, where open to trend young men of the kingdom, who was physically and spiritually trained according to Buddhist principle. Many prince of Shilla kingdom left their wife and son to become Buddhist monk and serve common people. During Shilla period many kings started adopting Buddhist name, even names of many places were changed which were famous at the time of Buddha. It is believed that number of monks visited India at the time of Shilla period. Uishin, founder of Popchusa temple also visited India. In 7th century many monk visited India to study Buddhism and Sanskrit literature. Shilla monk chullyun (Aryavarman) and Hyeop also travelled to India. While returning to Korea, Chullyun died in Nalanda with several copy of Buddhist text (Sutras and Sastras), which was written on palm leaves. Hyonga monk from Shilla came to India with two disciples Hyongak and Hyeryan. He studied at several monasteries like Mahaboddhi Vihar in Gaya and Nalanda. During Shilla

period several Indian monks visited Korea. In 576, Vimal reached Korea. In 826AD, Indian monk Hwangmyon who was the founder of p'yoch'ungsa temple set the stone laying foundation to preserve the Buddhist relics which he had brought with him. Shilla conquered the whole Korean peninsula with the power of Buddhist philosophy. Korean Buddhist unified peninsula by using "One Mind" policy. TheAvalamsaka Sutra was studied at this time, and people worshipedAmitabh (The Buddha of light). Several school also emerged at the end of unified Shilla.

Hyecho

Hyecho was a scholar from Shilla period, his Sanskrit name was Prajnavikram.At the age of 16, He went to study esoteric Buddhism in china and became disciple of famous Indian monk Subhakarasimna. He started his journey to India in 723, and Hyecho's travelogue was known as "Memory of the Pilgrims to The five kingdom of India". He departed from south china and traveled to southern sea route to India. He reached Bihar and several holy place such as Sarnath , kusinagar , Rajagoha , Bodhgaya and Varanasi. He also visited several part of India and went back to china via silk route. In China he worked under vajrabodhi. Mahayana- yogavajra – prakrtisagara- manjusri-sahasrabahu -sahasrapatra -mahatantraraja sutra was studied by Hyecho for seven years. In 741 this sutra was inaugurated by vajrabodhih and Hyecho

was assistant translator of this sutra as vajrabodhi's last wish was to send original Sanskrit manuscript of the sutra back to India. Last part of this sutra was guided byAmoghavaja. UnfortunatelyAmoghavaja also died before completing translation of this sutra. Hyecho reached Wu-t'ai Mountain with incomplete translation. In 780 he copied Chines text of this sutra. During his life time he was associated with tantric Buddhist in China subhakarasimha was first Indian monk introduce tantric Buddhism in China. Hyecho was inspired by him to travel India and gained better knowledge of Buddhism.Although Hyecho work was not completed but he achieved an acceptable literally standard.At present the text of Hyecho and his memory of a pilgrims to the five kingdom of India is available only in fragmentary form. The fragment was recovered from Tum-Huang by Paul Pelliot in 1908.

Goryeo Dynasty

After unified Shilla, Goryeo dynasty continued Buddhism as a national religion.At that time Confucianism was introduced in Goryeo dynasty but didn't get recognition. The Buddhist Sanskrit work, Mahadharma kosa,was published in Korean in 10700 fasicules, another edition of it was published in 1236.The Tripithak Korean, Which is written on 81000 wooden printing blocks in Hancha during 13th Century , it can be seen in Haeinsa temple in Korea, Here Tripithak means 3 canon in Sanskrit language. Tripithak Korean contained travel logs. Sanskrit, Chinese dictionaries and biographies of monks and nuns.As compare to Indian Tripithak, The Korean Tripithak contains larger number of materials. It was created over 16 years during Goryeo kingdom and was included in UNESCO in 2007.

Choson Dynasty

In1392, Buddhism lost its glory with the decline of Goryeo dynasty. Choson dynasty adopted Neo Confucianism.At that time Buddhist were suppressed by Choson king, and were not allowed to enter the capital city. Constructions of temples were completely banned and they were forced to live in mountain. But it is said that Siddham dharani was on the wall of audience hall of king Sejong inventor of Hangul script. Later it was removed on demand of confucianists. Siddham script.It is also said that Hangul script of Korean was adopted from Sanskrit that is Siddham script.Choson king was looking for a place in order to make new capital for ruling the kingdom centrally.And they choose Hanyang and changed its name to Seoul. It is said that, this word Seoul came from an Indian place Sravasti, a place dear to Buddha. Sravasti become Sarobol in Chinese and Seoul in Korean.

Japanese Colonial Rule

In 1910 Japanese colonized Korean peninsula which led Choson dynasty come to an end, and resulted to the decline of Neo-Confucianism. Japanese

supported Buddhism, and once again Buddhist monk started getting prevailages. Japanese Buddhist imposed their own rule on Korean Buddhist and this resulted to new changes in Korean Buddhist. Head of temples were selected by Japanese. According to Japanese Buddhism, monk were allowed to marry. Many Korean Buddhist started living married life and at that time Korean Buddhist were divided in the basis of married and celibate. Jogye order was said to be largest order of the Korean Buddhist and Taego order is second largest order of Korean Buddhist.

Post Japanese Colonial Rule

After liberation in 1945 when US military started governing their government discriminated the Korean Buddhist and tried to impose their own religion that was Christianity. US military government abolished national holidays that was there at the time of Japanese colonial period and imposed holiday according to Christianity. US military government gave favor to Christianity. US military government gave grate favor to Christianity in Korean administration posts. Although Christianity population was 3% in Korea but administration post holder's percentage was 54%.

Fist fight between Jogye order Buddhist and Taego order Buddhist started. Jogye order Buddhist claimed themselves as a pure Buddhist. This fight between Buddhists led Korean people listen more to Christian missionaries and thus Christianity gradually became stronger.

Dongguk University

Department of Buddhist studies since the department setup in the humanities college 1986, it has lead the bay in researching Buddhism and boosting Buddhist culture. In the Buddhist studies were traditional are new trends coexist, we nurture talent who will lead the present and help improve to the future. The aim of Buddhist study is to provide students with necessary standards to heighten awareness and judge the fundamental value of universe, the world, Nature and human being and to suggest the way to practice them.

Korean Sanskrit Shiksh Sansthan associated with Indian culture centre, Seoul, organized Sanskrit sloka recital. ICC shows their effort to promote Sanskrit in Korea. According to Ven. Jeongwoo, former head monk of Tongdo-sa Temple and chief of military ordinaries of Jogyo order, the similarities between Sanskrit and Korean language was a proof of the long and deep linguistic bond between two countries.

At present time monk can be only seen in temple. But Korean still practice their rituals according to Buddhist style.

Refrences

1. Buswell Robert E., Tracing Back the Radiance: Chinul's Korean Way of Zen, 1991.

2. Ch'oe Chun-sik, Buddhism: Religion in Korea, 2007.

3. Go Yuseop, A., Study of Korean Pagodas: Joseon tappa ui yeon'gu, 2017.

4. Han-sung Yang, et al, The Hye Ch'o Diary: Memoir of the Pilgrimage to the Five Regions of India, 1984.

5. Jeong su il, The Silk Road Encyclopedia, 2016.

6. Banerji Sures Chandra, A., Companion to Sanskrit Literature: Spanning a Period of Over Three Thousand, 1971.

7. Tayalv Skand R., India and the Republic of Korea: Engaged Democracies, 2014.

8. Young-Key Kim-Renaud, The KoreanAlphabet: Its History and Structure, 1997.

Internet sources

1. http://www.buddhismtoday.com/english/world/country/027-korea.htm, 28/01/2018.

2. http://www.ktimes.com/www/news/nation/2016/09/116142218.htm, 27/01/2018.

3. https://www.indembassy.or.kr/press_detail.php?nid=184.htm, 27/01/2018.

4. https://web.dongguk.ac.kr/english/main/sub_3_1.jsp, 25/01/2018.

38

HISTORICAL OVERVIEW OF THE SPREAD OF BUDDHISM IN MONGOLIA

Prof. Ulziit Luvsanjav
Guest Faculty, CKS, SLL&CS
Ph.D. Scholar, CIAS, SIS, JNU
Executive Director,
University of Language and Civilization of Mongolia

During the Toba Empire, Buddhism was adopted as the state religion. Historically, Buddhism has introduced to Mongolia over 2000 years ago. At ancient times, Indian panditas came to the territory of the Mongols for spreading the Buddha-Dharma.

Gabju Zava Damdin, a famous Mongolian scholar, who was the first member of Institute of Sutras and Documents of Mongolia, recorded in his history book "Buddhism was introduced to Mongolia at the time of Khunnu [Xiongnu] Empire [known as the first state of the Mongols]" Some other sources claim that Buddhist monasteries and temples were built on the territory of the Mongols at the time of the Xianbei State which came to power afterwards.

The Toba Empire came to power after the Xianbei State. During the Toba Empire, Buddhism was adopted as the state religion. King Toba Guicarried out a decree to establish stupas on his territory. He even established an [Buddhist] administrative meeting and assigned a famous monk as the head for this meeting. When the Tobas expanded their territory by invading the Wei Dynasty [an ancient Chinese state], obvious influences reflected in their spiritual life from the Buddhist traditions of Sogdiana, Khotan and Kushan [the ancient India] empires.

At the time of Emperor Toba Huan, a famous monk arrived in Pinchen City from India to meet the emperor. There is a record stating "At the time of Emperor Xuan Di (499-515), two monks from the Toba Wei Empire were assigned to bring Buddhism from Sogdiana and other empires" It is clear that the Mongols paid significant attention to the spread of Buddhism. Even though the archaeological findings (carved, cast, painted images of the Buddha from the Toba Wei Empire) have some influence of the Chinese corals Art, the most

of these findings have strong reflection of the ancient Indian style which was reflected in the Buddhist Art of Kushan [India], Khotan and Sogdiana empires. The gold-gilded bronze image of Maitreya from the time of the Toba Wei Empire has a reflection of the Gandhara style. Also, various Buddhist images discovered in the Dunhuang Mountain belong to the time of the Toba Wei Empire.

Buddhism spread at the time of the Jujan Empire. According to some historical sources, the emperor of the Jujan Empire assigned Dharmapriya (a highly knowledgeable Buddhist monk who mastered in the five minor and the five major subject of Buddhism as the state tutor and granted him, 3000 subject families. During this time, knowledgeable monks journeying through the territory of the Jujan Empire disseminated Buddhist manuscripts. For example, Faxian, a Chinese monk, collected the Buddha's tooth, Buddhist manuscripts and a golden image of the Buddha on his journey to the Khotan Empire through the territory of the Jujan Empire. In the year of 511, Xuan Zang, a Chinese Buddhist monk, sent by the emperor of the Jujan Empire presented a Buddha image made of corals to the emperor of the Toba Empire. Narondryashas, a famous monk of Udyana [India] came to the Jujan Empire together with his five assistants around the year of 550.

The manuscript "Shebya Rabsel" written by Phagpa Lama at the request Chingim, a son ot Kubilai Khaanwas block-printed. This sutra was written in the Square Script, the official script of the Yuan Dyansty, obviously attracts interests of Tibetologists and Mongolists. Because Mongolians used all the Buddhist terms that were used in the Uighurjin Mongol Scritp when they translated Buddhist manuscripts from the Tibetan Language.

At the time of the Turkic period, in the year 572, King Toba established Buddhist temples and brought sacred manuscripts from China for performing religious ceremonies. Jinagupta of Gandhara on his journey from China to India arrived in the Turkic Khaganate and King Tabahosted him in great respect. During his stay in the Turkic Khaganate, with his 11 friends from the TsiDynasty, he started translating Buddhist manuscripts.

The three most sacred objects worshipped by Tsakhar Ligden Khaanwere Golden Mahakala, Kangyur of Nine Jewels and Khasbuu [State] Stamp of Chinggis Khaan.

At the time of Ligden Khaan, Mongolian scholars completed translating entire Kangyur and Tengyur manuscripts.

In the year of 746, Boguchir of Uyghur origin invited soktaks or upper Mongolian knowledgeable monks Mongolia from Li Dynastyand enabled uyghurs, olots and Mongolians to study the Buddha-Dharma, and to translate into their respective languages, to build temples, circumambulate sacred sites, to make offerings to the altars and to get ordained as monks. Thus, he

extensively contributed to the spread of Buddhism. He also established Erdene Zuu [Ratna Jowo] Monastery which currently located in Khar Khorin Soum of Uvurkhangai Province and Province his queen built Bii-bulag Zuu located in current Khutag-Undur Soum of Bulgan Province.

In the Vill century, Xuan Zang, famous Chinese traveller, recorded that while crossing the Gobi Desert of Mongolia to reach the Silk Road, he saw many Buddhist temples built on the territory of the Mongols and many monks doing pujas and studying the Indian Language as well as chanting in that language. Also, there is a record stating that between the VI and VII centuries, an Indian pantida, Narendaryasha, and a teacher at the school of Magada Ruin, Baragawara Midara, came to the land of the Mongols. The ancient Indian culture spread through its religion; Buddhism. Based on these records, we can say that our ancestors were learning the Buddha-Dharma from Indian, Sogdiana and Uyghur pantidasat ancient times.

There is archeological evidence to prove the earliest spread of Buddhism to Mongolia. For example, a Buddha statue found in the tomb of a Uyghur nobleman is directly related to the time of the Uyghur Empire. Even today there is a remaining of an ancient related to the time of Khidan Empire (IX-XI) in Tsgaan-Ovoo Soum of Dornod Province.

Since the XII century, Mongolian emperors invited the Tibetan masters and assigned them as imperialond state tutors for illuminating the arts [commoners] with the Budaha-Dharma. Chinggis Khaan [Genghis Khan] freed Buddhist monasteries from various taxes. Uguudei Khaan [Ogedei Khan] established a Buddhist monastery in the centre of the capital city of the Mongolian Empire. Guyug Khan, Godun Khaan, Munkh Khaan [Mongke Khan] and Khubilai Khaan [Kublai Khan] greatly spread the Buddha-Dharma at their times. Andat the times of Khaisan Khuleg Khaan and Buyan Khaan, Buddhist manuscripts such as "Pancha Ragsha Sutra", "Saddharmapundarika Sutra" and "Arya Manzushri Nama Samgiti" and "Bodhicaryavatara" were translated into the Mongolian Language and Kangyur was written in gold. Thus, all the khaans from Chinggis Khaan to Togoontumur Khaan were relying on Dharma teachers.

Particularly, the monasteries, statues and stupas built during the Yuan Dynasty are countless. The manuscript "Shebya Rabsel "written by Phagpa Lama at the request Chingim, a son of Khubilai Khaan was block-printed. This sutra was written in the Square Script, the official script of the Yuan Dynasty, obviously attracts interests of Tibetologists and Mongolists. Because Mongolians used all the Buddhist terms that were used in the Uighurjin Mongol Script when they translated Buddhist manuscripts from the Tibetan Language, The Grand White Stupa built in the capital city of the Yuan Dynasty by the decree of Khubilai Khaan is a historical site which provides with valuable information

of the Yuan Dynasty even today. The three most sacred objects worshipped by Tsakhar Ligden Khaan were Golden Mahakala, Kangyur of Nine Jewels and Khasbuu [State] Stamp of Chinggis Khaan. At the time of Ligden Khaan, Mongolian scholars completed translating entire Kangyur and Tengyur manuscripts.

THE CENTRE OF MONGOLIAN BUDDHISM

In accordance with the Buddha's prophecy, "My Dharma will flourish from the north further to the north," Buddhist came to Mongolia from India, its country of origin, more than 2,000 years ago and its free fold speared has been recorded invert Mongolian Buddhist history. Since it's first to spread. Buddhist came to this day on through a series of declines revivals. in the 16th century, the Buddhist Nalanda Tradition, particularly the Gelukpa Tradition, developed in it's complete and genuine from throughout the Mongol territories among the upper and lower social classes and became the most dominant religion accepted by all the commoners by the 20th century Ikh Khuree [the capital] was built on the model of the Nalanda University. It was recognized as the main and most important religious centre in Mongolia, which provided the entire country with scholastic resources regarding all the fields of the five minor Buddhist sciences, science of poetics, science of synonymy, science of prosody, science drama and science of astrology, and the five major Buddhist sciences; science of the fine art, science of the medicine, science of the linguistics, science of the philosophy and the inner science. It did through the twelve traditional monastic colleges [dratsangs] and thirty regional sections [aimags]

However, during the communist purge, thousand of Buddhist scholars and sang has were executed and his great Buddhist heritage almost entirely disappeared due to the strong propaganda of the communist ideology, the suppression of Buddhist learning. But by the power of it virtue, Gandan Tegchenling Monastery [Gaden Thegchen Ling], known as the only functioning religious centre under the strict supervision of the communist government, was reopened as a temple of prayers in 1944. Afterwards, it became a place where highly educated monks would gradually assemble, and greatly valuable collections of sacred scriptures and Buddhist articles would be preserved.

After 1945, some khurals [small prayer communities] came to Khalkha Mongolia from inner Mongolia. For example, Uzemchin and Barga khurals came to Dornod Province, Khuuchid khural to Sukhbaatar Province, Khar Airag khural to Baldan Zasag, Khoshuu khural and Mergen Van Khoshuu khural to Dornogovi Province, and Torguud khural to Bulgan Soum in Khovd Province. Consequently, the need for central administration arose, and the administrative office became officially established at Gandan Tegchenling Monastery. By the beginning of the 1960s, all countryside khurals joined Gandan

Tegchenling Monastery. Due to this process of integration, Gandan Tegochenling Monastery became the centre of Mongolian Buddhists.

The monastery was officially re-approved by the First Buddhist Congress of Mongolia held in 1992 as the centre of Mongolian Buddhists. Today, Gandan Tegchenling Monastery is a treasure house of a valuable Buddhist heritage including Buddhist knowledge, unique rituals, and artistic items. It offers religious and contemporary educations both monks and lay students within its various traditional colleges such as Tsogchen, Dashchoinpel Drantsing various (Tashi Choephel], Gungos Choil Dratsang IKunga Choeling). Yidgaa Choizining [Yiga Choezin Ling) Janraisig Dratsang [Chenrezig). Duinkhor Dratsang Ounkhor ud Dratsang ¡Gyud], Manba Dratsang [Menpa]. Badam Yoga Dratsang [Padma Youga Undur Gegeen Zanabazar Buddhist University, Institute of Buddhist Arts Buddhist Secondary School 112, Bayan Erkhet Buddhist Secondary School, and Light of Perfect loy Kindergarten Likewise, it has been involved in social and humanitarian services through Communication Office for Domestic Monasteries, "Eyes of Wisdom newspaper, Public Relations, "Melody of Conch" 97.5 FM Radio, and Compassion Children Care Centre. While working to expand its international cooperation and strengthen the world peace through Foreign Affairs Office and Asian Buddhist Conference for Peace the monastery promotes research in Buddhist studies and is active in preserving the rare Buddhist texts and making them available through the Institute of Buddhist Education and Culture and Gandan Library.

The Tuvkhan Khid and Tsagaan Sum Khiid in Uvurkhangai Province Dayan Deerkh Monastery in Khuvsgul Province, Battsagaan Sum, a Mongolian temple in Bodhi Gaya, India, and Amar Amgalan Sum in Seoul, Korea are the affiliated temples of Gandan Tegchenling Monastery, the Centre of Mongolian Buddhists.

परिशिष्टम्

39

भारतीय संस्कृति को बौद्ध देन

प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय

प्रस्तुत विषय समुद्र के समान विस्तृत है। भारतवर्ष कोई छोटा देश नहीं है। इसकी आयु कम नहीं है। इसका विस्तार विविधतापूर्ण है। यह मानव जगत का समुद्र है। जिस प्रकार समुद्र का की थाह लगाना, अवगाहन करना, इस पार से उस पार पहुंचना कठिन है, उसी प्रकार इस विषय पर विचार करना भी कठिन है लेकिन हमें एक बात का ध्यान रखना चाहिए। वह यह है कि लोग अपनी-अपनी तरह से 'संस्कृति' की पूरी व्याख्या कर लेते हैं। भारतीय संस्कृति पर शोध करने वाले आधुनिक शोधकर्त्ता क्या करते हैं? वे ऋग्वेद से लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद, धर्मसूत्र, स्मृति और अन्त में पुराण तक एक मार्ग निर्धारित कर लेते हैं। भारतीय संस्कृति पर शोध-कार्य करने हेतु उनके लिए केवल यही रास्ता है क्योंकि मनु और सभी स्मृतिकारों ने कहा है कि दुनिया में जो भी ज्ञान है, वह वेद से ही निकला है। अतः उन्होंने यह बताया कि जो संस्कृति वेदों के अनुकूल है, वही भारतीय संस्कृति है।

इस संस्कृति की व्याख्या के लिए उन्हें भाषाएं, प्रदेश और जातियों की जरूरत होती है। इन्हीं पर शोध करके ऐसे शोधकर्त्ता डिग्रियां ले जाते हैं। भारतीय संस्कृति के शोधकार्य पर यही सब कुछ हो रहा है। वैदिक भाषा में आर्यावर्त्त, ब्रह्मावर्त्त, मध्यमण्डल जो प्रदेश कहे जाते हैं, इन प्रदेशों में रहने वाली जातियों—अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की भाषा, उनका क्षेत्र ही ऐसे शोधकर्त्ताओं की दृष्टि में भारतीय संस्कृति का प्रतिष्ठान है, यही इस संस्कृति की धारा है। इसी धारा से ही उन्होंने हजारों शोध-ग्रन्थों की रचना की है। तो इसका मतलब यह हुआ कि दक्षिण, पर्वतीय प्रदेश और उसके अगल-बगल के जो प्रदेश हैं, वे उनकी निगाह में भारतीय संस्कृति के हृदय-स्थल नहीं हैं। तब हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि दक्षिण में यह संस्कृति पहुंची कैसे? इसका उत्तर यह है कि यह संस्क्रृति दक्षिण से आने वाले आचार्यों, शंकराचार्यों, बल्लभाचार्यों के जरिये दक्षिण में पहुंची। ऐसे ही द्विज जातियों और उनकी भाषा के माध्यम से इस संस्कृति का विस्तार हुआ।

लेकिन इस वैदिक संस्कृति के विस्तार का मूल या हृदय-स्थल इस देश में प्रयुक्त जनभाषा पालि और प्राकृत रही हैं। पालि या प्राकृत कोई एक भाषा नहीं है। यह तत्कालीन अनेक जन भाषाओं के योग का परिणाम है। पालि व प्राकृत मलेच्छों की भाषा मानी गयी है। अतएव इन भाषाओं में जो कुछ लिखा गया है, उसे भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाला नहीं माना गया है। लेकिन संस्कृत साहित्य अल्प है। इसका विकास ब्राह्मणों व अन्य द्विजों ने पालि व प्राकृत भाषा को सुधार कर तथा इनका संस्कृतकरण किया। संस्कृत का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है संस्कार किया हुआ, सुधारा हुआ। ब्राह्मण लोग कहते हैं कि संस्कृत शब्द का अर्थ बड़ा जटिल है। लेकिन वास्तविकता इससे बिल्कुल ही भिन्न है। इसका अर्थ बड़ा सीधा-साधा है। स्वयं शब्द ही बतलाता है कि जिसका संस्कार किया गया है, वही संस्कृत है। वैदिक

भाषा में पालि और प्राकृत को ढ़ालकर संस्कृत को एक विशिष्ठ भाषा के रूप में जन्म दिया गया और इस प्रकार आम लोगों के लिए अध्ययन का रास्ता रोक दिया गया।

संस्कृत को देववाणी या देव भाषा बताया गया है। इस भाषा में तो काव्य तक नहीं है। संस्कृत में जितने भी काव्य मिलते हैं, उनकी रचना पालि और प्राकृत की सारी शब्दावली का संस्कृतकरण करके की गई है। रामायण मूल रूप से प्राकृत में था। लेकिन बाद में इसका संस्कृत में अनुवाद किया गया। संस्कृत के काव्यों में कवियों ने पालि व प्राकृत का गुणगान किया है। बाणभट्ट अपनी 'कादम्बरी' में शुरू के बीस श्लोकों की बात करते हुए कहते हैं "मैं प्राकृत के कवियों का प्रसाद लेकर इसे बना रहा हूं।" इसका मतलब यह हुआ कि भारतीय संस्कृति को चारों ओर से काटकर अपने ढंग से बना ली गयी है। भाषा, साहित्य महाकाव्य, पुराण आदि इसी ढंग से बनाए गए हैं। वैदिक संस्कृति के द्वारा भारतीय संस्कृति को अपने अनुकूल सीमित रूप में परिभाषित किया गया है। भारतीय संस्कृति को मखौल बना दिया गया है, विशाल समुद्र को छोटा-सा द्वीप बना दिया गया है। भारतीय संस्कृति को जानने की क्या आवश्यकता है? यदि भारतीय संस्कृति की व्याख्या वेदों और पुराणों तक ही है, तो भारतीय संस्कृति में बौद्धों के लिए जगह ही नहीं है।

संस्कृति का अर्थ

संस्कृति क्या चीज है? प्राचीन ग्रन्थों में यह शब्द कहीं भी नहीं मिलता। कहा जाता है कि पाश्चात्य देशों में पिछले दो तीन शताब्दियों में सोचने की जो प्रकृति विकसित हुई है संस्कृति अर्थात कल्चर की अवधारणा इसी प्रवृति की देन है। यूरोप में दो चीजों के मिलने से जो तीसरी चीज उत्पन्न होती है, उसे कल्चर कहा जाता है। जैसे आम में किसी दूसरे पौधे की कलम लगाकर कोई तीसरा पौधा पैदा किया जाता है, इसी को कल्चर का नाम दिया गया है। फूल, पेड़ पौधे की अवस्था में दो अलग-अलग जातियों के मिलने से जो तीसरी जाति पैदा हुई उसी को कल्चर कहा गया। जब यूरोप में प्रजातंत्र आया, धर्म की पुरानी मान्यताओं का विरोध हुआ, विभिन्न जातियों में टकराव हुआ, तो इस सारे संघर्षों के परिणामस्वरूप जनजीवन में अनेक परिवर्तन हुए। इन तमाम परिवर्तनों को धर्म शब्द के अन्तर्गत सम्मिलित करने में कठिनाई महसूस हुई, तब संस्कृति या कल्चर शब्द का प्रयोग किया गया। यूरोप के प्रभाव से भारत में भी यही हुआ।

अब हमें इस वाद-विवाद में पड़ने की जरूरत नहीं है कि संस्कृति शब्द कहाँ से आया। यदि सही मायने में देखा जाए तो भारतीय सन्दर्भ में संस्कृति की अवधारणा बौद्ध धर्म की ही देन है। बौद्ध संस्कृति ही संस्कृति के स्तर पर आ सकेगी। वैदिक लोग धर्मवादी, व्यवस्थावादी थे, संस्कृतिवादी नहीं। संस्कृति, धर्म से भिन्न है। संस्कृति के अन्तर्गत विश्वास, धर्म, परम्परा, सारी चीज सम्मिलित हैं। धर्म, संस्कृति का एक छोटा सा घटक है। संस्कृति भी भारतीय सन्दर्भ में एक विचित्र चीज बन गई है। इधर पिछले पचास वर्षों में लोगों ने संस्कृति की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करने की कोशिश की है। अजीब-अजीब तरह के लोग हैं ये व्याख्या करने वाले। जैसे तिलक, गांधी, सावरकर, गोलवलकर, जवाहरलाल नहेरू, पुरुषोत्तम दास टण्डन, शंकराचार्य, करपात्री आदि ने संस्कृति की अलग-अलग व्याख्या की है। इनकी व्याख्या को वास्तव में संस्कृति कहकर पुकारना नहीं चाहिए; इन्हें धर्म कहना चाहिए। ये संस्कृति के अधिकारी नहीं हैं। लेकिन क्या किया जाए? ये लोग मजबूर हैं बेचारे। जिस चीज की ये लोग व्याख्या करना चाहते हैं, उसकी व्याख्या बिना संस्कृति शब्द का नाम लिए हो ही नहीं सकती। ये लोग वर्णाश्रम धर्म को संस्कृति की संज्ञा देते हैं जो कि सरासर गलत है। जिन मान्यताओं को ये पकड़े हुए हैं, उनको छोड़ना नहीं चाहते। इसलिए इनमें से जब भी कोई संस्कृति का कोई नाम लेकर व्याख्या न दे तो समझना चाहिए कि यह भ्रामक

है। संस्कृति, धर्म से भिन्न है लेकिन होता यह है कि धर्म हमेशा संस्कृति का गढ़ बना रहता है। इसलिए हमें संस्कृति को धर्म से अलग पहचानने के लिए उसके (संस्कृति) लक्षणों को पहचानना होगा।

संस्कृति के लक्षण

1. संग्रह करने की प्रवृत्ति–

संस्कृति का पहला लक्षण है संग्रह करने की प्रवृत्ति, संग्रहवृत्ति या संग्रहाकता। अधिक-से-अधिक चीजों का जुटाना, दूर की चीजों को भी अपने साथ लेना और उसमें आत्मीयता की भावना भर देना जिससे कि उसे यह लगने लगे कि ये सब हमारे ही हैं, यह संस्कृति का एक मुख्य लक्षण है।

2. अनुसूत रहने की प्रवृत्ति–

संस्कृति का दूसरा लक्षण है अनुसूत रहने की प्रवृत्ति, अर्थात एक सूत्र या धागे में माला के समान पिरोने की प्रवृत्ति। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति में विभिन्नताओं के बीच माला के विभिन्न गुटकों की भान्ति एक धागे में गुंथे रहने की प्रवृत्ति होती है।

3. परम्परा या इतिहास का होना–

संस्कृति बनने के लिए परम्परा या इतिहास का होना आवश्यक है। अर्थात ऐसी ऐतिहासिकता जिसमें नवीनता और प्राचीनता का सम्मिश्रण होता है। उदाहरण के तौर पर जब बाबासाहेब डॉ. आम्बेडकर ने भारत के दबे पिछड़े दलित बहुजन समाज को यह बताया कि वे लोग एक बहुत बड़ी संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं, तब उन्हें अपनी परम्परा, अपने इतिहास के रूप में अपनी सही संस्कृति का ज्ञान हुआ; नवीनता और पुरातनता का संयोग हुआ और उन्हें अपनी संस्कृति का सही दिग्दर्शन हुआ। आज बाबासाहेब के अनुयायी बौद्धों को जब नवबौद्ध शब्द से सम्बोधित किया जाता है, तब वे इसे अपना अपमान समझकर इसका विरोध क्यों करते हैं? इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है। वे अपने को अभी के बौद्ध नहीं मानते। उनका कहना है कि उनके पूर्वज बौद्ध थे। बाबासाहेब ने उनके इतिहास का पता लगाकर उन्हें बताया कि वे मूल रूप से बौद्ध हैं, उनके पूर्वज बौद्ध थे। हिन्दुओं ने उनके इतिहास को ही मिटा दिया था, भगवान् बुद्ध को भुलवा दिया था। इसलिए बाबासाहेब के प्रयत्न से जब उन्हें इस बात का ज्ञान हुआ है कि वे मूलरूप से बौद्ध हैं, तब से वे अपना सम्बन्ध अपने प्राचीन इतिहास से जोड़ने लगे हैं। वे अपने को इस प्राचीन विशाल संस्कृति के उत्तराधिकारी मानने लगे हैं और इस पर गर्व महसूस करते हैं। यही कारण है कि वे नवबौद्ध शब्द को अपना अपमान समझते हैं और उसका विरोध करते हैं।

4. संस्कृति सामान्योन्मुख होती है–

संस्कृति वह है जो सामान्य लोगों के लिए हो, विशेष लोगों के लिए नहीं। यूरोप में इसी विषय को लेकर काफी संघर्ष हुआ। कुछ का कहना था कि संस्कृति हमेशा सामान्य लोगों की होती है। उदाहरणार्थ, देहात में गीत गाने वाला गायक और दूसरा किसी संगीत विद्यालय में सीखकर गीत का अलाप करने वाला गायक, उन दोनों में संस्कृति किसमें है? इसी प्रकार इस प्रश्न को लेकर कम्युनिस्टों और पूंजीवादियों में भी बहुत झगड़ा है। कम्युनिस्टों का कहना है कि संस्कृति जनवादी होती है, संस्कृति हमेशा लोक संस्कृति होती है। हमारा उत्तर यह है कि संस्कृति सामान्य की होती है। संस्कृति अपनी विशेषता को छोड़ नहीं सकती, लेकिन यह कहना कि वह विशेषोन्मुख होती है, गलत है। यहाँ का ब्राह्मण कहता है कि सुसंस्कृत ब्राह्मणों की संस्कृति ही सही मायने में संस्कृति है, संस्कृति विशेष की होती है। लेकिन यह गलत है, संस्कृति हमेशा सामान्य की होती है, विशेष की नहीं। विशेषीकरण को सामान्य में ले जाना चाहिए और सामान्य में विशेष का भाव आना चाहिए।

अब यह प्रश्न उठता है कि किसी के पूर्वज जो भोगते आ रहे हैं, क्या वह सारी संस्कृति है? उत्तर है नहीं। हमें इस सम्बन्ध में संस्कृति और विकृति के बीच भेद करना चाहिए। ऐसा मानना गलत होगा कि हमारे पूर्वजों को इतिहास आदि से जो भी मिला है, वह सभी संस्कृति है। जब संस्कृति विकृति बन जाती है, तब उसे त्याग देना चाहिए। संस्कृति एक परिवर्तनशील प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में उसके साथ बहुत सी विकृतियां जुड़ जाती हैं। एक अच्छी संस्कृति को चाहिए कि वह दवा की भान्ति ऐसी विकृतियों को छांटकर अलग कर दे जैसे दवा; जिस प्रकार एक अच्छी दवा शरीर के विकारों को छांट कर उसे स्वस्थ बनाती है, उसी प्रकार एक संस्कृति भी विकृतियों को छांटकर राष्ट्र को स्वस्थ रखती है। जो संस्कृति ऐसा नहीं कर पाती, वह क्षीण होती चली जाती है और अपनी व्यापकता को खोने लगती है। बौद्ध संस्कृति भी इस प्रकार की विकृतियों से अछूती नहीं रही है।

एक अच्छी संस्कृति का कार्य क्या है? एक अच्छी संस्कृति का कार्य होता है दुनिया में श्रेष्ठ और हीन चीजों का निर्धारण करना। सांस्कृतिक दृष्टियों की श्रेष्ठता का मानदण्ड अलग-अलग होता है। उदाहरण के लिए, सुन्दरता, नृत्य, काव्य, संगीत आदि की श्रेष्ठता का निर्धारण मन के विभिन्न सांस्कृतिक धरातल पर किया जाता है। नमूने के तौर पर यदि किसी परदे पर इस्लाम संस्कृति से सम्बन्धित कुछ चित्रकारी की गई है, तो इसकी सुन्दरता बौद्धों की दृष्टि में श्रेष्ठ नजर नहीं आएगी। लेकिन यदि उसी परदे पर सम्राट अशोक से सम्बन्धित कोई चित्रकारी, जैसे धर्मचक्र, अशोक लाट आदि, की गई है तो वे कहेंगे कि देखो कितना सुन्दर चित्र है, कितना श्रेष्ठ चित्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु की श्रेष्ठता भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक धरातल पर भिन्न-भिन्न होगी। आइये, इसके लिए एक दूसरा उदाहरण लें। यदि किसी बौद्ध देश का कोई ऐसा व्यक्ति भारत आता है जिसे पहले से ही यह मालूम है कि बाबासाहेब डॉ. आम्बेडकर ने बौद्ध धर्म को भारत में पुनर्जीवित किया है। यदि दिल्ली में घूमते-घूमते उसे आम्बेडकर भवन अचानक मिल जाता है, तो वह भवन को देखकर उदास हो जाएगा क्योंकि उसे आम्बेडकर भवन के डिजाइन में बौद्ध कला का कहीं भी दिग्दर्शन नहीं होगा। आम्बेडकर भवन निर्माण अमेरिकी नमूने पर किया गया है। इस भवन को देखकर उस व्यक्ति की सांस्कृतिक चेतना पूरी नहीं होगी।

समस्त विश्व के बौद्धों की दृष्टि से भारत का एक विशेष स्थान है। उनकी दृष्टि में उसके (भारत के) गीत हैं, पुस्तकें हैं। वे सारिपुत्र और मोदगल्यायन का भारत देखना चाहते हैं। यदि किसी बौद्ध देश का कोई व्यक्ति भारत आए तो उसे यहाँ बहुत ही ज्यादा सांस्कृतिक घटियापन नजर आएगा। जब वह हम लोगों को कोट, पैन्ट, टाई आदि वेशभूषा में देखेगा तो वह उदास हो जाएगा, क्योंकि इन वेशभूषा में उसे बौद्ध संस्कृति की झलक देखने को नहीं मिलेगी। वह कहेगा कि यदि बौद्ध संस्कृति को देखना है तो जापान जाओ, बर्मा, श्रीलंका जाओ, थाइलैण्ड जाओ। भारत में बौद्ध संस्कृति आज केवल खंडहरों में ही सीमित है।

संस्कृति का मानदण्ड क्या है? जिसकी संस्कृति जितनी ऊंची होती है, वह उतनी ही ऊंची श्रेष्ठता की कल्पना करता है। व्यक्ति के रूप में श्रेष्ठ कौन है? इतिहास में श्रेष्ठ पुरुष कौन है? इसका निर्णय कौन करेगा? यदि जवाहरलाल नेहरू से पूछा जाता कि भारतीय इतिहास का श्रेष्ठ पुरुष कौन है, तो वे कह सकते थे कि बुद्ध श्रेष्ठ पुरुष हैं, अशोक श्रेष्ठ पुरुष हैं। और लोग यह नहीं कह पाते। वे लोग कहते हैं कि शंकाराचार्य श्रेष्ठ पुरुष हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति की धारणा श्रेष्ठता और हीनता का निर्णय करने के लिए होती है।

भारतीय संस्कृति क्या चीज है? संस्कृति के साथ भारतीयता क्या चीज है? सारे विश्व में संस्कृति है तो फिर यह भारतीयता क्या है जो उसे विश्व की अन्य संस्कृतियों से अलग करती है?

भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व

भारतीय संस्कृति का मूलभूत तत्त्व है जीवन की अन्तरंगता अर्थात् अन्तर्जगत को देखना। एक वाह्य जगत है और एक व्यक्ति है जिसके भीतर भी एक जगत है। कहते हैं कि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है। यह आध्यात्मिक शब्द बड़ा भ्रामक है। भारत में सभी लोग आध्यात्मिक शब्द का अर्थ अपने-अपने ढंग से करते हैं। भूत-प्रेत की पूजा करने वाले भूत-प्रेत को ही आध्यात्मिक कहते हैं। ईश्वरवादी, देववादी भी इसी को आध्यात्मिक कह देते हैं। कई लोग हनुमान् को आध्यात्मिक कहते हैं। ये सभी बातें भ्रामक हैं। हम सब संस्कारों से प्रभावित हैं और संस्कारों का अपना अलग-अलग इतिहास होता है। वैदिक के साथ "संस्कृति" शब्द नहीं लगना चाहिए। वैदिक धर्म कर्मकाण्डी धर्म था। उदाहरण के लिए इसकी तुलना बम्बई के कसाई घर या बूचड़खाने से की जा सकती है। एक-एक यज्ञ के साथ बम्बई के बूचड़खाना जैसे कई-कई बूचड़खाने होते थे। पुत्र पैदा करने के लिए भी यज्ञ (पुत्रेष्ठि यज्ञ) होता था। पुत्र का जन्म किसी और क्रिया से होता है, लेकिन इसके लिए यज्ञ सम्पन्न किए जाते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय बहिरंगता का जोर था। लोगों को शूद्र, मलेच्छ, अनार्य बनाकर रखना, यह सब बहिरंगता है। शराब, मैथुन भोग यही बहिरंगता है। यहाँ तक कि इसके सारे देवता भी भोगी थे। तरह-तरह के स्वर्ग बना दिए गए थे जहाँ भोग ही भोग होता था, मैथुन ही मैथुन होता था। जहाँ देखो वहाँ भोग ही भोग, मैथुन ही मैथुन। यह ऐहिकता है। इसके विरोध में भगवान् बुद्ध ने आध्यात्मिकता की स्थापना की। उन्होंने कहा कि आध्यात्मिकता मनुष्य के मन से शुरू होती है। धर्म आन्तरिक होता है, बाह्य नहीं। इस प्रकार भोगवादी संस्कृति के स्थान पर त्यागवादी, आध्यात्मिक संस्कृति की स्थापना करने का श्रेय बुद्ध को है।

इतिहास की दृष्टि से भगवान् बुद्ध की विचारधारा से मिलती-जुलती विचारधारा वाले अन्य श्रमण लोग भी थे। यह सब मिलकर श्रमण संस्कृति कहलायी। भगवान् बुद्ध इसके नेता थे। यही संस्कृति भारतीय संस्कृति की प्रधान बनी। बुद्ध ने कहा—जीवन का लक्ष्य बाहर नहीं, भीतर है; जो होता है वह बाहर के हस्तक्षेप से नहीं होता। मनुष्य प्रधान है। संसार का अच्छा-बुरा होना मनुष्य पर आधारित है। संसार को अच्छा बनाने के लिए भोगवादियों का कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि त्याग चाहिए। भौतिकता जीवन या संस्कृति का लक्ष्य नहीं हो सकती। भोग नहीं त्याग जीवन का लक्ष्य है। युद्ध धर्म नहीं हो सकता, यह विवशता है। करुणा, मैत्री धर्म का अंग है। इसके विपरीत विकृति होगी। श्रेष्ठ और सुन्दर भीतर की सुन्दरता से होगा। कर्मकाण्ड समाज की व्यवस्था थी, जाति की व्यवस्था थी। इससे लोगों के अधिकार सीमित हो गए थे। बुद्ध ने इन सबको यह कहकर तोड़ा कि यह संस्कृति का अंग नहीं है। उन्होंने कहा—मनुष्य की आन्तरिक अच्छाई मानवीय गुण है, वही श्रेष्ठ है। जो वैभवशाली है, भोगपरायण है, वह श्रेष्ठ नहीं, त्याग करने वाला श्रेष्ठ है। उन्होंने कहा—समाज में श्रेष्ठ कौन है? ब्राह्मण या भिक्खु? बुद्ध का उत्तर था कि भिक्खु श्रेष्ठ है। भिक्खु के अन्दर मानवीय गुणों का विकास होता है। इसके लिए जाति वैभव का प्रश्न नहीं है। भोगी नहीं, योगी श्रेष्ठ है। देव से मनुष्य श्रेष्ठ है। देवभोग परायण है। उसके मुकाबले मनुष्य कर्मपरायण है, इसलिए मनुष्य श्रेष्ठ है।

सारी वैदिक (भोगवादी) संस्कृति का एक ही नारा था—गो ब्राह्मण हिताय। गौ धन का प्रतीक है। गौ का तरह-तरह से उपभोग और ब्राह्मणों के मंत्रों का उपयोग—गौ और ब्राह्मण सुरक्षित रहें, यही उसका नारा था। इसके विपरीत, भगवान् बुद्ध ने बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय का नारा बुलन्द किया। उन्होंने कहा—गो ब्राह्मण हिताय नहीं, बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय। भगवान् बुद्ध का यह नारा इस देश के कुटिल, कपटी, मानवता के घोर शत्रु स्वार्थी भोगवादी ब्राह्मणवादियों को भला कैसे सहन हो सकता था। इसलिए उन्होंने इसको नष्ट करने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी। तरह-तरह के छल, कपट, प्रपंच रचकर बुद्ध को भुलवाया गया। भोगवादी संस्कृति ने इस देश पर फिर से कब्जा कर लिया। लेकिन

उसी तरह से जैसे मिट्टी का घड़ा घी को सोख लेता है, परन्तु उस घड़े को सूंघने से घी की गन्ध फिर भी आती है, ठीक उसी तरह से ब्राह्मण संस्कृति ने भगवान् बुद्ध की त्यागवादी संस्कृति पर कब्जा कर लिया लेकिन हजारों वर्ष के गुजर जाने के बावजूद ब्राह्मण संस्कृति से भगवान् बुद्ध की त्यागवादी संस्कृति की गन्ध आज भी आ रही है।

हमें सारे सिद्धों, नाथों और सन्तों की वाणी में भगवान् बुद्ध की त्यागवादी आध्यात्मिक वाणी की सुगन्ध मिलती है। हजारों सालों से नष्ट करने के बावजूद उस वाणी में आज भी आकर्षण है। यही कारण है कि आज भी लोगों को सन्तों की वाणी अच्छी लगती है। गांवों में अनेकों लोग ऐसे मिलेंगे जो व्रत नहीं रखते, तीर्थ नहीं जाते, यज्ञ नहीं करते। जब उनसे पूछा जाता है तो वे कहते हैं कि मन शुद्ध है तो सब कुछ शुद्ध है। भीतर को ठीक रखो, बाहर में क्या रखा है। नेक बनो, दूसरों की सहायता करो। यह जो कुछ हमारे जीवन में अच्छाई रह गई है, वह सब बुद्ध की वाणी है, यह सब उसी महापुरुष की देन है, जिसे हजारों तरह से विकृत करने की चेष्टा की गई। इस सम्बन्ध में एक दो बातों का स्मरण रखना आवश्यक है।

भारतवर्ष कैसे फैला? भारतीयता कैसे फैली? वैदिक धर्म कहाँ गया? कहाँ फैला? वैदिक धर्म ने इस देश को खण्डित किया। यदि बौद्ध धर्म और बुद्ध नहीं होते, तो यह देश आज एक न होता। अशोक से गुप्तकाल तक उनके देश के सब लोग बौद्ध बन गए। ब्राह्मण कहते थे कि यहाँ न जाओ अन्यथा भ्रष्ट हो जाओगे। वे आस-पास के प्रदेश की यात्रा को पाप समझते थे और कहते थे कि नदी पार करने पर नरक की प्राप्ति होती है। आज भी कर्मनासा नदी, जो बनारस के पास है, को लांघना अनिष्ट बताते हैं क्योंकि इस नदी के उस पार की भूमि बुद्ध की भूमि रही है। आज भी लोग उस नदी का पानी नहीं छूते। बाढ़ आने पर लोग नाव में इस तरह से चढ़ते हैं कि पानी से पैर न छुए। कबीर ने कहा कि यदि काशी में रहने से ही मुक्ति होती है तो वह मगध में जाकर क्यों न मरें क्योंकि वह बुद्ध की कर्म भूमि है। इसीलिए कबीर मगहर में जाकर मरे।

जब अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ तो उन्होंने चाहा कि हिन्दुस्तानी बूचड़ समुद्र पार कर यूरोप जाएं और इंग्लैण्ड देखें। लेकिन उनका कहना मानकर जो भी इंग्लैण्ड गए, वे सबके सब जाति से बहिष्कृत कर दिए गए। क्या यही संस्कृति है? इनके साथ संस्कृति शब्द को जोड़ना, संस्कृति शब्द का अपमान करना है, उसका दुरुपयोग करना है। इन लोगों ने सारे देश को नरक बना दिया। हिन्दू धर्म के साथ संस्कृति शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। संस्कृति के असली उत्तराधिकारी वे लोग हैं जिन्होंने नदी पार की, समुद्र पार किया और बुद्ध सन्देश को सारे संसार में फैलाया तथा उसे आलोकित किया। उन्होंने सांस्कृतिक विस्तार के द्वारा विभिन्न देशों के बीच भावनात्मक ऐक्य स्थापित किया। संस्कृति का लक्षण हम बौद्धों के अनुकूल और हिन्दुओं के प्रतिकूल है। जब बोधिसत्त्व बाबासाहेब डॉ. आम्बेडकर लाखों करोड़ों लोगों को इकट्ठा करके उन्हें बुद्ध की शरण में ले गए तो क्या यह भारतीय संस्कृति का काम नहीं है? निस्सन्देह ऐसा करके बाबासाहेब ने भारतीय संस्कृति का उद्धार किया है। यह महान कार्य बाबासाहेब ही कर सकते थे।

भारतीय संस्कृति के तीन प्रवाह

भक्ति, ज्ञान और कर्म, भारतीय संस्कृति के तीन प्रवाह माने जाते हैं। इनके विकास में बौद्धों ने अपना अमूल्य योगदान दिया है। इसी की प्रेरणा से बौद्धों ने बड़े-बड़े काव्य लिखे, ग्रन्थ लिखे, कथाएं लिखीं और मूर्तिकला, वास्तुकला आदि विविध कलाओं का विकास किया। भगवान् बुद्ध की मूर्ति पर जो शान्ति झलक रही है, उसमें सारी आध्यात्मिकता उडेल दी गई है। सारी आध्यात्मिकता को पत्थर पर

तराशकर उतार देना, यह कितनी आश्चर्यजनक चीज है। सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा को देखो, चाहे मथुरा की बुद्ध प्रतिमा को देखो, सबमें आध्यात्मिकता झलकती है। तिब्बत, चीन, जापान के चित्रों में किस प्रकार आध्यात्मिकता उभारी गई है। यह है भारतीय संस्कृति जिसे हमें संजोकर रखना है, दूसरों के आक्रमण से बचाना है। बाबासाहेब डॉ. आम्बेडकर के अनुयायियों का यह परम पुनीत कर्तव्य है कि वे इस महान संस्कृति को इसके उत्तराधिकारी के रूप में इस विशाल भूमि पर पुनः प्रतिष्ठित करें।

(भारतीय संस्कृति को बौद्ध देन, सं. प्रो. एन.के. केन, भारतीय बौद्ध महासभा, दिल्ली, 2006 पृ. 10 से संकलित)

40

भारतीय संस्कृति को बौद्ध-धर्म की देन

भदन्त आनन्द कोसल्यायन

सभ्यता और संस्कृति–ये दो ऐसे शब्द हैं, जो बहुत ही कम समझ में आते हैं किन्तु इनका प्रयोग अधिक से अधिक होता है। इन दोनों शब्दों के साथ बहुत अधिक विशेषण जुड़ते हैं। जैसे- प्राचीन-सभ्यता, प्राचीन-संस्कृति, भारतीय-सभ्यता, भारतीय-संस्कृति आदि। जो थोड़ा-बहुत अर्थ समझ में आया रहता है, वह भी लुप्त हो जाता है।

कल्पना कीजिए उस समय की जब आग का आविष्कार नहीं हुआ था। जब दो पत्थरों की रगड़ से या दो अरणियों (लकड़ी के छीटों) की रगड़ से पहले-पहल आग पैदा हुई होगी और उस आग पर पानी गर्म करने और चूल्हा जलाकर उसी पर दाल-भात और रोटियाँ पका सकने की बात जिस महामानव को पहली बार सूझी होगी, वह कितना बड़ा 'ऋषि' रहा होगा!

कल्पना कीजिए उस समय की जब सुई-धगे का आविष्कार नहीं हुआ था। उस समय जिस किसी ने पहली बार यह सोचा होगा कि लोहे की एक सलाई को घिसकर और उसके एक सिरे पर छेद करके सुई बनाई जा सकती है, उसके उस छेद में धगा पिरोकर कपड़ों के दो टुकड़ों को एक साथ जोड़ा जा सकता है, वह भी कितना बड़ा 'ऋषि' रहा होगा!

आज तो उस आदिम-युग से मानव ने कितनी उन्नति कर ली है। अपने पूर्वजों की अपेक्षा कितना अधिक सभ्य बन गया। 'सभ्य' तो निश्चित रूप से अधिक बन गया है किन्तु उतना ही संस्कृत है या नहीं, इसमें पूरा सन्देह है। सन्देह ही नहीं, उतना सुसंस्कृत न होने का पूरा विश्वास है। तो वह बौद्ध-धर्म की कौन-सी सूझ-बूझ है, जिसे हम भारतीय सभ्यता या भारतीय संस्कृति को उसका अनुदान कह सकें।

सत्य का एक अपना अद्भुत आकर्षण है। ऋषियों की प्रार्थना रही है, अन्धकार नहीं, हमें प्रकाश चाहिए। प्रश्न पैदा होता है हम किसे अन्धकार मानें, किसे प्रकाश? किसे तमस् मानें, किसे अमृत? किसे जीवन मानें, किसे मृत्यु? शास्त्रों का कहना है कि शास्त्र-सम्मत वचन प्रकाश है। शास्त्र-सम्मत वचन अमृत है। शास्त्र-सम्मत वचन जीवन है।

शास्त्र क्या है? उत्तर मिलता है कि आप्त पुरुषों के वचन शास्त्र हैं। शास्त्र आप्त पुरुषों के वचन ही हैं, इसका निर्णय कौन करेगा? यों भिन्न-भिन्न शास्त्रों द्वारा अनुमोदित दो भिन्न-भिन्न विरोधी-वचनों की संगति बिठाने का काम अथवा उन दोनों में से किसी एक का चुनाव करने का काम कौन करेगा? स्वानुभव अनुमोदित बुद्धि को छोड़कर यह कार्य और कौन कर सकेगा। इसीलिए कहा गया है 'बुद्ध की शरण जाओ, प्रबुद्ध की शरण जाओ अर्थात् निर्मल बुद्धि की शरण जाओ।

एक बार भगवान् बुद्ध घूमते-घूमते 'कालाम' नाम के क्षत्रियों के गाँव में जा पहुँचे। उन लोगों ने प्रश्न किया- भन्ते! हमारे गाँव में कुछ लोग आते हैं, वे अपने मत का प्रतिपादन करते हैं और दूसरों के मत का खण्डन। दूसरे दिन दूसरे लोग आते हैं, वे भी अपने मत का प्रतिपादन करते हैं तथा पूर्वागतों के मत का खण्डन। हम कैसे जानें कि किसका मत ठीक है, किसका गलत? किसका मत ग्रहण करने योग्य है, किसका त्याग देने योग्य।

तथागत ने अत्यन्त समाधानकारक उत्तर दिया, 'कालामों (क्षत्रियों)! मन में सन्देह पैदा हो तो उससे घबराने की जरूरत नहीं। सन्देह ही ज्ञान का जनक है। लेकिन किसी भी बात को केवल इसलिए सत्य नहीं स्वीकार करना चाहिए कि अधिकांश लोग उसके मानने वाले हैं, किसी भी बात को केवल इसलिए भी सत्य नहीं मानना चाहिए कि वह परम्परा से चली आई है, किसी भी बात को केवल इसलिए नहीं मानना चाहिए कि उसका प्रतिपादन करने वाला तुम्हारा आदरभाजन आचार्य है। किसी भी बात को केवल इसलिए भी सत्य नहीं मानना चाहिए कि वह तुम्हारे धर्म-ग्रन्थ, तुम्हारे पिटक में लिखी हुई है। प्रत्येक बात को अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर देखना चाहिए। यदि तुम्हारे ही दिल और दिमाग में एक घण्टी-सी बजे और तुम्हें लगे कि यह बात सही है, इसके अनुसार आचरण करने से आत्म-हित होगा, इसके अनुसार आचरण करने से परहित होगा, तो उसे सही स्वीकार करना चाहिए, उसे सत्य मानना चाहिए, उसे आचरण में लाकर आत्महित तथा परहित साधना चाहिए।'

कालाम क्षत्रियों को दिया गया यह उपदेश संसार के वाङ्मय में स्वतन्त्र चिन्तन का महानतम घोषणा-पत्र है। हमारी सम्मति में भारतीय संस्कृति को बौद्ध-धर्म की यह पहली और महान् देन है।

चाहे पुस्तकें ही क्यों न हों, पुस्तकालय में उनका वर्गीकरण करना ही पड़ता है, कभी लेखकों के हिसाब से, कभी विषयों के हिसाब से। पशुओं तक का वर्गीकरण उनकी 'जातियों' के हिसाब से होता है। तब आदमियों का भी वर्गीकरण किसी न किसी आधार पर होगा ही। ऐसा लगता है कि यूनान में कोई एक वर्गीकरण था त्रिविध। भारतीयों ने उसे वहाँ से उधार लिया। इस त्रिविध वर्गीकरण में शूद्रों का एक और वर्ग मिलाकर, उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों का चतुर्विध वर्गीकरण बना दिया। वर्ण पहले से रहे होंगे। वर्गीकरण बाद में किया गया।

इस वर्गीकरण की दो विशेषताएँ हैं। पहली यह कि प्रथम तीन वर्णों के (जो सम्मिलित रूप से द्विज कहलाते हैं) अधिकार भी हैं और कर्तव्य भी हैं। चौथे वर्ण शूद्रों का कोई भी अधिकार नहीं, न विद्या पढ़ सकने का अधिकार, न शस्त्र धारण कर सकने का अधिकार। और कर्तव्य? एकमात्र एक ही कर्तव्य और वह मन, वचन, कर्म से द्विजों की सेवा करना। इस वर्गीकरण की दूसरी विशेषता थी और है कि इसमें असमानता ही असमानता भरी पड़ी है। असमानता भी क्रमिक असमानता। ब्राह्मण सबसे ऊपर। उसके बाद क्षत्रिय। उसके बाद वैश्य। सबके नीचे शूद्र।

बौद्ध-धर्म ने जन्माश्रित विभाजन या वर्गीकरण को अस्वीकार किया। बौद्ध-धर्म ने उस चातुर्वर्णी व्यवस्था अथवा अन्यायमूलक अव्यवस्था का मूलतः विरोध किया। भगवान् बुद्ध ने कहा-'पशु-पक्षियों की जो नाना-जातियाँ हैं, उनमें प्रत्येक जाति का अपना-अपना कोई जातिगत चिह्न है। मनुष्यों की तथाकथित जातियों में से एक जाति को दूसरी से पृथक् करने वाला कोई जातिगत चिह्न नहीं। इसलिए मनुष्य-मात्र एक ही जाति है।' उन्होंने कहा–

'न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो, ...'

जन्म किसी को कुछ भी नहीं बनाता, न ब्राह्मण और न चाण्डाल।

यह मानव मात्र को एक जाति मानना और प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से शुद्ध या अशुद्ध मानना भारतीय संस्कृति को बौद्ध-धर्म की दूसरी बड़ी देन है। भगवान् बुद्ध के समकालीन तैर्थिक जो उनकी सबसे अधिक टीका या सबसे प्रखर आलोचना करते थे, तो यही कहते थे कि यह श्रमण गौतम चारों वर्णों की समान रूप से शुद्धि की घोषणा करता है। अनेक धर्मों ने आदमी को कई प्रकार की शिक्षाएँ दी हैं किन्तु एक आदमी को दूसरे आदमी के साथ कैसे बर्ताव करना चाहिए, इसकी शिक्षा कम ही दी है। यदि थोड़ी-बहुत दी भी है तो यही शिक्षा कि जैसे के साथ तैसा व्यवहार करना चाहिए, 'ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहिए', शठ के साथ शठ ही बनना चाहिए।

बौद्ध-धर्म का जातक-वाङ्मय लोगों को नीतिमान् बनाने की शिक्षा देने की दृष्टि से अनुपम है। एक कथा सुनिए-

कौशल और काशी दोनों प्राचीन जनपद थे। दोनों जनपदों में और दोनों जनपदों की राजधानियों में सभी वुफछ इतना अधिक न्याय-सम्मत था कि न्यायाधीशों को जैसे कुछ काम ही न रह गया था। स्वयं राजागण ही बहुधा न्यायाधीश भी होते थे। दोनों नरेशों ने सोचा, कोई अच्छा काम करना चाहिए। दोनों ने अपने दुर्गुणों को पता लगाकर उन्हें दूर करने का निश्चय किया। दोनों नरेशों के लिए इससे बढ़कर अच्छा दूसरा और कौन-सा काम हो सकता था।

एक कठिनाई आई। उनके निवास में, उनके मन्त्रि-मण्डल में, उनके राज-दरबारियों में कोई उनके दुर्गुण बताने वाला न था। यहाँ तक कि उनकी सारी प्रजा में भी इस विषय में कोई मुँह खोल सकने वाला न था। किसी भी राजा की प्रजा ने अपने राजा के दुर्गुण कहे ही कब हैं?

तब दोनों राजाओं ने सोचा- 'क्यों न अपने-अपने राज्यों की सीमा के परे प्रत्यन्त जनपद में विचरकर अपने-अपने दुर्गुणों का पता लगायें।' उन्होंने अपने-अपने रथ जुतवाये और अपने राज्यों की सीमा लांघ गए। एक जगह दोनों की मुठभेड़ हो गई। एक ऐसा संकरा रास्ता आया कि दोनों रथ एक-दूसरे के पास से गुजर न सकते थे। किसी एक रथ का पीछे हटना अनिवार्य था। कौशल राजा का रथ पीछे हटे तो कौशल नरेश की हेटी थी और काशी राजा का रथ पीछे हटे तो इसमें काशी नरेश की हेटी थी। मामले को अधिक उलझने से बचाने के लिए कौशल नरेश के सारथी ने काशी नरेश के सारथी से उसके राजा की आयु पूछी कि दोनों में से जिसकी आयु कम होगी, उसे ही छोटा मान लिया जायेगा और रथ पीछे हटा लिया जाएगा। दोनों की आयु समान निकली। राज्य-विस्तार, सैन्य-बल, आदि अनेक बलों की जानकारी प्राप्त कर मामला सुलझाना चाहा। सभी बलों में सोलह आने समानता।

तब सोचा दोनों राजाओं के गुणों से उनके छुटपन और बड़प्पन का निश्चय किया जाय। कौशल नरेश के सारथी के पूछने पर काशी नरेश के सारथी ने काशी-नरेश के गुण कहे-

दळहं दळहस्स खिपति मल्लिको मुदुना मुदुं
साधुम्पि साधुना जेति असाधुम्पि असाधुना
एतादिसो अयं राजा मग्गा उयाहि सारथी।

(यह राजा कठोर को कठोरता से जीतता है, कोमल को कोमलता से, भले के साथ भलाई का व्यवहार करता है, बुरे के साथ बुराई का। ऐसा है यह राजा, हे सारथी रास्ता दे दो।

कौशल नरेश के सारथी ने पूछा-

'तुमने अपने राजा के गुण कह लिये?'

'हाँ'

'यदि यही गुण होते हैं, तो अवगुण कौन-से होते हैं?'

'हैं! यह अवगुण हैं? तो तुम अपने राजा के गुण कहो।'

'हमारा राजा। लो सुनो-

अक्कोधेन जिने कोधं, असाधु साधुना जिने
जिने कदरियं दानेन, सच्चेन अलीकवादिनं
एतादिसो अयं राजा मग्गा उयाहि सारथी।'

(यह क्रोध को शान्ति से जीतता है, असाधुता को साधुता से जीतता है। कंजूस को उदारता से जीतता है। झूठे को सच्चाई से जीतता है। ऐसा है यह राजा सारथी, रास्ता दे दो।)

काशी नरेश ने यह गाथा सुनी तो वह स्वयं रथ से नीचे उतर पड़ा और रास्ता दे दिया। यह क्रोध को शान्ति से जीतने का रास्ता, यह बुराई को भलाई से जीतने का रास्ता, यह कंजूस को उदारता से जीतने का रास्ता, यह झूठे को सच्चाई से जीतने का रास्ता भारतीय संस्कृति को बौद्ध-धर्म की धर्म की देन है। सारा बौद्ध-वाङ्मय ही भारतीय संस्कृति को बौद्ध-देन है। यदि बौद्ध-धर्म का अनुदान न मिला होता तो भारतीय संस्कृति निश्चयात्मक रूप से अत्यन्त दरिद्र ठहरती।

(भारतीय संस्कृति को बौद्धधर्म की देन, सम्पा. एस.एस. गौतम, गौतम बुक सेण्टर, नई दिल्ली, 2009, पृ. 9 से संकलित)

41

कुमारजीव

- भदन्त आनन्द कोसल्यायन

हम नहीं कह सकते कि किस कारण से भारतीय इतिहास ने अपने उन सुपुत्रों की कृतियों का लेखा जोखा नहीं रखा, जिन्होंने ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में ही चीन में बौद्ध धर्म का सूत्रपात करके चीन और भारत में अटूट सम्बन्ध स्थापित कर दिया था। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व विशाल-भारत के प्रधान पुरोहित भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्खुओ को उपदेश दिया था–"हे भिक्खुओ, जाओ, संसार पर दया करने के लिए, बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, संसार में विचरो। सद्धर्म की ध्वजा फहराओ और केवल परिशुद्ध, ब्रह्मचर्य का प्रचार करो।" भगवान् की इस आज्ञा का पालन जिस लगन, जिस अदम्य उत्साह और जिस त्याग-भाव से हुआ, वह वास्तव में हमारे अभिमान की वस्तु है।

ईसा की प्रथम दो शताब्दियों में ही कुछ भारतीय विद्वानों ने चीन की अलंध्य सीमाओं को पार करके वहाँ बौद्ध धर्म की ध्वजा गाड़ दी थी। तीसरी शताब्दी में तो कई भारतीय विद्वानों ने वहाँ पहुंचकर अनेक बौद्ध ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद तक कर डाले। इसमें सन्देह नहीं कि थोड़े समय में चीनी जैसी कठिन भाषा पर अधिकार प्राप्त करना सहज कार्य नहीं। इसलिए उन विद्वानों के वे अनुवाद भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से बहुत ऊंचे नहीं कहे जा सकते, लेकिन उस समय तो उनका विशेष उद्देश्य अपने विचारों को उस भाषा में परिणत कर बौद्ध धर्म का प्रचार करना ही था। चौथी शताब्दी के कुछ ही वर्ष बीतने पर चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास में एक विल्कुल नवीन युग आरम्भ हुआ। इस युग में चीनी भाषा के बौद्ध धर्म-सम्बन्धी साहित्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की। चीन में बौद्ध धर्म की नीव दृढ़ हो गई। अनेक भारतीय विद्वान् अपने अथक परिश्रम से चीन में भारतीय संस्कृति और सभ्यता की ध्वजा फहराने में सफल हुए और इस प्रकार दो अति प्राचीन सभ्य देशों का सदैव के लिए दृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो गया। भारत की इस सत्कीर्ति का श्रेय जिन धर्म रक्ष, बुद्धभद्र, धर्मप्रिय आदि विद्वानों को है, उनमें सर्वोपरि स्थान कुमारजीव का है।

पश्चिमी और जापानी विद्वानों ने चीनी साहित्य के सम्बन्ध में जो खोज की है, उसमें कुमारजीव के जीवन पर प्रकाश डालने वाली कुछ सामग्री मिली है। काओ-सेंङ्-चोङ्-ग्रन्थ में कुमारजीव का संक्षिप्त जीवन-चरित्र मिलता है। इस ग्रन्थ की रचना 519 ईस्वी में हुई थी। "चू-साङ्-सङ्-की-सी नामक ग्रन्थ में भी यही विषय कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ मिलता है। इस दूसरे ग्रन्थ की रचना पहले ग्रन्थ से केवल एक वर्ष बाद 520 ईस्वी में हुई। दुःख की बात है कि भारतीय इतिहास इस विषय में हमारी कुछ भी सहायता नहीं करता।"

कुमारजीव के पूर्व-पुरुषों से ही उनके परिवार वालों का किसी भारतीय राजा के दरबार में कुलागत अधिकार चला आता था। उनके पिता क्यू-माऊ-पैन (=कुमार) मंत्रिपद को छोड़ बौद्ध भिक्खु बन गए। जिस समय यह कूचा *(वर्तमान चीनी-तुर्किस्तान के पूर्वी भाग पर आर्य-भाषा-भाषियों का एक उपनिवेश*

कूचा' नाम से विख्यात था।) प्रदेश में पहुंचे, तो वहाँ के राजा ने इन्हें अपना कुलगुरु बना लिया। वहाँ के राजा के यहाँ रहते-रहते राजा की बहन का इनसे प्रेम हो गया और अन्त में उसने इनसे विवाह कर लिया। राजकुमारी का नाम 'जोवा' था। उससे उनके एक लड़का पैदा हुआ। पिता और माता के नाम को मिलाकर लड़के का नाम 'कुमारजीव' रखा गया। मौशिये पिलियो ने कुमारजीव की जन्म-तिथि 344 ई. निश्चित की है।

जिस समय कुमारजीव की आयु सात वर्ष की हुई, उसी समय माता ने 'सियाओ-लि' नामक विहार में उनका प्रवेश करा दिया। वहाँ उन्होंने तमाम सूत्र कण्ठस्थ कर लिए। 9 वर्ष की आयु में कुमारजीव का कश्मीर में आगमन हुआ। यहाँ उन्होंने बन्धुदत्त नामक प्रसिद्ध आचार्य के पास रहकर **'दीर्घ-निकाय'** और **'मध्यम-निकाय'** नामक ग्रन्थ समाप्त किए। तीन वर्ष तक बाहर रहकर, जब वह अपनी माता के साथ कूची को वापिस जा रहे थे, तो मार्ग में उनकी एक अर्हत से भेंट हुई, जिन्होंने भविष्यवाणी की कि 'कुमारजीव' एक महापुरुष होगा। काशगर में रहकर कुमारजीव ने छहों पदों सहित अभिधर्म को समाप्त किया। काशगर का राजा उन्हें दरबार में ही रखना चाहता था, किन्तु कूचा के राजा ने उन्हें वहाँ रहने नहीं दिया और आग्रहपूर्वक अपने यहाँ बुला लिया।

बीस वर्ष की आयु में कुमारजीव ने नियमित रूप से संन्यास ग्रहण किया और अब वह कूचा राज्य के ही विहार में रहने लगे। यहाँ उन्होंने स्थविर विमलाक्ष से सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के विनय के 10 भाग पढ़े।

जिस समय कुमारजीव कूचा में थे, उसी समय चीन के चिन-वंशी राजा के एक सेनापति ने कूचा पर आक्रमण किया। इस सेनापति का नाम लू-काङ् था। कूचा का राजा इसका मुकाबला न कर सका और हार मान ली। लू-काङ् ने कूचा राज्य के अनेक आदमी कैद कर लिए और उनको अपने साथ चीन ले गया। इन बन्दियों में कुमारजीव भी थे। लू-काङ् ने इनका कुछ विशेष आदर-सत्कार नहीं किया। वह इन्हें कूचा के राजा की लड़की से विवाह करने के लिए मजबूर करने लगा। यह कन्या बहुत दिनों तक कुमारजीव से 'महासन्निपात' और 'वैथुल्यसूत्र' नामक ग्रन्थ पढ़ती रही।

401 ई. में कुमारजीव की आयु 56 वर्ष की हो गई थी। इसी वर्ष इनके जीवन का एक नया और महान् अध्याय आरम्भ हुआ, क्योंकि इसी वर्ष इनका प्रवेश चानगन के द्वितीय चिन-वंशीय सम्राट के दरबार में हुआ। इस चीनी सम्राट् का नाम याओ-हिन था। इसने कुमारजीव का खूब स्वागत किया और अपने साम्राज्य में बौद्ध धर्म प्रचार करने के लिए निमित्त उनसे प्रार्थना की। ई. 401 के बाद, कुमारजीव केवल 12 वर्ष और जीवित रहे। ई. 413 में उनका देहावसान हो गया, किन्तु 12 वर्षों में ही उन्होंने चीन में एक प्रकार के नवजीवन का संचार कर दिया।

महाराज याओ-हिन की प्रार्थना पर कुमारजीव ने बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद करना आरम्भ किया। हम नहीं कह सकते है उन्होंने बौद्ध धर्म-सम्बन्धी किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना भी की या नहीं। केवल उनका अनुवाद कार्य ही हमारे सम्मुख है। इस अनुवाद कार्य में उनके चीनी शिष्य भी उनके सहायक थे। अकेले इस अनुवाद कार्य से ही कुमारजीव ने चीनी साहित्य और चीन में बौद्ध धर्म प्रचार के कार्य में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। निस्सन्देह वे एक असाधारण व्यक्ति थे।

उन्होंने इतने थोड़े काल में लगभग 100 संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया। संस्कृत और चीनी भाषा में से एक भी उनकी मातृभाषा न थी, पर संस्कृत तो उन्होंने बाल-काल में पढ़नी आरम्भ कर दी थी और सम्भव है चीनी भाषा का भी कुछ ज्ञान उन्होंने कूचा में ही प्राप्त कर लिया हो, क्योंकि कूचा में चीनियों का काफी प्रभाव था, फिर भी उनका चीनी अनुवाद का ढंग कुछ ऐसा था कि उनके द्वारा अनूदित ग्रन्थ बिल्कुल

मौलिक की भान्ति प्रतीत होते हैं। उन्होंने अनुवादकों की पुरानी शैली का अनुकरण न करके, अपनी नवीन शैली निकाली, जिसका फल यह हुआ कि उनकी भाषा अत्यन्त मधुर और सुन्दर रही। चीन में ह्वेनसांग की भाषा से भी अधिक सुन्दर और रोचक कुमारजीव की भाषा मानी गई है। जापानी स्कूलों में प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि ह्वेनसांग और कुमारजीव की भाषा की तुलना करो, और बताओ कि कौन सी भाषा उत्तम है? विद्यार्थियों से यही आशा की जाती है कि वह कुमारजीव की भाषा को ही श्रेष्ठ लिखेंगे। मोशिये पिलियो ने ठीक कहा है–"यद्यपि चीनी और संस्कृत में से कोई एक भी भाषा उनकी मातृभाषा नहीं थी, तो भी चीनी बौद्ध धर्म के अनुवादकों में कुमारजीव का स्थान बहुत ऊंचा है।" अध्यापक सिलवांलेवी ने तो चीन में बौद्ध धर्म की स्थापना करने वाले अनुवादकों में कुमारजीव को ही सबसे बढ़कर माना है।

कुमारजीव ने 98 ग्रन्थों का अनुवाद किया। ये अनुवाद बेठन के हिसाब से लगभग 425 होते हैं। ई. 730 में जब चिचाङ् ने 'के-यन-लो' का संग्रह किया था, उस समय कोई 52 ग्रन्थ अथवा 302 बेठन विद्यमान थे। आधुनिक काल में परिनिर्वाण प्राप्त बोञ्जो नाञ्जो ने चीनी त्रिपिटक की जो सूची तैयार की है, उसमें उन्होंने कुमारजीव द्वारा अनुवादित 49 ग्रन्थों के नाम दिए हैं–

(1) पञ्चविंशति-साहस्रिक-प्रज्ञा-पारमिता
(2) दश-साहस्रिक-प्रज्ञा-पारमिता
(3) वज्र-छेदिका-प्रज्ञा-पारमिता
(4) प्रज्ञा-पारमिता-सूत्र
(5) प्रज्ञा-पारमिता-हृदयसूत्र
(6) पूर्ण परिपृच्छा
(7) सुमति-दारिका-परिपृच्छा
(8) ईश्वरराज बोधिसत्व-सूत्र
(9) बोधि हृदय व्यूह सूत्र
(10) दशभूमिक सूत्र
(11) महापरिनिर्वाण सूत्र
(12) सर्वपुण्य-समुच्चय समाधि सूत्र
(13) सद्धर्म-पुण्डरीक सूत्र
(14) अवलोकितेश्वर-बोधिसत्व-समन्त-सुकुल-परिवर्त
(15) विमलकीर्ति-निर्देश
(16) महाद्रुम-किन्नरराज-परिपृच्छा
(17) सर्वधर्म्म-परिवृति
(18) वसुधारा-सूत्र
(19) विशेष चिन्ता-ब्रह्म-परिपृच्छा
(20) सुखावत्यमृत-व्यूह सूत्र
(21) मैत्रेय व्याकरण
(22) मैत्रेय-बुद्धत्व-प्राप्ति सूत्र
(23) गयाशीर्ष
(24) महामयूरी विद्या-रागिनी
(25) अचिन्त्य-प्रभास-निर्देश सूत्र
(26) सुरंगम समाधि

(27) कुशल-मूल सम्परिग्रह, अथवा परिधर सूत्र
(28) सहस्र-युद्ध-निदान-सूत्र
(29) पक्षि-सूत्र
(30) समुद्राष्ट कल्पसूत्र
(31) दीपंकराव दान-सूत्र
(32) समाधि सूत्र
(33) सर्वास्तिवाद प्रातिमोक्ष
(34) महाप्रज्ञ-पारमिता-(सूत्र)-शास्त्र
(35) प्रान्य-मूल-शास्त्र टीका
(36) दशभूमि-विभाषा सूत्र
(37) सूत्रालंकार शास्त्र
(38) द्वादश-निकाय शास्त्र
(39) क्षत-शास्त्र
(40) बोधिमार्ग-विषयक शास्त्र
(41) सत्य-सिद्धि-शास्त्र
(42) ध्यानवस्थित होने का शास्त्र
(43) समाधि अवस्था के नियमों की व्याख्या
(44) समुक्तावदान-सूत्र
(45) ध्यान मार्ग के संक्षिप्त
(46) बोधिसत्व की मिथ्याचार निन्दा
(47) बोधिसत्व अश्वघोष की जीवनी
(48) बोधिसत्व नागार्जुन की जीवनी
(49) बोधिसत्व देव की जीवनी

इस सूची पर थोड़ा सा ध्यान देने से बात स्पष्ट दिखाई देती है कि कुमारजीव की दृष्टि में तान्त्रिक ग्रन्थों का कुछ विशेष महत्त्व न था। आगे चलकर तो चीन के साहित्य में तान्त्रिक ग्रन्थों की ही भरमार हो गई है। कुमारजीव का अधिक ध्यान समाधि और ध्यान विषयक साहित्य की ओर था। अनेक प्रकार की प्रज्ञा-पारमिताओं (=दर्शनों) में भी उनकी रुचि थी। चीन में ही नहीं, बल्कि तिब्बत में भी इन पुस्तकों का बड़ा प्रचार है। 'अश्वघोष का जीवन-चरित्र' और 'नागार्जुन का जीवन-चरित्र' ये दोनों ग्रन्थ बड़े महत्त्व के हैं और इनकी भाषा भी खूब मजी हुई है। उत्तरीय बौद्धों के स्वर्ग अथवा सुखावती का जो चित्र कुमारजीव ने खींचा, उसने उनके अनुयायियों को मोहित कर लिया।

कुमारजीव के गुरु विमलाक्ष का नाम ऊपर आया है। पहले यह कश्मीर में रहते थे। वहाँ से भागकर कूचा पहुंचे। कूचा में ही इन्होंने कुमारजीव को विनय के ग्रन्थ पढ़ाये। वहाँ से कुमारजीव तो चीनी सेनापति के हाथ बन्दी होकर चीन पहुंचे और ये न जाने कहाँ रहे। फिर जब चीनी सम्राट् की आज्ञानुसार कुमारजीव ने बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करके चीन में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली, उस समय (ई. 406) विमलाक्ष भी किसी तरह चीन पहुंचे और अपने पुराने शिष्य से भेंट की। शिष्य अपने गुरु की आंखों के सामने ही नश्वर शरीर को त्याग स्वर्ग सिधारा। कुमारजीव की मृत्यु के 5 वर्ष बाद विमलाक्ष ने भी दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद कर चुकने के बाद शरीर त्याग दिया।

यों तो अनुवाद के इस कार्य में कुमारजीव के अनेक सहायक थे, किन्तु उन सहायकों में बुद्धभद्र और पुण्यत्राता दो भारतीय विद्वानों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बुद्धभद्र शाक्यवंशीय थे और कुमारजीव के चीन पहुंचने के समय वहाँ पहले से मौजूद थे। इन्होंने अनुवाद के कार्य में कुमारजीव की बहुत सहायता की, और कुमारजीव की मृत्यु के बाद फाह्यान के साथ मिलकर महासान्घिक सम्प्रदाय के विनय-ग्रन्थ का अनुवाद किया। कुमारजीव के दूसरे सहयोगी पुण्यत्राता भी विमलाक्ष की तरह से कश्मीर के ही रहने वाले थे। हम नहीं कह सकते कि चीन में यह कब पहुंचे। इतना मालूम होता है कि कुमारजीव से पहले नहीं पहुंचे होंगे। आरम्भ में ही यह कुमारजीव से आकृष्ट होकर उनके साथ रहने लगे थे और सर्वास्तिवादियों के विनय के 10 भागों का अनुवाद करने में यह उनके सहायक थे।

कुमारजीव के शिष्यों में बड़ी संख्या चीनी बौद्धों की ही थी। कहा जाता है कि कम-से-कम एक हजार चीनी बौद्ध उनके शिष्य थे। प्रसिद्ध यात्री फाह्यान कुमारजीव का ही शिष्य था। जिस समय कुमारजीव बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद द्वारा चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहे थे, उस समय उनका शिष्य फाह्यान एक भक्त तीर्थयात्री की भान्ति भारतवर्ष में अपने तीर्थ-स्थानों की यात्रा कर रहा था। यहाँ से अनेक ग्रन्थ इकट्ठे करके जब फाह्यान जलमार्ग द्वारा वापस चीन पहुंचा, तो उस समय उसके गुरु कुमारजीव जीवित थे। उनकी आज्ञा से फाह्यान ने बौद्ध देशों के विवरण सहित अपनी यात्रा-वृतान्त लिखा।

देखा जाए तो कुमारजीव के ही काल में भारत और चीन का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ, क्योंकि इस युग में केवल भारतीय विद्वान् ही चीन में धर्म प्रचार के लिए नहीं गए, किन्तु अनेक चीनी विद्वान भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिए भारत आए।

वे दिन भारतीय गौरव के थे, जब हम दूसरों से ज्ञान लेने के बजाए उन्हें ज्ञान देते थे। एक-दो नहीं, लगभग सौ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अत्युत्तम अनुवाद करके विशाल भारत के इस सुपुत्र कुमारजीव ने भारतीय संस्कृति के लिए जो महान उद्योग किया, उसका हम आज स्मरण भी नहीं करते।

(बुद्ध और उनके अनुचर, भदन्त आनन्द कोसल्यायन, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 38 से संकलित)

42

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान

- भदन्त आनन्द कोसल्यायन

जिनकी तिब्बत-यात्रा के समय विक्रमशिला के सभी भिक्खुओ ने एक मत होकर कहा–"यदि अतिशा भारत से चले गए, तो उनके साथ ही भारत से बौद्धधर्म भी गया समझो।" वह अतिशा कौन थे? उनका पूरा नाम क्या था? वह तिब्बत क्यों गए और वहाँ जाकर उन्होंने क्या किया?

वज्रासन (बोधगया) के पूर्वीय भाग में विक्रममनिपुर नाम के गांव में गौड़-राजवंश में एक बालक का जन्म हुआ। उसके पिता का नाम 'कल्याण श्री' और माता का नाम 'प्रभावती' था। माता-पिता ने बालक का नाम चन्द्रगर्भ रखा, और बाल्यावस्था में ही उसे जैतारि नामक एक अवधूत साधु के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेज दिया। इस अवधूत साधु के पास रहकर चन्द्रगर्भ ने पांचों आरम्भिक विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया, जिसे ग्रहण कर वह दर्शन-शास्त्र के अध्ययन करने का अधिकारी हो गया। सयाने होने पर उसने स्थाविरवाद के तीनों 'पिटक', 'वैशेषिक दर्शनशास्त्र', 'माध्यमिक और योगाचारवाद' तथा इनके साथ चारों प्रकार के तन्त्रशास्त्र का भी ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार जब उनके विद्या-बल की ख्याति बढ़ रही थी, तभी उन्होंने एक बड़े विद्वान ब्राह्मण को शास्त्रार्थ में जीता। इस समय यदि वह चाहते तो अपने जीवन को सुखपूर्वक बिता सकते थे, किन्तु इस सांसारिक सुख की अपेक्षा अपनी ज्ञान-पिपासा की तृप्ति उन्हें कहीं अधिक अभिष्ट थी। इसलिए वह बौद्ध-योगशास्त्र का विस्तृत अध्ययन करने के लिए कृष्णागिरि विहार में राहुल-गुप्त के पास पहुंचे। यहाँ उनके गुरु ने उनका नाम गुह्यज्ञानवज्र रखा और योगशास्त्र की अनेक बातों से परिचित करा दिया। उन्नीस वर्ष की आयु में उन्होंने ओदन्तपुरी (वर्तमान बिहार शरीफ, जिला पटना) के महासांघिक आचार्य शीलरक्षित से प्रव्रज्या ग्रहण की, जिन्होंने उनका पहला नाम बदलकर नया नाम 'दीपंकर श्रीज्ञान' रखा। इकत्तीस वर्ष की आयु में उन्होंने उपसम्पदा *(गृहस्थी से प्रव्रजित होकर पहले 'श्रामणेर' बनता है। पीछे कुछ काल बाद 'उपसम्पदा' प्राप्तकर पूर्णरूप से भिक्खु-धर्म को ग्रहण करता है।)* ग्रहण की और इसी समय शीलरक्षित ने उनसे बोधिसत्व की प्रतिज्ञा कराई। उन्होंने मेध के दार्शनिकों से दर्शनशास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर अन्त में स्वर्णदीप (=पेगु, लोअर बर्मा) के सर्वप्रधान स्थविर-आचार्य चन्द्रकीर्ति के पास जाने का निश्चय किया। उस समय स्वर्णदीप बौद्धधर्म का सर्वश्रेष्ठ केन्द्र माना जाता था और वहाँ के नायक-स्थविर बौद्धधर्म के सर्वश्रेष्ठ विद्वान। अनेक कठिनाइयों को पार कर दीपंकर समुद्र-मार्ग से स्वर्ण-द्वीप पहुंचे। वहाँ उन्हें बौद्धधर्म का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए बारह वर्ष ठहरना पड़ा। बारह वर्ष वहाँ रहकर जम्बुद्वीप (=भारत) वापस आए। मार्ग में कुछ समय के लिए ताम्रपर्णि (=लंका) में भी उतरे। मगध पहुंचकर उन्होंने शान्ति, नरोपान्त, कुशल, अवधूत इत्यादि अनेक विद्वानों से भेंट की। मगध के बौद्धों ने उन्हीं को अपना सर्वप्रधान आचार्य माना।

वज्रासन (बोधगया) में महाबोधि विहार में रहते हुए उन्होंने अनेक भिन्न मतावलम्बियों को तीन बार शास्त्रार्थ में हराया और इस प्रकार अन्य तमाम मतों से अधिक बौद्धधर्म की श्रेष्ठता सिद्ध की। राजा नयपाल की प्रार्थना पर उन्होंने विक्रमशिला *(भागलपुर बिहार) से 24 मील पूर्व, कहलगांव से 4 मील उत्तर वर्तमान पाथरघाट)* के विश्वविद्यालय का प्रधान आचार्य होना स्वीकार किया। उसी समय कार्ण्य-देश के राजा ने मगध पर चढ़ाई की। आरम्भ में मगधराज नयपाल को विशेष हानि उठानी पड़ी, किन्तु बाद में समझौता हो गया। इस समझौते के कराने में भी दीपंकर का ही हाथ प्रधान था।

(2)

'ल्ह-लम-येस्-ए-होद्' नामक तिब्बत के राजा बड़े दृढ़ बौद्ध थे। जब उन्होंने देखा कि अनेक कारणों से तिब्बतीय बौद्धधर्म बहुत विकृत हो चला है, तो उन्हें सुधारने का ख्याल हुआ। इस कार्य के लिए उन्होंने सात मेधावी बालकों को चुना और अपनी देख-रेख में उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। बड़े होने पर उनका भिक्खु-धर्म में प्रवेश कराया गया। उस समय राजा ने प्रत्येक भिक्खु के साथ दो-दो श्रामणेर नियुक्त करके उनकी संख्या इक्कीस कर दी और उन्हें भारत इसलिए भेजा, ताकि यहाँ रहकर वे सच्चे बौद्धधर्म का अध्ययन करें और साथ ही यहाँ से किसी ऐसे विद्वान को, जो तिब्बत में बौद्ध धर्म का सुधार करने में विशेष उपयोगी हो सके, निमन्त्रित करके वहाँ ले जाने का प्रयत्न करें। वे अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए यहाँ पहुंचे। यहाँ रहकर उन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया और फिर अपने गुरु की आज्ञा से विक्रमशिला के विश्वविद्यालय में पहुंचे, जहाँ उन्हें दीपंकर की ख्याति का पता लगा। उन्हें मालूम हुआ कि पांच सौ अर्हतों में, जो महासांघिक सम्प्रदाय के हैं, वह दूसरे 'सर्वज्ञ', हैं। उन्होंने इसी समय दीपंकर को तिब्बत चलने के लिए निमन्त्रित करना उचित नहीं समझा और लौटकर सब हाल राजा से कहा। राजा की इच्छा हुई कि किसी-न-किसी प्रकार मगध देश के प्रसिद्ध आचार्य दीपंकर को तिब्बत अवश्य लाया जाए। इसके लिए उन्होंने 'र्ग्य-त्सोन्-ग्रु-सेंगे' नामक व्यक्ति को एक सौ आदमी और बहुत सा सोना देकर भारत भेजा। अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करके यात्री विक्रमशिला पहुंचा। वहाँ उसने दीपंकर के चरणों में बहुत सा धन रखकर, उनसे तिब्बत चलने के लिए प्रार्थना की। दीपंकर बोले–"तुम्हारी बात से मालूम होता है कि तिब्बत जाने के मेरे दो उद्देश्य हो सकते हैं; एक धन का संग्रह करना, दूसरा सम्मान को प्राप्त करना। दोनों में से इस समय मुझे एक की भी कामना नहीं और तिब्बत जाने से इन्कार कर दिया।" आगन्तुक ने बहुत विनय-पूर्वक अपनी सारी कठिनाइयों का वर्णन किया और कहा–"तिब्बत से यहाँ आने में हमें बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा है; हमारे अनेक साथी तो मार्ग में ही मर गए।" आचार्य दीपंकर ने उसके साथ सहानुभूति प्रकट की।

तिब्बत लौटकर 'र्ग्य-त्सोन्-ग्रु-सेंगे' ने राजा से दीपंकर के न आ सकने के कारण और अन्य सब वृतान्त निवेदन किया। राजा ने दीपंकर का तिब्बत आ सकना असम्भव जान, उसी मनुष्य को फिर आज्ञा दी कि वह इस बार फिर भारत जाए और दीपंकर से जो दूसरे नम्बर के विद्वान हो, उन्हें लाने का प्रयत्न करे। इस बार वह अपने साथ केवल पांच आदमी और मार्ग-व्यय के लिए थोड़ा सा धन लेकर विदा हुआ।

(3)

तिब्बत के राजा के किसी वज़ीर ने नेपाल राज्य के समीप कहीं एक सोने की खान का पता लगाया। राजा कुछ आदमियों को लेकर वहाँ सोना एकत्र करने के लिए पहुंचा; लेकिन उधर से उनसे भी अधिक संख्या में गर्लोग् राज्य के आदमी आ गए। उन्होंने 'ल्हा-लम' को पकड़ लिया और कैद करके अपने राजा के पास ले गए। राजा ने उसे देखकर कहा–"यह मगध से किसी बौद्ध-पंडित को बुलाकर

तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार करना चाहता है, इसलिए हम इसको तब तक न छोड़ेंगे, जब तक यह हमारा धर्म स्वीकार न कर ले।

तिब्बत के राजा के एक भतीजे का नाम 'छञ-छुब' था। जब उसने अपने चाचा के इस प्रकार विपत्ति-ग्रस्त होने का समाचर सुना, तो अपने साथ अनेक आदमियों को लेकर उन्हें छुड़ाने के लिए चल पड़ा। गर्लोग् का राजा बड़ा शक्तिशाली था। उससे लड़ाई करना आसान न था, इसलिए उसने विनय आदि करके ही छुड़ाने का प्रयत्न किया। गर्लोग् के राजा ने कहा–"हम इसको दो शर्तों पर छोड़ सकते हैं, या तो यह हमारा धर्म स्वीकार कर ले, नहीं तो इसके वजन के बराबर सोना लाकर दिया जाए।" राजकुमार 'छञ-छुब' तिब्बत से बहुत सा सोना इकट्ठा करके लाया, किन्तु उस सोने में थोड़ी सी कमी रह जाने के कारण राजा ने तिब्बतराज को छोड़ना स्वीकार नहीं किया। जब तिब्बतराज को यह मालूम हुआ और उनका भतीजा कैद में उनसे मिलने गया, तो उन्होंने कहा–"देखो! मालूम होता है, अपने कर्म के दोष से मैं बौद्धधर्म का सुधार नहीं देख सकता। अब मैं मृत्यु के बहुत समीप हूं। धन देकर मुझे छुड़ाने से कोई लाभ नहीं। शायद इससे पहले मैंने अपने किसी जन्म में धर्म के लिए प्राण नहीं दिया। इस बार मुझे धर्म के लिए मरने दो और इस तमाम धन को वापस ले जाकर तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रसार करने और मगध से किसी विद्वान् पंडित को लाने में खर्च करो। हाँ, यदि कोई आदमी आचार्य दीपंकर के पास जाए, तो उन तक मेरी यह विनय पहुंचा दें कि तिब्बत के राजा ने बौद्धधर्म के लिए अपना प्राण दे दिया और आपको अपने देश में देखने की इच्छा को वह अपने साथ ही लेकर मर गया।" 'छञ-छुब' ने रोते-रोते अपने चाचा के ये वचन सुने और बिदा हुए। उसके तिब्बत पहुंचते-पहुंचते उसके चाचा की मृत्यु हो गई।

चाचा के मरने पर राजकुमार 'छञ-छुब' भिक्खु हो गए। उन्होंने राज्य के सब वज़ीरों को इकट्ठा करके कहा–"देखो हमें राजा की मरते समय की इच्छा अवश्य पूरी करनी है। इसलिए आचार्य दीपंकर (अतिशा) के पास भेजने के लिए एक अत्यन्त योग्य आदमी की आवश्यता है।" उस समय 'गुङ्-थन्' निवासी 'छुन-खिम्-ग्यल्-वा' के नाम का प्रस्ताव हुआ। वे कई वर्षों तक भारतवर्ष में रहकर संस्कृत का ऊंचा ज्ञान प्राप्त कर चुके थे और आयु अधिक न होने पर भी 'विनय' का बहुत अच्छा ज्ञान रखने के कारण **'विनयधर'** नाम से प्रसिद्ध थे। राजकुमार ने इन्हीं को निमन्त्रित किया और दीपंकर को लाने के लिए भारत जाने की प्रार्थना की। विनयधर चाहते थे कि उनको बिना किसी विघ्न-बाधा के अपने अध्ययन में ही व्यस्त रहने दिया जाए, इसलिए पहले तो स्वीकार नहीं किया, किन्तु राजकुमार के बहुत अधिक ज़ोर देने पर तिब्बत में बौद्धधर्म की दुर्दशा का ख्याल करके अन्त में राजी हो गए। उन्होंने अपने साथ अधिक आदमी ले जाना अनावश्यक समझा, केवल पांच आदमी साथ लेकर विक्रमशिला की ओर प्रस्थान किया। मार्ग-व्यय इत्यादि के लिए लगभग तीन तोला सोना साथ ले लिया।

(4)

मार्ग की अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए विनयधर ने भारत की सीमा में प्रवेश किया। एक जगह वे डाकुओं के ही हाथ में पड़ गए थे, किन्तु अपनी चतुराई से बच निकले। अन्त में चलते-चलते वे गंगा के किनारे पहुंचे। उन्होंने नाविक से गंगा पार उतार देने के लिए कहा। नाविक बोला–"अभी तो मैं तुम्हें पार नहीं ले जा सकता, किन्तु कुछ देर बाद आकर ले जाऊंगा।" विनयधर और उसके साथियों की चिन्ता बढ़ी, 'क्या करें? कहाँ जाएं?' अन्त में वे अपने सोने को रेत में छिपा, नाविक के वापस लौटने से निराश हो, विश्राम करने लगे, किन्तु कुछ देर बाद नाव वाला नाव लेकर आया। विनयधर ने उसे देखकर कहा–"हम तो समझे थे, अब तुम वापस नहीं आओगे।" नाविक ने कहा–"कैसे न आता! हमारे देश में यह कानून है, यदि एक बार आपको विश्वास दिलाकर मैं न आऊं या आपको पार न उतारूं, तो मुझे

राज-दण्ड भोगना पड़ेगा।" (*उस समय मगध देश में महाराज 'नयपाल' शासन करते थे*) अन्त में विनयधर और उसके साथियों को गंगापार उतारकर उसने कहा–"आप लोग गंगा किनारे रेत पर या घास पर न सोएं। यहाँ सांप-बिच्छुओं का डर है। सीधे मठ में चले जाएं और वहीं विश्राम करें। वहाँ चोर आदि का भी डर नहीं।"

(5)

गंगा के तट पर एक छोटी सी पहाड़ी पर विक्रमशिला विहार था। पहाड़ी पर चढ़कर विनयधर और उसके साथी विहार के फाटक पर पहुंचे। तब फाटक न खुलने के कारण रात उनको विहार के बाहर की धर्मशाला में ही बितानी पड़ी। प्रातःकाल फाटक खुला और एक लड़के ने बाहर आकर विनयधर और उनके साथियों से उनका पता ठिकाना पूछा। उन्होंने कहा–"हम तिब्बत के लामा हैं और 'ग्यू-त्सन्' से मिलना चाहते हैं।" उस लड़के ने उनको 'ग्यू-त्सन्' के निवास स्थान पर पहुंचा दिया। 'ग्यू-त्सन्' उस समय एक संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तक देख रहे थे। आगन्तुकों की थोड़ी ही बातचीत से उनकी स्मृति ताजी हो गई और उन्होंने विनयधर को सम्बोधन करके पूछा–"क्या तुम मेरे पुराने शिष्य 'नग्-चो' नहीं हो?" विनयधर और उसके साथियों ने 'ग्यू-त्सन्' को पहचान लिया और कुछ थोड़ा सोना भेंट-स्वरूप उनके चरणों में रखा।

ग्यू-त्सन्–"तुम यहाँ विद्या-ग्रहण करने आए हो अथवा किसी पंडित को लेने?"

नग्-चो–"आचार्य! हमें तिब्बतराज ने यहाँ से किसी पंडित को ही निमन्त्रित कर ले जाने के लिए भेजा है।"

ग्यू-त्सन्–"किस पंडित को?"

नग्-चो–"हमें आज्ञा तो है आचार्य दीपंकर को ही लाने की, किन्तु यदि वह किसी तरह भी न जा सकें, तो जो उनसे दूसरे नम्बर पर हों, उन्हें। कृपया बतलाइये कि दीपंकर से दूसरे दर्जे के विद्वान कौन हैं?"

ग्यू-त्सन्–"विद्वान पंडितों की यहाँ कमी नहीं; अतिशा के नीचे कई विद्वान पंडित यहाँ मौजूद हैं–जैसे रत्नकीर्ति, वैरोचन, रक्षित, नेपाल के कनकश्री आदि, किन्तु उनसे हमारे देश का विशेष उपकार नहीं होगा। हमारे देश का विशेष उपकार तो 'अतिशा' ही कर सकते हैं। तुम भी यह किसी से मत कहो कि हम अतिशा को लेने के लिए आए हैं। पहले जाकर स्थविर रत्नाकर के शिष्य हो जाओ। अपने अध्ययन और सेवा सुश्रुषा से स्थविर रत्नाकर को सन्तुष्ट करो। उनका यहाँ विशेष प्रभाव है और अतिशा के प्रधान वही हैं। समय आने पर हम तुम्हारी प्रार्थना उन तक पहुंचा देंगे और उनको अपने देश में ले जाने का प्रयत्न करेंगे।"

नग्-चो ने कहा–"कम-से-कम हमें जो वो (=प्रभु) के दर्शन तो करा दें।"

ग्यू-त्सन् बोले–"कल यहाँ विक्रमशिला में भिक्खुओ का बड़ा भारी सम्मेलन होगा, जिसमें लगभग 8000 भिक्खु एकत्र होंगे। उनमें जो सबसे अधिक तेजस्वी, सबसे अधिक पूज्य और आदरणीय प्रतीत हों, उन्हीं को तुम 'अतिशा' समझना। इसके आगे नग्-चो ने स्वयं लिखा है–

"अगले दिन मैं 'ग्यू-त्सन्-ग्रु-सेंगे' को साथ लेकर स्थविर रत्नाकर की सेवा में उपस्थित हुआ और डेढ़ तोला सोना उनको भेंट किया। मेरी पढ़ने की इच्छा को सुनकर उन्होंने कहा, "तुम्हारी अध्ययन करने की इच्छा स्तुत्य है, दृढ़चित्त होकर बौद्धधर्म का स्वाध्याय करो और बौद्धधर्म के ऊंचे विद्वान बन जाओ। मैं इसमें तुम्हारी हर प्रकार से सहायता करूंगा।" इस प्रकार उन्होंने मुझ पर बड़ी अनुकम्पा की।

(6)

"प्रातःकाल का समय था। आठ बजे होंगे। सब भिक्खु इकट्ठे हुए। मुझे बैठने के लिए विक्रमशिला के विद्यार्थियों में एक स्थान दिया गया। सर्वप्रथम सम्मेलन के प्रधान विद्याकोकिल का आगमन हुआ। उनकी आकृति अत्यन्त प्रभावोत्पादक थी। जब वह अपने स्थान पर बैठ गए, तो मैंने अपने समीप वालों से पूछा–'क्या यही अतिशा हैं?' उन्होंने कहा–'आयुष्मान्! क्या तुम यह नहीं जानते कि ये आचार्य चन्द्रकीर्ति के प्रधानशिष्य विद्याकोकिल हैं और (प्रभु) अतिशा इनके शिष्य रह चुके हैं।' तब एक दूसरे आचार्य के सम्बन्ध में मैंने पूछा कि कहीं वह तो अतिशा नहीं! लोगों ने बताया कि वह नारोपन्त हैं, जिनकी टक्कर का दूसरा साहित्यिक विद्वान सारे बौद्ध-संसार में नहीं। मेरी आंखें अतिशा को ही ढूंढ रही थीं। इसी बीच विक्रमशिला के राजा का आगमन हुआ, जिसके लिए साधारण सम्मान प्रदर्शित किया गया। राजा के अपने स्थान पर बैठ जाने पर एक और वृद्ध स्थविर पधारे जिनके सम्मानार्थ सब श्रामणेर, फिर राजा और बाद में अन्य स्थविर भी खड़े हुए। मैंने समझा कि यही अतिशा होंगे; किन्तु वह वीरव्रज नाम के कोई स्थविर थे, जिनको वहाँ के स्थानीय लोग भी न जानते थे।

"जब सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ गए, तब जोवो (=प्रभु) अतिशा का आगमन हुआ। उनकी ज्योतिर्मयी मूर्ति को देखते ही मुझे किसी प्रकार का सन्देह न रहा। उनके एक ओर अनेक चाबियों का गुच्छा लटक रहा था। तिब्बती, नेपाली, भारतीय सबको वह अपने ही देश के प्रतीत होते थे। उनकी आकृति में सरलता और ओजस्विता का कुछ ऐसा संमिश्रण था कि जो कोई उनको देखता, आकृष्ट हो जाता।

(7)

"दूसरे दिन जब मैं विहार से बाहर निकला, तो देखा कि एक पूज्य आचार्य निर्धन भिखमंगों को चावल बांट रहे हैं। वे जब चावल बांटकर चलने लगे, तो एक छोटा लड़का उनके पीछे-पीछे हो लिया। लड़का कहता जाता था–'भला हो! ओ नाथ अतिशा। भात होना! भात होना!' प्रसन्नता के मारे मेरी आंखों से आंसू निकल आए और मैं भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। जब उनकी नजर मुझ पर पड़ी तो बोले–'ओह! तिब्बती आयुष्मान्। तुम बड़े सच्चे आदमी हो। बड़े दृढ़ हो। मेरे लिए तुमने कौन सा कष्ट नहीं सहा। मेरे दिल में तुम्हारा बहुत आदर है। त्रिरत्न (=बुद्ध, धर्म, संघ) को नमस्कार करो।" मुझे इससे कुछ आशा बंधी।

"इसके बाद एक दिन जब प्रभु अतिशा घर पर अकेले ही थे, तो ग्यू-त्सन् मुझे अपने साथ उनके पास ले गए। वहाँ पहुंचकर उन्होंने नमस्कार इत्यादि करके तिब्बत से लाई गई सोने की डली को उनके चरणों में समर्पित किया और उसके बाद हमने तिब्बती निवासियों की कठिनाइयों का विस्तार-पूर्वक वर्णन करके उनसे तिब्बत पधारने की प्रार्थना की। जिसके उत्तर में प्रभु अतिशा ने कहा–'तिब्बतराज एक बोधिसत्व हैं। उसके तीनों पूर्वज निश्चय ही बड़े पुण्यवान थे। 'ल्हालम' और उसके भतीजे ने मेरे लिए क्या नहीं किया है। उन धर्मवानों की कामना के विपरीत कार्य करना मेरे लिए किसी तरह उचित नहीं। मेरा तिब्बत पर बड़ा स्नेह है और तिब्बत जाने के लिए तैयार हूं, किन्तु इस समय मैं वृद्ध हो गया हूं। मेरे पास बहुत से विहारों की चाबियां हैं। मैं इस कार्य को अधूरा नहीं छोड़ सकता। इसलिए तुम अभी कुछ देर यहाँ ठहरो। मुझे अपने इष्ट देवता से भी पूछना है। अभी तुम अपने सोने को भी अपने पास रखो।"

(8)

भिन्न-भिन्न रूप में तीन बार अतिशा ने अपने इष्टदेव से तिब्बत जाने के बारे में पूछा। देवता ने प्रत्येक बार उनके तिब्बत जाने की उपयोगिता का समर्थन किया और कहा कि तिब्बत जाने से वहाँ के लोगों

का बड़ा उपकार होगा और बौद्ध धर्म का सुधार भी एक बड़ी हद तक हो जाएगा। लेकिन साथ ही देवता ने यह भी कहा तिब्बत जाने से उनकी आयु में बीस वर्ष की कमी हो जाएगी। यदि वह यहाँ रहेंगे तो उनकी आयु 92 वर्ष की होगी, किन्तु यदि तिब्बत जाएंगे तो उन्हें 72 वर्ष की आयु में शरीर छोड़ना होगा।' दीपंकर ने सोचा–"यदि मेरा जीवन तिब्बतवासियों के किसी उपयोग में आ सके, तो मुझे अपनी आयु की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। दूसरों के कल्याण की कामना के सामने अपना शरीर बनाये रखने की कामना तुच्छ है।" यह सोचकर उन्होंने अपने मन में तिब्बत जाने का विचार दृढ़ कर लिया। फिर एक रोज उन दोनों तिब्बतवासियों को अपने पास बुलाकर कहा–"देखो! मेरे इष्ट देवता मेरे तिब्बत जाने के अनुकूल हैं। उनकी स्वीकृति से और तुम्हारे ज़ोर देने से मैंने तिब्बत जाने का निश्चय कर लिया है। हाथ में जो कार्य है, उसे समाप्त करने में मुझे अठारह महीने लग जाएंगे। नया कार्य अब मैं हाथ में न लूंगा। इसलिए तुम्हें कोई डेढ़ वर्ष तो अभी प्रतीक्षा करनी होगी। इस काल में तुम दृढ़चित्त होकर अपना स्वाध्याय जारी रखो।" उन्होंने कहा–"अच्छा! यदि ऐसी बात है, तो इस मामले को गुप्त रखो और मन लगाकर अपना पढ़ना जारी रखो।" नग्-चो ने स्थविर रत्नाकर सा गुरु और ग्यू-त्सन् सा अनुवादक पाकर इस सुअवसर से पूरा फायदा उठाया, उन दिनों विक्रमशिला में 'सुधा-बिन्दु' नाम का एक विशेष ग्रन्थ पढ़ाया जाता था। तिब्बत में इसे बहुत कम लोग जानते थे। नग्-चो ने तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद किया।

एक दिन नग्-चो और ग्यू-त्सन् दोनों स्थविर रत्नाकर के मकान पर आए, ताकि आचार्य दीपंकर के तिब्बत जाने के सम्बन्ध में उनका विचार जानें। उस समय स्थविर रत्नाकर ने कहा–"आयुष्मान्! दीपंकर की अनुपस्थिति में किसी दूसरे पंडित में इतनी सामर्थ्य नहीं कि यहाँ के कार्य को भली प्रकार चला सके। भारतवर्ष बौद्ध-धर्म की जन्मभूमि है और अगर दीपंकर यहाँ से चले गए, तो यहाँ के लोगों की बड़ी हानि होगी। दीपंकर के हाथ में मगध के अनेक विहारों की चाबियां हैं। इसलिए उनका यहाँ से जाना अत्यन्त कठिन है। यदि तुम यहाँ रहकर परिश्रम से अध्ययन करो, तो कुछ काल के बाद तुम स्वयं इस योग्य हो सकते हो कि अपने देश का बड़ा उपकार कर सको।"

(9)

तिब्बत जाने का विचार निश्चित कर एक दिन दीपंकर ने अपने आचार्य रत्नाकर से प्रार्थना की–"हे गुरुदेव! इन तिब्बत से आए हुए आगन्तुकों को तमाम पूज्य स्थानों के दर्शन करा देना आवश्यक है। इसलिए आप आज्ञा दें कि इनको साथ लेकर मैं बोधगया आदि स्थानों की यात्रा कर आऊं।" गुरुदेव ने भी साथ चलने की इच्छा प्रकट की। सभी लोग कुछ दिनों में यह यात्रा समाप्त कर लौट आए। विक्रमशिला पहुंचते ही दीपंकर ने अपने गुरु से नेपाल जाकर 'स्वयम्भू चैत्य' की पूजा करने की आज्ञा मांगी। इससे आचार्य रत्नाकर को दीपंकर की तिब्बत जाने की इच्छा का पता लग गया। उन्होंने नग्-चो को बुलाकर कहा–"मुझे अब पता लगा कि तुम यहाँ वास्तव में विद्या पढ़ने के लिए नहीं आए थे। तुम्हें तिब्बतराज ने यहाँ से मेरे आदमियों को ले आने के लिए भेजा है। पहले भी उसने दीपंकर को ले आने के लिए आदमी भेजे थे, किन्तु मैंने उन्हें जाने नहीं दिया। अब भी मैं उन्हें रोक सकता हूं, किन्तु देखता हूं, अब वह स्वयं जाने को राजी हैं। मेरे लिए उनके परोपकार करने के मार्ग में बाधा डालना उचित नहीं है, इसलिए जाने देता हूं। लेकिन देखो! अधिक से अधिक तीन वर्ष तक अपने देश में रखकर उन्हें वापस ले आना।" नग्-चो ने स्वीकार किया। अब दीपंकर ने वह सोना मंगाया, जो पहले लौटा दिया था। उसके चार भाग करके पहला भाग विक्रमशिला के आचार्यों की सेवा में, दूसरा भाग आचार्य रत्नाकर की सेवा में और इसी तरह बाकी दो भाग भी अर्पण कर दिए। अपने लिए कुछ नहीं रखा।

(10)

प्रातःकाल का समय था। तिब्बत जाने की सब तैयारी हो चुकी थी। नग्-चो अपने गुरु से विदा मांगने के लिए गया। उसने आचार्य रत्नाकर के चरणों में सिर रख कर कहा–"हे प्रभु! मुझ पर सदैव अपनी कृपा बनाये रखियेगा। अब मैं विदा होना चाहता हूं। मुझे आशीर्वाद दीजिए।" स्थविर रत्नाकर ने कहा–"अच्छा, जैसे कहा है उसके अनुसार चलना। मेरे पंडित को तीन साल के बाद लौटा लाना। मेरी कामना है कि तुम दोनों सकुशल वापिस जाओ।" तब नग्-चो ने प्रार्थना की–"प्रभु! मुझे पंडित की आज्ञानुसार आचरण करने की छुट्टी दीजिए। उनकी आज्ञा के प्रतिकूल मैं कुछ भी नहीं करूंगा।" आचार्य रत्नाकर बोले–"बिल्कुल ठीक! तुम उन्हें वापिस आने के लिए कैसे कह सकते हो? अच्छा! यदि वह वहाँ रहना चाहें, तो वहाँ उनकी सेवा करना। यदि यहाँ आना चाहें, तो यहाँ उनके साथ आना। आयुष्मान्, बिना दीपंकर के भारत में अंधेरा हो जाएगा। अब भारत के दिन अच्छे नजर नहीं आते। उसकी अनुपस्थिति में अनेक विहारों में ताले पड़ जाएंगे। मुसलमानों के कारण आक्रमण हो रहे हैं। इससे मैं बहुत घबरा रहा हूं। अच्छा! तुम सब तिब्बत के कल्याण के लिए विदा होओ।"

पंडित भूमिगर्भ, नग्-चो, ग्यू-त्सन्, वीर्यचन्द और अनेक दूसरे साथियों के साथ दीपंकर 'मित्र-विहार' की ओर चल पड़े। वहाँ के भिक्खुओ ने बड़े उत्साहपूर्वक उनका स्वागत किया। यहाँ से ग्यू-त्सन्, नग्-चो, दीपंकर और उनके सभी साथियों ने तिब्बत की ओर प्रस्थान किया। चलते-चलते भारत की सीमा पार करके वह एक ऐसे स्थान पर पहुंचे, जहाँ अनेक तैर्थिक (=अन्य मतावलम्बी) साधु रहते थे। तैर्थिकों में शैव, वैष्णव और कपिल सभी शामिल थे। शैवों के हृदय में बौद्ध धर्म के प्रति अधिक डाह थी। वह नहीं चाहते थे कि तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार हो। कहते हैं कि उन्होंने दीपंकर और उनके साथियों को मार्ग में लूटने के लिए अठारह डाकुओं को भेजा था, किन्तु डाकू ज्यों ही दीपंकर के समीप आए, उनकी शक्ल देखते ही बुत की तरह खड़े हो गए। दीपंकर ने उनके लिए अनुकम्पा की भावना की।

मार्ग में एक जगह दीपंकर ने कुतिया के तीन पिल्लों को देखा। वे सर्दी के मारे बड़ा कष्ट भोग रहे थे। उन्होंने तीनों को उठाकर अपने चीवर में ढांप लिया। कहते हैं कि इन कुत्ते की सन्तान इस समय भी रद्ग में विद्यमान है।

इस प्रकार चलते-चलते सब लोग 'स्वयम्भू चैत्य' के समीप पहुंचे। यहाँ पहुंचकर सब लोगों ने कुछ काल विश्राम किया। पशुओं पर से उनका बोझा उतार दिया गया। तमाम सामान एक जगह रखकर उसके चारों ओर एक दीवार सी खड़ी कर दी गई। 'स्वयम्भू चैत्य' के सुन्दर दृश्य ने दीपंकर को मुग्ध कर लिया। वे देर तक लगातार उसी ओर देखते रहे। 'स्वयम्भू चैत्य' के राजा को जब उनके आगमन की खबर लगी, तो उसने उनके सत्कार का बड़ा शानदार प्रबन्ध किया। अपने बड़े-बड़े अफसरों को उनकी आगवानी के लिए भेजा। तमाम नगर सजाया गया। महलों में स्वयं राजा सदैव उनके साथ रहा। इस प्रकार मगध के आचार्य का जैसा चाहिए था वैसा स्वागत हुआ। तीसरे दिन 'स्वयम्भू चैत्य' के राजा की कुशलता के लिए एक बड़ी भारी पूजा की गई।

ग्यू-त्सन् पहले भी एक बार नालन्दा में बीमार पड़ गए थे। उस समय उन्हें डोली पर विक्रमशिला लाया गया था। इस समय फिर उसी ज्वर ने आ घेरा। कई दिन बीमार रहे। अन्त में उनका शरीर छूट गया। ग्यू-त्सन् की मृत्यु से दीपंकर बड़े दुःखी हुए। वह कहने लगे–"अब मेरे तिब्बत जाने का कुछ अधिक लाभ नहीं है, जब कि जिह्वा (अनुवादक) ही जाती रही।" उनको दुःखी देख नग्-चो उन्हें सान्त्वना देने लगा। वह बोला–"गुरुवर! अधीर मत होइये। तिब्बत में अनेक विद्वान अनुवादक हैं और मैं स्वयं कुछ अनुवाद कर लेता हूं।" दीपंकर ने उसे समझाया–"देखो! छोटों को यह उचित नहीं कि वह बड़ों को उपदेश भरी सांत्वना दें। हमारे देश में पंडितों को केवल योगी ही सांत्वना दे सकते हैं।"

यहाँ से चलकर वह 'पल्-पोइ-थन्' नामक स्थान पर पहुंचे। उस समय नेपाल के राजा अनन्तकीर्ति का दरबार उसी जगह लगता था। उन्होंने दीपंकर का स्वागत बड़े समारोह से किया। यहाँ पर एक विहार बनवाया और उपने पुत्र पद्मप्रभु को भिक्खु बनने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार पद्मप्रभु पहले भिक्खु हुए, जिन्होंने दीपंकर के भारत छोड़ने के बाद उनसे प्रव्रज्या ग्रहण की।

आखिर तिब्बत की सीमा आ गई। तिब्बत की सीमा में प्रवेश करते ही उन्होंने देखा कि उनके स्वागत के लिए 100 घुड़सवार आए हैं। ये सब घुड़सवार चार सेनापतियों के आधीन थे। सभी की वर्दियां सफेद थीं। साज-सामान भी सफेद ही रंग का था। बाजे के स्वर में 'ऊं मणि पद्मेहुम्' पवित्र मंत्र का उच्चारण करते हुए सब लोग मगध के प्रधान आचार्य का स्वागत करने के लिए आगे बढ़े। तिब्बतराज के प्रतिनिधि नरि-स्तो-सुम्-पने ढाई छटांक सोना चरणों में रखकर और खास ढंग की बनी हुई तिब्बती चाय का प्याला पेश करके इनकी पूजा की। फिर प्रधान सेनापति ने दीपंकर का स्वागतगान ठीक उसी तरह गाया, जैसा कि इस समय से तीन शताब्दी पूर्व आचार्य शान्तरक्षित के आगमन के समय गाया गया था। प्रधान नायक ने दीपंकर को सम्बोधित करके कहा–"भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ पंडित! इस देश में आपका आगमन किसी देवता के आगमन से कम नहीं। हम पर आपकी अनुकम्पा हुई है। तमाम तिब्बत आपका अनुगृहीत है। आप तिब्बत के लिए 'चिन्तामणि' के सदृश हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तिब्बत में भारत के समान धर्मप्रचार नहीं और यहाँ इसकी आवश्यकता है, लेकिन तिब्बत की भी अपनी विशेषताएं हैं। गर्मी में यहाँ भारत की सी बड़ी गर्मी नहीं होती। सर्दी के मौसम में भी पहाड़ों की छाया में पर्याप्त गर्मी रहती है। दूसरी ऋतुओं में यहाँ खाने-पीने के लिए खूब होता है। अनेक प्रकार की सब्जी होती हैं। इस प्रकार से ही महामान्य! यह देश हर प्रकार से समृद्ध है और अब आपके आगमन से यह और भी अधिक समृद्ध हो जाएगा। हम तिब्बत-निवासी हर प्रकार से आपकी आज्ञा का पालन करेंगे और आपकी आज्ञानुसार सर्वस्व तक न्योंछावर करने कि लिए तैयार रहेंगे।

"इस समय कृपा कर आप हमारी प्रार्थना स्वीकार कर 'थोलिङ् विहार' में पधारने की अनुकम्पा करें। यह राजा का अपना विहार है। राजा 'ल्ह-त्सुम्-प-चज्-चुव्- होद' बड़ा शक्तिशाली राजा है। वह अपने वज़ीरों की सहायता से इन्द्र की भान्ति पृथ्वी पर राज करता है।" इतना कहकर उसने तिब्बती भाषा में एक प्रसिद्ध स्वागत गान गाया। इस प्रकार गाते-बजाते सब लोग 'थोलिङ्' की ओर बढ़ने लगे। इस प्रकार दीपंकर के साथ राजा भूमिसिंह, पंडित परहित-भद्र, पंडित वीर्यचन्द्र इत्यादि कुल 35 आदमी थे। जिस घोड़े पर दीपंकर चढ़े जा रहे थे, उस घोड़े की चाल हंस के समान थी। कभी-कभी दीपंकर अपने योग-बल से अपने घोड़े की पीठ से कुछ ऊंचा उठा लेते थे, ताकि लोग उनको आसानी से पहचान सके। प्रायः हर समय कोई-न-कोई संस्कृत-मंत्र उनकी जिह्वा पर रहता था और मन्त्र के अन्त में वह प्रायः कहते थे–भला हो! भला हो! मंगल हो, इत्यादि।

इस प्रकार जब वह 'आथिङ्' विहार के समीप पहुंचे, तो प्रजा के मन्त्रियों ने हाथ जोड़कर उनका स्वागत किया। वे बोले–"हे प्रभु! हम पर आपकी महान अनुकम्पा हुई है। केवल हमारे कल्याणार्थ आपने मार्ग का इतना कष्ट सहा है। हम आपकी आज्ञा में हैं।" यह कहते हुए अवलोकितेश्वर का एक अति मूल्यवान चित्र आपको समर्पित किया। दीपंकर ने उसी समय उसकी प्रतिष्ठा कर दी।

अब सब लोग लिन्-सेर्-ग्यी-ल-खङ् नामक थोलिङ (विहार) पर पहुंच गए। यहाँ चार बड़े अफसरों के आधीन सौ घुड़-सवारों की पलटन दीपंकर के स्वागत के लिए और उन्हें राजमहल तक ले जाने के लिए उपस्थित थी। उन बाजों में जो इस समय बजाए जा रहे थे, एक बाजा ऐसा था जिसको इसी अवसर के लिए विशेष रूप से राजा ने स्वयं बनवाया था। उस बाजे का नाम राजा के नाम पर ही था।

इस प्रकार राजा ने दिल खोलकर दीपंकर का स्वागत किया। यह देख कि दीपंकर विद्या और विनय दोनों में सर्वश्रेष्ठ पंडित हैं, उसने उनका नाम जोब-जे (प्रभु या स्वामी) रखा। 'थोलिङ्' पहुंचकर दीपंकर ने धर्म का प्रचार आरम्भ किया। उन्होंने एक बार तिब्बत में प्रचलित बौद्ध-धर्म को जो अनेक कारणों से बहुत विकृत हो गया था–बिल्कुल शुद्ध कर दिया। दीपंकर तिब्बत के भिन्न-भिन्न स्थानों में लगभग 13 वर्ष तक लगातार प्रचार कार्य करते रहे और अन्त में 1053 में जिस समय उनकी आयु 73 वर्ष की थी–ल्हासा के समीप 'ने थन्' नामक स्थान में उनका शरीर छूटा।

तिब्बत में रहकर दीपंकर ने अनेक ग्रन्थों की रचना की और महायान बौद्धधर्म के सम्बन्ध में अनेक व्याख्यान दिए। उनके रचित ग्रन्थों में कुछ ये हैं–

1. बोधिपथ-प्रदीप, 2. चर्य्यासंग्रह-प्रदीप, 3. सत्यव्यवहार, 4. मध्यमोपदेश, 5. संग्रह-गर्भ, 6. बोधिसत्व-मन्यावलि, 7. हृदय-निश्चित, 8. बोधिसत्त्वकर्मादि मार्गावतार, 9. शरणगतादेश, 10. महायान पथ-साधन वर्ण-संग्रह, 11. महायान पथ साधन-संग्रह, 12. सूत्र रथ समुच्चयोपदेश, 13. दशकुशल कर्मोपदेश, 14. कर्मविभंग, 15. सन्धिसंवर परिवर्त, 16. लोकोत्तर सप्तक-विधि, 17. गुरु क्रिया-कर्म, 18. चित्तोत्पाद संवर-विधिकर्म, 19. शिक्षा समुच्चाभि, 20. विमलरत्न-लेखन (यह पुस्तक मगध के राजा नयपाल के नाम लिखा हुआ दीपंकर का एक पत्र है।)

इस समय जहाँ-जहाँ तिब्बतीय बौद्ध-धर्म का प्रचार है, हर जगह उनका नाम अत्यन्त सम्मान से लिया जाता है।

(बुद्ध और उनके अनुचर, भदन्त आनन्द कोसल्यायन, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012 पृ. 44 से संकलित)

43

नागार्जुन और उनका सुहृल्लेख

-आचार्य भरतसिंह उपाध्याय

नागार्जुन का नाम भारतीय साहित्य और दर्शन के इतिहास में अपनी तेजस्विता लिए हुए है। शून्यवादी आचार्य के रूप में उनकी कीर्ति-कथा भारत में ही नहीं; चीन, तिब्बत और मंगोलिया के इतिहास-पृष्ठों में लिखी जाती है। उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के वह एक विस्मयकारी साधक और विचारक हैं। महामाया बौद्ध धर्म की माध्यमिक शाखा के वे प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। वैद्य और तांत्रिक, उद्भट विचारक और तार्किक, कवि और सार्वभौम विद्वान्, साधक और मानवता-प्रेमी, नागार्जुन की सर्वतोमुखी प्रतिभा से भारत और अन्य कई देशों की साधना-भूमियाँ आलोकित हैं।

युआन् चुआङ् (सातवीं शताब्दी) ने उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के चार प्रतिभाशाली आचार्यों का उल्लेख किया है, जिन्हें उसने 'संसार को आलोकित करने वाले चार सूर्य' कहा है। इनमें एक आचार्य नागार्जुन हैं। शेष तीन हैं अश्वघोष, आर्यदेव और कुमारलब्ध या कुमारलात। आचार्य नागार्जुन के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हमें निश्चित सामग्री नहीं मिलती। उनके काल और निवास-स्थान के सम्बन्ध में जो सूचनाए मिलाती है, उनमें भारी विविधता है। नागार्जुन का जीवनी का कुमारजीव ने चीनी भाषा में सन् 405 ई. में अनुवाद किया। वाटर्स के मतानुसार इस जीवनी के लेखक भी सम्भवतः कुमारजीव ही थे। नागार्जुन के जीवन-वृत्त को जानने का सबसे अधिक प्रामाणिक और आधारभूत ग्रन्थ यही है। इसके अलावा अनेक चीनी और तिब्बती ग्रन्थों में नागार्जुन के जीवन के सम्बध में प्रभूत सूचना मिलाती है, जो अधिकांशतः अलौकिक तथ्यों से भरी हुई है। इतनी भारी जटिलता नागार्जुन के बहुमुखी व्यक्तित्व को लेकर उठ खड़ी हुई है कि विद्वान् मानने लगे हैं कि 'नागार्जुन' नाम से भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे जिन्हें गलती से मिला दिया गया है। रासायनिक और तान्त्रिक नागार्जुन का समय सातवीं या आठवीं शताब्दी ईसवी माना जाता है। फिर भी बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के स्वयं तान्त्रिक और रासायनिक होने की बात तिब्बती परम्परा में इतनी सुप्रतिष्ठित है कि उस पर सहसा अविश्वास करने की प्रवृत्ति नहीं होती। कुमारजीव द्वारा चीनी भाषा में अनुवादित नागार्जुन की जीवनी के अनुसार नागार्जुन का जन्म विदर्भ (बरार) में ब्राह्मण-वंश में हुआ था। युआन् चुआङ् ने दक्षिण कोसल को नागार्जुन का जन्मस्थान वताया है। भौगोलिक दृष्टि से दोनों वर्णनों में कोई भेद नहीं है। चारों वेदों का गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर तरुणावस्था में नागार्जुन ने भिक्षु-पद की दीक्षा ली। इसके बाद उसका अधिकांश समय दक्षिण-भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा, गुन्टूर) में बीता। लामा तारानाथ के मतानुसार नागार्जुन ने अपनी आयु का अधिक भाग नालन्दा में बिताया। कुमारजीव ने हमें बताया है कि भिक्षु होने के बाद केवल 90 दिनों में नागार्जुन ने सम्पूर्ण त्रिपिटक का अध्ययन कर लिया और उसके बाद उन्होंने हिमालय के एक वृद्ध भिक्षु से महायान-सूत्रों को पढ़ा। तिब्बत और चीन के अनेक विद्वानों ने नागार्जुन के जीवन-काल को बुद्ध-परिनिर्वाण के 400, 500 या 700 वर्ष बाद बताया है। तारानाथ के मतानुसार नागार्जुन

कनिष्क के समकालीन थे। परन्तु अनेक अन्य प्रमाणों से यह निश्चित है कि नागार्जुन आंध्र राजा यज्ञश्री गौतमीपुत्र (166-196) के समकालीन थे। आन्ध्र राजाओं की पदवी 'सातवाहन' (श-तो-पो-ह) थी। इन राजाओं ने ईसवी-पूर्व दूसरी शताब्दी से तृतीय शताब्दी ईसवी तक राज्य किया। जैसा हम अभी देखेंगे, अपने 'सुहृद्' सातवाहन-राजा के लिये पत्र के रूप में नागार्जुन ने अपनी एक रचना 'सुहृल्लेख' लिखा थी, जिसका परिचय हम अभी देंगे।

नागार्जुन के बारे में अनेक आश्चर्यजनक किंवदन्तियां प्रचलित हैं। कहा जाता है कि चिरायुष्य का रहस्य उन्हें ज्ञात था। कुमारजीव के वर्णनानुसार वे 300 वर्ष तक जीवित रहे, जबकि तिब्बती वर्णनों ने उन्हें 600 वर्ष की आयु दी है। एक अन्य परम्परा के अनुसार उनकी आयु 529 वर्ष बताई जाती है। चट्टानों को स्वर्ग में परिवर्तित कर देने का श्रेय भी नागार्जुन को दिया जाता है। नेत्र-चिकित्सक के रूप में उनकी ख्याति उनके जीवन-काल में ही चीन में पहुंच गई थी। नेत्ररोगों पर लिखी हुई उनकी पुस्तक 'येन-लुन्' चीनी भाषा में पाई जाती है। 'नागार्जुन बोधिसत्त्व के नुस्खे' (लुंग्-शु-पु-स-यओ-फंग्) नामक पुस्तक भी चीनी भाषा में मिलती है। नागार्जुन के जीवन की एक स्मरणीय घटना देव या आर्य देव का उनसे मिलना है, जो बाद में उनके शिष्य और उनके दर्शन को आगे बढ़ाने वाले प्रसिद्ध आचार्य हुए। आर्यदेव सिंहल (या उत्तर भारत में सिंहपुर) के निवासी थे। नागार्जुन की ख्याति सुनकर उनके पास मिलने आए। नागार्जुन ने मिलने से पूर्व अपने एक शिष्य के हाथ अपने भिक्षा-पात्र को जल से भरवाकर आर्यदेव के पास भिजवा दिया। आर्यदेव ने उसमें एक सुई डालकर उसे लौटा दिया। नागार्जुन बहुत प्रसन्न हुए। बाद मे आर्यदेव से मिले और उन्हें शिष्यत्व प्रदान किया। नागार्जुन का जल से भरा पात्र इस बात का द्योतक था कि उनका ज्ञान जल से भरे बर्तन की तरह परिपूर्ण है। आर्यदेव ने उसमें सुई डालकर यह जलता दिया कि वे उस सब का अवगाहन कर चुके हैं। इस गूढ़ अभिप्रायमयी अभिव्यक्ति के ढंग की अनेक व्यंजनात्मक घटनाएं हमें कबीर, नानक आदि सन्तों की जीवन-स्मृतियों में मिलती हैं और चीन और जापान के ध्यान-सम्प्रदाय के साधकों की तो यह एक आकर्षक और मौलिक परिपाटी ही रही है, जिसका अध्ययन हमें एशियाव्यापी सन्त-परम्पराओं के तुलनात्मक रूप को समझने के लिये करना चाहिए।

नागार्जुन के नाम से लिखे हुए अनेक ग्रन्थ हमें मिलते हैं, परन्तु निश्चित रूप से उनके लिखे 20 ग्रन्थ हमें चीनी अनुवादों में सुरक्षित मिलते हैं, जिनमें से 15 का उल्लेख बुनियो नञ्जियो ने अपने प्रसिद्ध 'केटेलॉग' में किया है। उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाएँ बारह हैं, जो इस प्रकार हैं-

(1) **माध्यमिक-कारिका या माध्यमिक-शास्त्र** (चुंग्-कुआम-लुन्)-महायान बौद्ध धर्म के माध्यमिक सम्प्रदाय का यह आधारभूत ग्रन्थ है और इसमें शून्यता के दर्शन का गहन विवेचन किया गया है। नागार्जुन की यह सर्वोत्तम कृति है। 27 प्रकरणो में विभक्त है।

(2) **दश-भूमि-विभाषा शास्त्र** (शिह-चु-पि-पो-श-लुन्)-इसमें बोधिसत्व की दस भूमियों में से प्रमोदिता और विमला नामक प्रथम दो भूमियों का विवरण है।

(3) **महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र-कारिका शास्त्र** (मो-ह-पो-यो-पो-लो-मि-चिंग्-शिह लुन्)-कुमारजीव ने इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद सन 405 ई. में किया।

(4) **उपाय-कौशल्य**-न्याय-सम्बन्धी ग्रन्थ।

(5) **प्रमाण विध्वंसन**-यह भी न्याय-सम्बन्धी ग्रन्थ है।

(6) **विग्रह-व्यावर्तनी**-शून्यवाद का खण्डन करने वाली युक्तियों का खण्डन। इसमें 72 कारिकाएँ हैं।

(7) **चतुःस्तव**–चार स्तोत्रों का संग्रह।

(8) **युक्ति-षष्टिका**–शून्यता के समर्थन में साठ युक्तियां।

(9) **शून्यता-सप्तति**–शून्यता पर सत्तर कारिकाएं।

(10) **प्रतीत्य-समुत्पाद-हृदय**–प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन।

(11) **महायान-विंशक**–शून्यवाद का विवेचन।

(12) **सुहृल्लेख**–जिसके विषय में यहाँ कुछ विस्तार से कहना है।

खेद है कि नागार्जुन की उपर्युक्त रचनाओं में से केवल माध्यमिक-कारिका (माध्यमिक-शास्त्र) और विग्रह-व्यावर्तनी ही अपने मूल संस्कृत रूप में सुरक्षित हैं। बाकी सब काल-कवलित हो गई हैं और केवल चीनी और तिब्बती अनुवादों में ही सुरक्षित है। यही हाल नागार्जुन की रचना प्रसिद्ध 'सुहृल्लेख' का है। 'सुहृल्लेख' का पूरा नाम है–'आर्य-नागार्जुन-बोधिसत्त्व-सुहृल्लेख'। 'सुहृल्लेख' के तीन चीनी और एक तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। चीनी भाषा मे 'सुहृल्लेख' का पहला अनुवाद गुणवर्मा ने 424-431 ई. में किया। दूसरा अनुवाद संघवर्मा द्वारा सन् 433 ई. के लगभग किया गया इ-त्सिंग् ने इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद सन् 700 ई. के लगभग किया। इस प्रकार चीनी भाषा में 'सुहृल्लेख' के तीन अनुवाद किये गये। इ-त्सिंग् ने लिखा है कि उसकी भारत यात्रा के समय इस देश के प्रत्येक बालक को 'सुहृल्लेख' कण्ठस्थ होता था और बड़ी आयु के पुरुष बड़ी श्रद्धा से इसका अध्ययन-मनन करते थे। इतने प्रभूत नैतिक महत्त्व वाली रचना आज अपने मूल संस्कृत रूप में सुरक्षित नहीं है, यह बड़े दुःख की बात है। तिब्बती अनुवाद के आधार पर एच. वेजेल ने 'जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट् सोसायटी', 1886 में इस रचना का अंग्रेजी अनुवाद किया था। जर्मन अनुवाद भी इस महत्त्वपूर्ण रचना का सन् 1886 में हो चुका है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई भारतीय विद्वान् सीधे तिब्बती या चीनी अनुवाद से 'सुहृल्लेख' का संस्कृत और हिन्दी में फिर रूपान्तर करें, और इस देश के बालकों और बड़ी आयु वालों के लिए उसे सुलभ बनाये।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'सुहृल्लेख' को नागार्जुन ने अपने एक मित्र को पत्र के रूप में लिखा था और मित्र था सातवाहन (श-तो-पो-ह), जिसे यज्ञश्री गौतमी-पुत्र से अभिन्न माना गया है, जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है। नागार्जुन का यह एक बड़ा दुर्भाग्य हैं कि उनके शून्यता-दर्शन को इस देश में कभी उसके ठीक रूप में नहीं समझा गया। उनके साहित्य की विलुप्ति भी इसका एक कारण रही है। आचार्य शंकर तक ने शून्यवाद को 'वैनाशिक समय' (उच्छेदवादी सिद्धान्त) कहकर उसके विवेचन तक के लिए आदर प्रदर्शित नहीं किया है। अपने युग की सीमाओं से शंकर बंधे हुए थे और उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे नागार्जुन की कृतियों से पूर्ण अवगति प्राप्त कर सकते। वस्तुतः नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद अभावात्मक और विनाशात्मक नहीं है, उसने केवल (वेदान्त दर्शन के कुछ आगे बढ़ कर, शंकर-पूर्व युग में) यह दिखाया है कि बुद्धि द्वारा किया हुआ सब चिन्तन सविकल्प और सापेक्ष होता है और परमार्थ-सत्य उसकी पकड़ में नहीं आ सकता। दार्शनिक विवेचन के मोह को छोड़ कर हम केवल यहाँ यह दिखाना चाहेंगे कि शून्यवाद की नींव नैतिकता पर प्रतिष्ठित है। वह सबका विनाश नहीं चाहता, सबको मिथ्या बनाकर उड़ाना नहीं चाहता। उसके लिए जीवन में बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण है, बहुत कुछ साधनीय है। वह जो कुछ है, उसके विषय में उनके दार्शनिक विरोधियों को भी विरोध नहीं हो सकता। वह अविरोध सत्य है जीवन की विशुद्धि का।

इसकी झांकी नागार्जुन द्वारा अपने मित्र को लिखे गये पत्र के इन कतिपय अंशो से कीजिए–

(6) धन चंचल और असार है। इसे धर्मानुसार भिक्षुओं, ब्राह्मणों, गरीबों और मित्रों को दो। दान से बढ़कर दूसरा मित्र नहीं है।

(7) निर्दोष, उत्तम, अमिश्रित, निष्कलंक शील को जीवन में प्रकाशित करो। सभी प्रभुताओं का आधार शील है, जैसे कि चराचर जगत् का आधार पृथ्वी है।

(8) दान, शील, सन्तोष, उद्योग, ध्यान और ज्ञान सम्बन्धी उत्तम शील का आचरण करो, ताकि भव के उस पार पहुँचकर तुम बुद्धत्व प्राप्त कर सको।

(9) मात्सर्य, शठता, माया, राग, आलस्य, मान, राग और द्वेष को शत्रु-रूप समझो। इसी प्रकार परिवार, शरीर, यश और यौवन सम्बन्धी मद का शत्रु समझे।

(15) सन्तोष से अधिक दुर्लभ वस्तु और कुछ नहीं है। क्रोध के लिए अपने जीवन में कभी अवकाश मत दो। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जो क्रोध को छोड़ देता है, उसे पुनर्जन्म में नहीं आना पड़ता, वह अनागामी की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

(21) दूसरे की स्त्री पर दृष्टि न डालो। यदि तुम्हें कोई स्त्री दिखाई पड़ जाये, तो आयु के अनुसार उसे माँ, बहिन या बेटी की तरह समझो।

(24) क्षणिक, चंचल छह इन्द्रियों को जीतने वाला और युद्ध-स्थल में अपने शत्रु-समूह पर विजय प्राप्त कर लेने वाला, इन दोनों में ज्ञानी लोग प्रथम को ही बड़ा वीर समझ कर उसकी प्रशंसा करते हैं।

(26) तुम इस संसार को जानते हो। इसलिए इसके लाभ और अलाभ, सुख और दुःख, मान और अपमान, स्तुति और निन्दा, इन आठ लौकिक वस्तुओं में समान चित्त से रहो।

(37) किन्तु उस एक स्त्री (अपनी पत्नी) को तुम अपने परिवार की अधिष्ठात्री देवी समझ कर सम्मान करना, क्योंकि वह बहिन की भान्ति सरल, मित्र की भान्ति विजयिनी, माता की भान्ति हित की कांक्षिणी और सेवक की भान्ति आज्ञाकारिणी है।

(40) मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की सतत भावना करो। इससे तुम्हें अधिक उच्चतर अवस्था की प्राप्ति न भी हो तो कम से कम ब्रह्म-विहार में तुम्हारी स्थिति सुनिश्चित है।

(41) काम-विचार, प्रीति, सुख और दुःख को छोड़ कर तुम चार ध्यानों की भावना करो। इसके फल-स्वरूप तुम ब्रह्म-भाव में प्रतिष्ठित होगे।

(43) जब तुम कहते हो कि 'मैं रूप नहीं हूं', तो इससे तुम्हें समझना चाहिये कि ' मैं रूपवान् नहीं हूं', 'रूप मुझमें नहीं है', 'मैं रूप में नहीं हूं', 'रूप मेरा नहीं है'। इसी प्रकार वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार के सम्बन्ध में भी तुम्हें समझना चाहिए।

(50) ये स्कन्ध न इच्छा से, न काल से, न प्रकृति से, न स्वभाव से, न ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और न बिना हेतु के ही उत्पन्न होते हैं।

(51) जानो कि धार्मिक कर्मकाण्ड में लगे रहना, मिथ्या-दर्शन और संशय, ये तीन बेड़ियाँ हैं।

(53) उत्तरोत्तर उच्च शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास करो। जानो की प्रातिमोक्ष के 150 नियम सम्पूर्णतः इन तीन में अन्तर्भावित हैं।

(58) यहाँ सभी कुछ अनित्य, अनात्म, अ-शरण, अ-नाथ और अ-स्थान है। इसलिए तुम इस तुच्छ केले के तने के समान असार जगत् से विरति धारण करो।

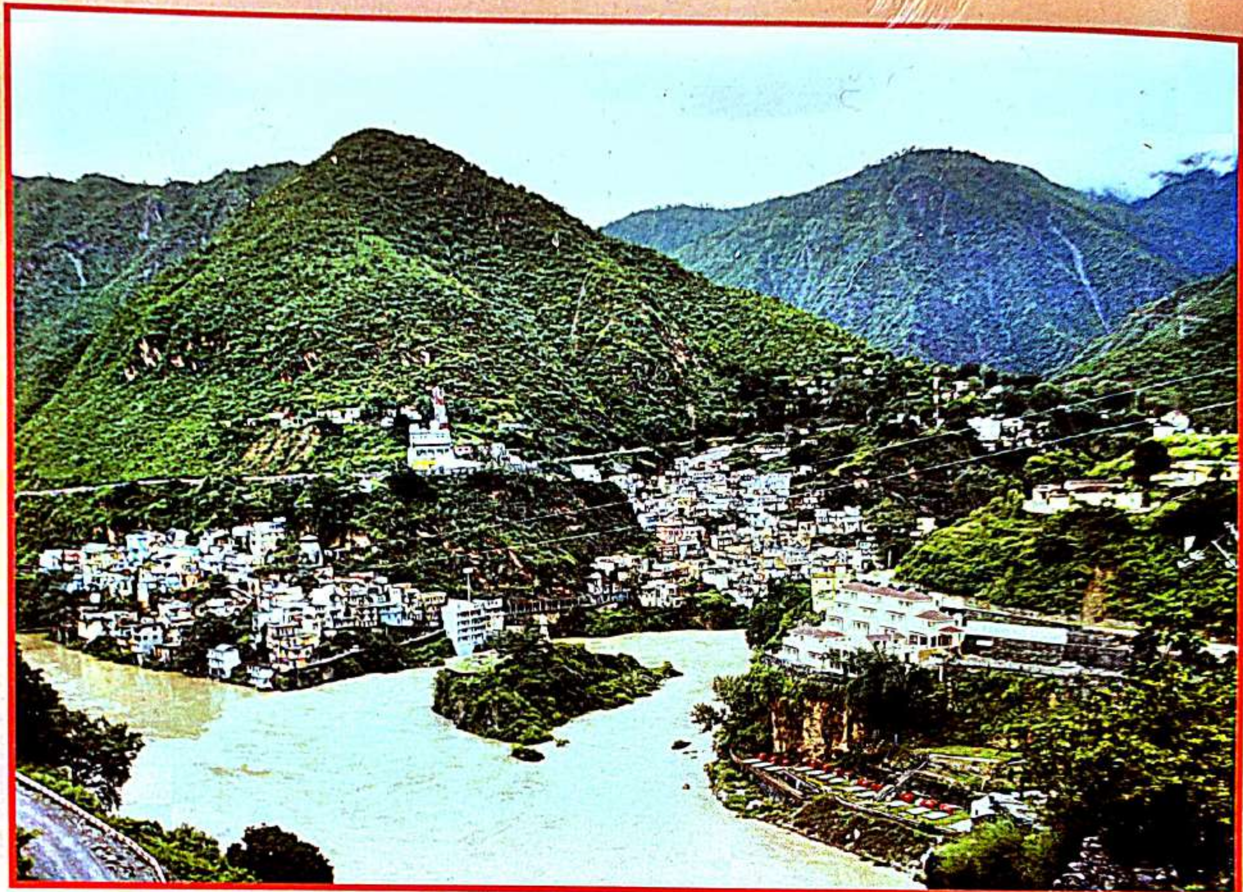
(104) यदि तुम्हारे सिर में आग लग रही हो और वह सारे कपड़े में फैल जाये, तो तुम उस आग को बुझाने का प्रयत्न करोगे। इसी प्रकार तुम इच्छा को नष्ट करने का प्रयत्न करो। इससे अधिक आवश्यक कार्य और कोई नहीं है।

(105) शील, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा शान्त पद निर्वाण को प्राप्त करो, जो अजर और अमर है और जहा न धरती है, न जल, न आग, न हवा, न सूर्य, न चन्द्रमा।

(107) जहाँ प्रज्ञा नहीं हैं, वहाँ ध्यान भी नहीं हैं। जहाँ ध्यान नहीं हैं, वहाँ प्रज्ञा भी नहीं है। लेकिन जानो कि जिसमे ध्यान और प्रज्ञा दोनों हैं, उसके लिये यह भव-सागर रमणीय निकुंज जैसा है।

(बोधिवृक्ष की छाया में, भरतसिंह उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 2005, पृ.153 से संकलित)

साहित्यविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः, देवप्रयागः



अलकनन्दाभागीरथ्योः संयोगेन अतिपवित्रजाह्नव्याः गङ्गेति प्रथिताख्याप्राप्तिस्थानम्
देवप्रयागः

साहित्यविभागः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

(भारतशासनमानवसंसाधनविकासमन्त्रालयाधीनः राष्ट्रियमूल्याङ्कनप्रत्यायनपरिषद् द्वारा
'ए'-श्रेण्यां प्रत्यायितः समविश्वविद्यालयः)

श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः, देवप्रयागः

पौडीगढवालः, उत्तराखण्डः - 249301